हिन्दी समिति ग्रन्थमाला-संख्या—१२२

योगदर्शन

लेखक

डा० सम्पूर्णानन्द

हिन्दी समिति

सूचना विभाग, उत्तर प्रदेश

लखनऊ

प्रथम संस्करण
१९६५

मूल्य
छः रुपये

मुद्रक
वीरेन्द्रनाथ घोष
माया प्रेस प्रा० लिमिटेड, इलाहाबाद–३

प्रथम संस्करण
१९६५

मूल्य
छः रुपये

मुद्रक
वीरेन्द्रनाथ घोष
माया प्रेस प्रा० लिमिटेड, इलाहाबाद-२



मेरे गुरुदेव

ॐकारस्य प्रवक्तारम्,

ॐकारार्थस्वरूपिणम् ।

गुरुं वन्दे वचो यस्य,

योगशासनगर्भितम् ॥

रथनाभौ यथा ह्यारा:,

सर्वे वेदा: प्रतिष्ठिता: ।

यस्मिंस्तत् सर्वगं चित्तं,

शिवसंकल्पमस्तु मे ॥

प्रकाशकीय

आज के इस अश्रद्धा के युग में जब वैयक्तिक और सामूहिक जीवन के दार्शनिक आधार हिल उठे हैं, यह नितान्त आवश्यक है कि जीवन का कोई स्थायी लक्ष्य हो। क्योंकि अश्रद्धा अच्छी वस्तु नहीं है। अपनी भौतिक सफलताओं से उन्मत्त आज का मनुष्य धन, अधिकार, प्रभाव को जीवन का सर्वस्व मान रहा है। आज उसे ही विद्या कहा जा रहा है जो भौतिक स्तर को उठाने और मुक्ति के स्थान पर अधिक जटिल बन्धनों में फंसने में सहायता दे। यह ऐसी परिस्थिति है जिसमें मनुष्य के लिए योग की पहले जैसी ही आवश्यकता है। योग सभी उपासना पद्धतियों का मूल है। इससे विरत रह कर हम अपने धर्म और संस्कृति को संजोये नहीं रख सकेंगे।

प्रस्तुत पुस्तक में योग और उसकी उपादेयता पर समीचीन अनुशीलन प्रस्तुत करके आदरणीय डा० सम्पूर्णानन्द जी ने योग सम्बन्धी अध्ययन को नयी दिशा प्रदान की है। आशा है, इस कृति से विद्वद् वर्ग एवं सामान्य पाठक दोनों ही समान रूप से उपकृत होंगे।

सुरेन्द्र तिवारी
सचिव, हिन्दी समिति

विषय-सूची

भूमिका [११-३१]

अध्याय १

योग शब्द का व्यापक प्रयोग १

अध्याय २

योग और योगी के सम्बन्ध में विभिन्न विचार १७

अध्याय ३

योग के सम्बन्ध में कुछ योगाचार्यों के वचन ३१

अध्याय ४

दार्शनिक आधार भूमि ३७

अध्याय ५

पतंजलि का संकल्प सूत्र ६२

अध्याय ६

पुरुषार्थ चतुष्टय—योग के अधिकारी ६६

अध्याय ७

योग की परिभाषा ७४

अध्याय ८

गुरुतत्त्व ८५

अध्याय ९

चित्तप्रसाद—कर्मयोग ९७

अध्याय १०

वैराग्य १०६

अध्याय ११

योग के अंग—यम १११

अध्याय १२

योग के अंग—नियम—भक्तियोग ११८

अध्याय १३

आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार १३२

भूमिका

कई सालों से मेरा यह विचार रहा है कि पतजलि के सूत्रों पर कोई व्याख्यात्मक पुस्तक लिखूं। पातंजल योगदर्शन उन ग्रन्थों में है जिनके लिए मेरे चित्त में बहुत आदर है। योग के विषय में इतना विस्तारपूर्वक शास्त्रीय विवेचन किसी दूसरी पुस्तक में नहीं है। पिछले पचास वर्षों में मैंने इसके अनेक बार पारायण किये हैं और मूल ग्रन्थ के साथ साथ भाष्य तथा संस्कृत और अन्य भाषाओं में टीकाएं भी देखी हैं। यह पतंजलि कौन थे जिन्होंने योगसूत्रों की रचना की है? इस सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है। उनका काल भी विवादास्पद प्रश्न है। मुझको ऐसा लगता है कि वह गौतम बुद्ध के पश्चाद्वर्ती थे। परन्तु इन प्रश्नों का पुस्तक के मूल विषय से कोई विशेष सम्बन्ध नहीं है, इसलिए मैं अपने को इस शास्त्रार्थ में नहीं डालना चाहता। सूत्रों पर किन्हीं व्यास नाम के विद्वान् का भाष्य है। वाचस्पति मिश्र की टीका और भोजकृत वृत्ति भी उपलब्ध है। ग्रन्थ को जो व्यापक मान्यता प्राप्त है वह इसी बात से सिद्ध है कि उसके ऊपर संस्कृत और संस्कृतेतर कई भारतीय और अभारतीय भाषाओं में बहुत सी टीकाएं विद्यमान हैं।

जैसा कि मैंने अभी निवेदन किया है, मेरा भी विचार सूत्रों की व्याख्या करने का ही था, परन्तु ज्यों ज्यों लिखने का समय निकट आता गया मेरा विचार भी बदलता गया। जो पुस्तक व्याख्या करने का दावा करती है वह अपने को भाष्य, टीका या वृत्ति चाहे जो कहे, परन्तु उससे यही आशा की जाती है कि वह मूल ग्रन्थ के उद्देश्य को स्पष्ट करेगी; यदि कहीं मूल का कुछ अंश गुप्तार्थ रह गया है तो उस रहस्य का उद्घाटन किया जायगा। कभी कभी ऐसा हुआ है कि भाष्य के रूप में अपने किसी अभिनव मत का प्रतिपादन किया गया है। फिर भी भाष्यकार यही दिखलाता है कि मैं जो कुछ कह रहा हूं वही मूल ग्रन्थकार को भी अभीष्ट था। परन्तु मैं देखता हूं कि कुछ बातों में मुझे योगसूत्रों के साथ स्वारस्य नहीं है और मेरे लिए मूल की आलोचना करना, यहां तक कि मूल में कही गयी बातों का खंडन करना, आवश्यक हो गया है। सम्भव है मेरे विचार भ्रान्त हों और मैंने जो अर्थ निकाले हैं वे अयथार्थ हों, परन्तु जो बात अपने को ठीक लगती हो उसको न कहना अनाचार है। चूंकि ऐसा करना व्याख्याकार के अधिकार के बाहर की बात प्रतीत होती थी, अतः मैंने स्वतंत्र ग्रन्थ लिखने का ही निश्चय किया। इसमें स्थान स्थान पर मूल के बहुत से सूत्र उद्धृत हैं। मैंने उनके

पूर्वापर क्रम को अपनी बुद्धि के अनुसार बदल दिया है और कहीं कहीं सूत्रों को ऐसे अर्थ पहनाये हैं जो सामान्यतः किसी टीकाकार को अभिमत नहीं हैं।

यह बड़े दुःख की बात है कि योगदर्शन का पठन-पाठन जिस प्रकार संस्कृत विद्यालयों में हो रहा है वह अत्यन्त गर्हास्पद है। पढ़ने-पढ़ाने का उद्देश्य ज्ञान नहीं वरन् परीक्षा में उत्तीर्ण होना रह गया है। शिष्य किसी शंका का उत्थापन नहीं करता। अध्यापक पुस्तक के गिने हुए अक्षरों के बाहर नहीं जाता और परीक्षक ऐसे प्रश्न नहीं पूछता जिनसे यह पता चल सके कि परीक्षार्थी ने विषय पर स्वतंत्र रूप से मनन किया है या नहीं। केवल रटे हुए ज्ञान के आधार पर उपाधियां मिलती हैं। योग व्यावहारिक शास्त्र है, परन्तु बहुधा उसके पढ़ने-पढ़ाने वाले ऐसे लोग होते हैं जो यथाविधि प्रातः सायं संध्योपासन तक नहीं करते।

संध्योपासन का नाम मैंने इसलिए लिया है कि उसमें बहुत समय नहीं लगता, फिर भी उस थोड़े से समय में हलका सा अभ्यास प्राणायाम और गायत्री-जप के बहाने चित्त की एकाग्रता का हो जाता है। इस उपासना को इसीलिए आर्य लोगों के लिए अनिवार्य माना गया था। मनु का कहना है :

नानुतिष्ठति यः पूर्वां नोपास्ते यश्च पश्चिमाम्।
स शूद्रवद् बहिष्कार्यः सर्वस्माद् द्विजकर्मणः॥

जो व्यक्ति पूर्व और पश्चिम अर्थात् प्रातः और सायं संध्या का अनुष्ठान नहीं करता उसको द्विजों के सारे अधिकारों से बहिष्कृत कर देना चाहिए। अंधेर यह है कि जो लोग इस प्रकार मनु की राय में बहिष्कार्य हैं वही प्राणायाम तथा धारणा, ध्यान, समाधि जैसे विषयों को पढ़ने-पढ़ाने के इस समय अधिकारी हो रहे हैं। ऐसे अनाड़ियों और अनधिकारियों के हाथ में इस विद्या की क्या दुर्गति होगी इसका अनुमान सहज में ही हो सकता है। मैंने इसके एकाध उदाहरण दिये भी हैं। प्राण का चर्चा करते हुए दिखलाया है कि इस शब्द के सम्बन्ध में कितनी अनर्गल बातें कही जाती हैं। यह मान लिया गया है कि सर्वत्र प्राण का अर्थ वायु अर्थात् सांस की हवा है। जो लोग ऐसे अनुचित अर्थ लगाते हैं वे पुरुषसूक्त के इन शब्दों से भी परिचित हैं :

श्रोत्राद् वायुश्च प्राणश्च ।

उसके कान से वायु और प्राण (निकले)।

यह वाक्य वायु और प्राण के भेद का प्रतिपादन करता है। परन्तु इन शब्दों की ओर ध्यान नहीं दिया जाता और मान लिया जाता है कि योगी अपने श्वास को सुषुम्ना में ऊपर की ओर चढ़ाता है, यहां तक कि उसे खींचकर ब्रह्मांड तक लाया जाता

है। ब्रह्मांड से तात्पर्य मस्तिष्क के ऊपरी भाग से है। यदि सुषुम्ना कोई ऐसी वस्तु होती जो आंख से देखी न जा सकती तब तो यह सब बातें मान ली जातीं, परन्तु सुषुम्ना तो आंख से प्रत्यक्ष देखी जा सकती है। पीठ पर हाथ लगाने से रीढ़ की हड्डी अर्थात् मेरुदंड का रूप और स्थान जाना जा सकता है। इसी हड्डी में वह लम्बी नली है जिसमें सुषुम्ना नाम की ठोस नाड़ी है। उसमें कोई छिद्र नहीं, इसलिए उसके भीतर वायु संचार का प्रश्न नहीं उठता। परन्तु पाठशालाओं में प्रत्यक्ष ज्ञातव्य बातों के लिए कोई जगह नहीं। इसी प्रकार सूर्य में संयम करने से भुवन-ज्ञान की प्राप्ति बतलायी गयी है और भुवनों का स्वरूप भी वतलाया गया है। वह स्वरूप ज्योतिष के सर्वथा विरुद्ध है और यह स्मरण रखना चाहिए कि ज्योतिष भी प्रत्यक्षमूलक है। इतना कहने से काम नहीं चल सकता कि प्राचीन काल में आज जैसे सूक्ष्म यंत्र नहीं होते थे। यहां तो योग के अभ्यास से उत्पन्न ज्ञान का चर्चा है जो भ्रान्त हो ही नहीं सकता। ऐसी और भी अनेक बातें इस ग्रन्थ में आ गयी हैं जिनके सम्बन्ध में शंका उठनी चाहिए, पर नहीं उठती। जो असद् ज्ञान शिष्य अपने गुरु से पाता है उसी को एक दिन अपने शिष्यों तक पहुंचा देता है। इस प्रकार 'अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः' की परम्परा चली आ रही है। मेरी समझ में विद्यालयों में योगदर्शन का पढ़ाना वन्द कर देना चाहिए। सांख्यदर्शन पर्याप्त है।

अस्तु, मैंने आरम्भ में ही कहा है कि मैं 'योगसूत्रों' को बड़े आदर की दृष्टि से देखता रहा हूं। अब भी मेरे मन में उनके लिए आदर है। परन्तु कभी कभी यह प्रश्न हठात् उठता है कि इस ग्रन्थ का रचयिता स्वयं योगाभ्यासी भी था या केवल पंडित। अन्य दर्शन ग्रन्थों में और योगदर्शन में एक बड़ा अन्तर है। दूसरे दर्शन केवल तर्क के भरोसे चलते हैं। भले ही वेदान्तदर्शन 'तर्काप्रतिष्ठानात्' कह कर तर्क का खंडन करता देख पड़ता है, परन्तु वस्तुतः वह भी तर्क का ही सहारा लेता है। उसका आशय इतना ही है कि जिस तर्क से काम लिया जाय वह श्रुतिसम्मत होना चाहिए। परन्तु जब वेद को प्रमाण न मानने वाले बौद्ध आदि से शास्त्रार्थ करना पड़ा तो वेदान्त को भी तर्क की शरण जाना पड़ा। इसके सिवाय कोई और गति नहीं है। परन्तु योगदर्शन में शास्त्रार्थ का स्थान बहुत कम है। इसमें तर्क के लिए बहुत कम जगह है। सिवाय उन स्थानों के जहां इसने ईश्वर का चर्चा किया है, इसके आधारभूत दार्शनिक सिद्धान्त वही हैं जिनका प्रतिपादन सांख्यदर्शन के आचार्यों ने किया है। इसलिए शास्त्रार्थ करके विरोधी को परास्त करने का भार तो योगदर्शन प्रायः सारा का सारा सांख्य के कंधे पर डाल सकता था, उसको तो योग का व्यावहारिक उपदेश देना था। जो ग्रन्थ ज्योतिष या चिकित्सा या किसी भी दूसरी व्यावहारिक विद्या की शिक्षा देते हैं उनमें भी शिष्य को समझाने के लिए तथा पूर्वापर का सामंजस्य दिखलाने के लिए बीच बीच में सिद्धान्त

की बातें कहनी पड़ती हैं। सिद्धान्त के प्रकाश में ही व्यवहार का उपदेश देना होता है, परन्तु यदि कोरे सिद्धान्त की ही बात की जाय तो व्यावहारिक विद्या नहीं आ सकती। उसका प्रत्यक्ष उदाहरण आज आयुर्वेद में देख पड़ता है। आज के वैद्य सुश्रुत को पढ़ते हैं। पूरा ग्रन्थ रट डालते हैं। आवश्यकता हो तो दूसरों को पढ़ा सकते हैं। परन्तु सुश्रुत में बतलायी हुई बड़ी बड़ी शल्यक्रियाओं की तो बात ही क्या है, एक छोटी सी फुंसी पर जो नश्तर नहीं चला सकते, उनका सुश्रुत पढ़ना निरर्थक है।

योगदर्शन को देखने से ऐसा लगता है कि जिस किसी ने उसका प्रणयन किया है उसने केवल पांडित्य प्रदर्शन की दृष्टि से पुस्तक को लिखा है। किसी एक स्थल पर भी इस बात की झलक नहीं आने दी कि उसका स्वयं भी इस सम्बन्ध में कुछ अनुभव है। किसी स्थल पर भी पुस्तक पढ़ने वालों को अपने अनुभव से लाभ उठाने का अवसर नहीं दिया। उदाहरण के लिए, धारणा का विषय लीजिए। धारणा के आधार अनेक हो सकते हैं। यह भी ठीक है कि एक बार चित्त के एकाग्र हो जाने पर सभी मार्ग एक ही जगह पहुंचा देंगे। फिर भी यदि यह बतलाया गया होता तो अच्छा होता कि ग्रन्थकर्ता की सम्मति में कौन कौन सी धारणाएं श्रेयस्कर हैं और उनमें भी वह किसको औरों पर प्राथमिकता देते हैं। उपनिषदों में कई विद्याओं का चर्चा है, यह सब चित्त को एकाग्र करने के लिए साधन हैं। इस बात का कोई कारण नहीं देख पड़ता कि सूत्रकार ने इस विषय में इतने संकोच से क्यों काम लिया है।

एक दूसरा प्रसंग लीजिए। योग के अन्तरायों अर्थात् विघ्नों के नाम का उल्लेख किया गया है। परन्तु उन विघ्नों के सम्बन्ध में कुछ और कहना चाहिए था। दिये हुए नामों के अभिवार्य से काम नहीं चलता। सूत्रकार का अनुसरण करते हुए भाष्यकार, टीकाकार और वृत्तिकार ने भी कुछ नहीं कहा। बेचारा साधक निस्सहाय रह जाता है। जिसने थोड़ा बहुत योगाभ्यास किया होगा उसको ऐसी कठिन परिस्थितियों का सामना करना पड़ा होगा। जो शारीरिक विघ्न हैं उनकी बात तो समझ में आती है। व्याधि का अर्थ समझने में कोई विशेष कठिनाई नहीं होती। परन्तु 'स्त्यान' क्या है? यह नाम मात्र से स्पष्ट नहीं होता। कबीर आदि सन्तों की वाणियों में इसके स्वरूप की झलक मिलती है, परन्तु उन लोगों ने गद्य में पुस्तक के रूप में कुछ नहीं लिखा है। इसलिए मैंने कुछ ईसाई साधकों के वाक्यों के अवतरण दिये हैं, ताकि हमारे साधकों की समझ में स्त्यान का स्वरूप आ जाय और वे उस निराशा के ऊपर उठ सकें जो कभी कभी स्त्यान के परिणामस्वरूप उत्पन्न होती है।

मेरी समझ में जो पुस्तक किसी व्यावहारिक विषय की शिक्षा देती है उसकी लेखन शैली उन पुस्तकों से भिन्न होनी चाहिए जो सिद्धान्तों और तथ्यों का निरूपण एवं

प्रतिपादन मात्र करती हैं। सिद्धान्त-प्रतिपादक ग्रन्थ में जो कुछ कहा जाता है उसका रूप होता है "यह बात ऐसी ही है, अन्यथा नहीं हो सकती" और उसकी शैली इसीलिए प्रवचनात्मक होती है। परन्तु व्यावहारिक विषय की शिक्षा देनेवाले ग्रन्थ का रूप होता है "इस काम को ऐसे करना होता है अन्यथा सफलता नहीं मिलेगी" और उसकी शैली आदेशात्मक होती है। व्यावहारिक विषयों को सिखाने वाला अपने पाठक से इस प्रकार बात करता है जिस प्रकार कि गुरु शिष्य को पढ़ाता है। गुरु और शिष्य को स्नेह की सूक्ष्म डोर सदा मिलाये रखती है, जैसा कबीर ने कहा है :

जो गुरु होहिं बनारसां, शिष्य समुन्दर तीर।
आठ पहर लागी रहै, जो गुन होहिं शरीर ॥

गुरु और शिष्य दोनों में ही गुण होना चाहिए, तभी यह आठ पहर वाली बात चरितार्थ हो सकती है।

योगदर्शन में कहीं भी इस प्रकार का निकट सम्बन्ध नहीं देख पड़ता। सच तो यह है कि योग के अभ्यासों को गुरु की भी कोई आवश्यकता पड़ती है, यह बात भी स्पष्ट रूप से नहीं कही गयी है। न इस बात का कोई संकेत है कि गुरु किसी प्रकार शिष्य की सहायता करता है और न यह बतलाया गया है कि शिष्य को गुरु के साथ कैसे व्यवहार करना चाहिए। श्रुति कहती है :

यस्य देवे पराभक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः, प्रकाशन्ते महात्मनः ॥

इस श्लोक में कहा गया है कि गुरु के प्रति वैसी ही भक्ति होनी चाहिए जैसे देव के प्रति। परन्तु योगदर्शन इस सम्बन्ध में बिल्कुल चुप है और पतंजलि के मुख्य टीकाकारों ने भी इस सम्बन्ध में कुछ कहने की आवश्यकता नहीं समझी।

यह प्राचीन परिपाटी है कि आरम्भ में ही अधिकारी का संकीर्तन हो जाय, अर्थात् यह बतला दिया जाय कि पुस्तक किस प्रकार के मनुष्य के लिए लिखी गयी है। दर्शन ग्रन्थों में यदि ऐसे स्पष्ट शब्दों में नहीं बतलाया रहता तो भाष्यकार इस कमी की पूर्ति कर देता है। वेदान्तदर्शन के सम्बन्ध में ऐसा ही हुआ है। प्रथम सूत्र "अथातो ब्रह्म जिज्ञासा" के प्रथम दोनों शब्दों 'अथ' और 'अतः' का अर्थ बताते हुए शंकराचार्य ने अधिकारी के सम्बन्ध में सारी आवश्यक बातें कह दी हैं। योगदर्शन में न तो पतंजलि ने कुछ कहा, न उनके भाष्यकार और वृत्तिकार ने। यह जानना बहुत आवश्यक था कि किस व्यक्ति को योग का उपदेश देना चाहिए, किसको प्रस्तुत ग्रन्थ पढ़ाना चाहिए; इसे न बतलाने का ही यह परिणाम हुआ है कि संस्कृत का थोड़ा सा व्याकरण जानने वाला

विद्यार्थी भी योग की पोथी हाथ में ले लेता है। पतंजलि ने केवल एक जगह अधिकारी का एक लक्षण बहुत संक्षेप में बताया है। उन्होंने कहा है :

तीव्रसंवेगानाम् आसन्नः ।

तीव्र संवेग वालों को समाधि शीघ्र प्राप्त होती है। परन्तु यहां तीव्र संवेग का लक्षण नहीं बतलाया गया।

एक और कमी खटकती है। इस बात की बहुत बड़ी आवश्यकता है कि नये साधक को प्रोत्साहन दिया जाय। हर विषय का गुरु अपने नये शिष्य को इस प्रकार से प्ररोचन दिया करता है, परन्तु यहां सूत्रकार ने ऐसा करना आवश्यक नहीं समझा। केवल उनका एक सूत्र है जो स्यात् इस विषय पर कुछ प्रकाश डाल सकता है :

विषयवती वा प्रवृत्तिरुत्पन्ना मनसः स्थितिनिबन्धनी ।

परन्तु जब तक यह स्पष्ट न हो कि विषयवती प्रवृत्ति किस किस प्रकार की होती है तब तक इस सूत्र से भी विशेष काम नहीं चलता। केवल इतना कहना भी पर्याप्त नहीं है कि इस प्रवृत्ति का सम्बन्ध ज्ञानेन्द्रियों से है। इससे कहीं अधिक सहायता श्वेताश्वतरोपनिषद् के उस मंत्र से मिलती है जिसमें योग में अभिव्यक्ति कराने वाले कुछ दृग्विषयों का चर्चा किया गया है।

इन बातों का चर्चा करने में मेरा अभिप्राय योगदर्शन की निन्दा करना नहीं है। परन्तु एक बात नम्रता से निवेदन करता हूं। यों तो प्रत्येक ग्रन्थकार को इस बात का अधिकार है कि अपनी पुस्तक में चाहे जिन विषयों का समावेश करे, परन्तु जो ग्रन्थ व्यावहारिक विषय सिखलाने का दावा करता हो, जिसका रचयिता महर्षि माना जाता हो और जिसको इतनी प्रामाणिकता दी जाती हो, उससे यह आशा की जाती है कि वह उन सब बातों पर प्रकाश डालेगा जिनकी उस विद्या के जिज्ञासु को आवश्यकता पड़ सकती है। केवल थोड़े से पारिभाषिक शब्दों को दे देना पर्याप्त नहीं हो सकता। कई ऐसे स्थल हैं जिन पर मेरी समझ में पतंजलि को कुछ अधिक कहना चाहिए था, परन्तु उन्होंने प्रायः कुछ भी नहीं कहा। इसी से ऐसा सन्देह मन में उठ जाता है कि स्यात् इस ग्रन्थ को परम्परागत शिक्षाप्राप्त किसी पंडित ने लिखा है, जो स्वयं अभ्यासी नहीं था। न उसको अभ्यास काल की अनुभूतियों की प्रत्यक्ष जानकारी थी, न उसको साधकों की कठिनाइयों का पता था कि अभ्यास के मार्ग पर पहले-पहल चलने वालों को किन परिस्थितियों का सामना करना पड़ता है। न उसने कभी उनका सामना किया था, न उनके ऊपर संवेदना दिखलाना उसके लिए सम्भव था।

जिन बातों का इसमें समावेश किया गया है वे भी इसी संशय को पुष्ट करती

हैं। चौथे पाद में बहुत सी विभूतियों का चर्चा है। इनको देने की आवश्यकता क्या थी? एक जगह लिखा जा चुका है :

ते समाधावुपसर्गा व्युत्थाने सिद्धयः ।

ये शक्तियां जिनको समाधि से निवृत्त होने की अवस्था में सिद्धि कहते हैं, वस्तुतः समाधि में वाधक हैं। जब ऐसी वात है तो समाधि में वाधा डालने वाली बातों की इतनी लम्बी सूची क्यों दी गयी है? यह सूची इस कारण से और भी अनावश्यक प्रतीत होती है कि आगे चलकर यह लिख दिया गया है कि जब समाधि के द्वारा प्रज्ञा प्राप्त होती है तो सभी शक्तियां, सभी सिद्धियां, आपसे आप प्राप्त हो जाती हैं। विभूतियों की सूची उसी प्रकार दे दी गयी है जिस प्रकार कि आजकल इस विषय की पाठशालाओं में पढ़ाई होती है। एक सूत्र है :

बलेषु हस्तिबलादीनि ।

वलों पर संयम करने से हाथी का वल या और भी जो अभीप्सित बल हो वह प्राप्त हो जाता है। न तो कक्षा में पढ़ाने वाले पडित जी यह जानते हैं कि बल पर संयम कैसे करना होता है न स्वयं सूत्रकार ने वतलाया है, न इस बात को किसी प्रामाणिक व्याख्याकार ने वतलाने का कष्ट किया। इसी प्रकार कहा गया है कि :

कण्ठकूपे क्षुत्पिपासानिवृत्तिः ।

कंठ-कूप में संयम करने से भूख-प्यास की निवृत्ति हो जाती है। संयम कैसे किया जाय? यदि यह गोप्य रखने की वात है तो इसका चर्चा ही नहीं करना था। जब चर्चा किया गया तो कुछ अधिक खोलकर लिखना था।

जहां तक दार्शनिक सिद्धान्त की बात है, ईश्वर की कल्पना को छोड़कर और बातों में योग दर्शन सांख्य दर्शन से अभिन्न है। दोनों ही ऐसा मानते है कि विश्व में 'पुरुष' और 'प्रधान' नाम के दो मूल तत्त्व हैं। पुरुष असंख्य हैं, प्रधान एक है। दोनों ही आदि और अन्तहीन हैं परन्तु पुरुष चेतन और अपरिवर्तनशील है और प्रधान जड़ और परिवर्तनशील है। प्रधान सत्त्व, रज और तम नामक तीन गुणों का समुच्चय, उनकी साम्यावस्था है; प्रधान के विकारों और विकारों के विकारों से ही यह नानात्वपूर्ण जगत् बना है। जगत् सत्य है। पुरुष के सान्निध्य के कारण प्रधान में परिवर्तन होने लगते हैं। अविद्यावश पुरुष उन परिवर्तनों को आत्मसात् कर लेता है। यही उसका बंधन है और इसी बंधन के कारण वह पाप और पुण्य करता है, सुख-दुःख का अनुभव करता है

और जन्म से जन्मान्तर में आता जाता रहता है। सांख्य और योग दोनों ही यह मानते हैं कि :

ज्ञानान्मुक्ति : —ज्ञान से मुक्ति होती है।

इस अविद्या से छुटकारा देने वाले ज्ञान को विवेकख्याति कहते हैं। जब पुरुष को वैराग्य और अभ्यास के प्रसाद से इस बात का पूर्णतया निश्चय हो जाता है कि उसका प्रधान और उसके विकारों से कोई सम्बन्ध नहीं है, तो फिर अविद्या उससे दूर हो जाती है। उसकी इस अवस्था को कैवल्य कहते हैं।

सांख्य दर्शन की कई मान्यताएं बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। वे कई ऐसी ग्रन्थियों को खोलती हैं जिन्होंने मनोविज्ञान के योगी और अयोगी सभी विद्वानों को परास्त कर रखा है। यह हम सब जानते हैं कि चित्त और शरीर में एक विशेष प्रकार का सम्बन्ध है। चित्त शरीर को प्रभावित करता है और शरीर चित्त को। परन्तु देखने में यह दोनों विजातीय हैं। शरीर तो जड़ है ही, चित्त चेतन प्रतीत होता है। जो लोग इसको सीधे चेतन नहीं कहते वे यह मानते हैं कि आत्मा चेतन है और उसके प्रकाश, किसी किसी के शब्दों में छाया से आभास्वर होकर चित्त चेतनवत् प्रतीत होता है। अब ये दोनों विजातीय पदार्थ कैसे एक दूसरे को प्रभावित करते हैं? इसका उत्तर अब तक कुछ मिला है तो सांख्य के आचार्यों के ही अध्यवसाय से। उनका कहना है कि चित्त और शरीर विजातीय हैं ही नहीं। प्रधान का पहला विकार बुद्धि है। बुद्धि का विकार अहंकार और अहंकार का विकार मन है। इन्हीं तीनों को चित्त कहते हैं। अहंकार के विकारों में शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध—पांचों तन्मात्रा, पांचों ज्ञानेन्द्रियां और पांचों कर्मेन्द्रियां हैं। पंच महाभूत तन्मात्राओं के ही विकृत रूप हैं और इन्हीं पदार्थों अर्थात् ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय तथा महाभूतों के संघात का नाम शरीर है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि जिस प्रकार चित्त प्रधान का विकार है, उसी प्रकार शरीर भी प्रधान का विकार है। प्रधान सत्त्व, रज और तम की अवस्था विशेष है। हम इन गुणों के नाम के प्रथम अक्षरों को लेकर संक्षेप में यह कह सकते हैं कि चित्त और शरीर दोनों ही स+र+त हैं। किसी पदार्थ में स अधिक है, किसी में र, किसी में त, परन्तु चित्त और शरीर का एक दूसरे पर क्रिया और प्रतिक्रिया स, र, त की स, र, त पर क्रिया और प्रतिक्रिया होती है। दो विजातीय नहीं वरन् दो सजातीय एक दूसरे के सान्निध्य में आते हैं और एक दूसरे को प्रभावित करते हैं। इस सिद्धान्त को मान लेने से मनोविज्ञान की एक बहुत बड़ी पहेली सुलझ जाती है।

सांख्य दर्शन का बहुपुरुषवाद उसको वेदान्त का प्रमुख प्रतियोगी बना देता है। ऐसे कई दार्शनिक मत हैं जो जगत् को सत्य मानते हैं, परन्तु किसी न किसी दृष्टि से

अद्वैतवादी हैं। श्री वल्लभाचार्य का शुद्ध अद्वैतवाद इसका उदाहरण है। आगम के अन्तर्गत आनेवाले वाद भी प्रायः सभी इस कोटि में आते हैं। वे भी ऐसा मानते हैं कि महेश्वर पदार्थ ही अपने को नाना रूप से प्रकट करता है। नानात्व है परन्तु उसका होना माहेश्वरी लीला है। इस नानात्व का परम शिव जब चाहे तब अपनी इच्छा से संकोच कर सकता है। परन्तु सांख्य दर्शन की दृष्टि में यह नानात्व नित्य और सत्य है। जिस पुरुष को कैवल्य प्राप्त हो गया वह अविद्या से भले ही अलग हो जाय और उसके लिए जगत् का अस्तित्व न हो परन्तु दूसरे पुरुषों के लिए तो वह ज्यों का त्यों बना रहेगा। वेदान्त और सांख्य का गहरा मतभेद और गहरा शास्त्रार्थ शताब्दियों से चला आ रहा है। वेदान्त दर्शन का लगभग तीन चौथाई अंश सांख्य के खंडन करने में लगा है। इसके लिए 'प्रधान मल्ल निवर्हण' न्याय की उपमा दी जाती है। यदि अपने सामने कई बड़े बड़े पहलवान खड़े हों तो उनमें जो सबसे बड़ा हो उसको हरा देने से यह मान लेना चाहिए कि और सब हार गये। इसी तरह और जितने भी दार्शनिक मत हैं उनमें जो सबसे प्रबल सांख्य है उसको परास्त कर देने से और सब मतों का आपसे आप ही खंडन हो जाता है। मैं स्वयं ऐसा समझता हूं कि इस जगत् के स्वरूप और इसकी समस्याओं को समझने में अद्वैतवाद ही समर्थ है। सांख्य सिद्धान्त को मान लेने में कई अड़चनें पड़ती हैं। परन्तु यहां उस सारे शास्त्रार्थ को उठाने की आवश्यकता नहीं है। जिन लोगों को इस विषय में रस हो वह वेदान्त दर्शन और उस पर किये हुए शांकर भाष्य को देखें।

परन्तु एक दार्शनिक विचार की ओर ध्यान दिलाना तो परम आवश्यक है। कैवल्य के सम्बन्ध में सांख्य योग के मत को स्वीकार करने में कई कठिनाइयां देख पड़ती हैं। इस पुस्तक में यथास्थान उनका चर्चा किया भी गया है। यह मान लिया जा सकता है कि जिस पुरुष को विवेकख्याति हुई हो, वह अपने को प्रधान और उसकी विकृतियों की ओर से खींच लेगा। उन पदार्थों की ओर से उसे विरक्ति हो जायगी। जब तक शरीर है तब तक वह जगत् में उसी प्रकार रहते हुए निर्लिप्त रहेगा जैसे कमल का पत्ता जल में रहते हुए भी भींगता नहीं है। परन्तु शरीर छूटने के बाद यह कैसे माना जाय कि फिर वह प्रधान से प्रभावित न होगा? प्रधान भी है, वह पुरुष भी है, ठीक उसी प्रकार जैसे कि वह दोनों पहले थे। दोनों का वैसा ही सान्निध्य हैं। एक बार इस सान्निध्य के कारण प्रधान में विकार उत्पन्न हुए और सारे जगत् प्रपंच की सृष्टि हो गयी। पुरुष बंधकर जीव बन गया। अब फिर ऐसा क्यों नहीं हो सकता? यह नहीं कह सकते कि एक बार के कटु अनुभव के कारण पुरुष बचा रहेगा। अतीत की अनुभूति अनिष्ट से तभी रक्षा कर सकती है जब उसकी स्मृति बनी रहे। परन्तु स्मृति का आश्रय बुद्धि है। बुद्धि त्रिगुणात्मक प्रधान की विकृति

है। कैवल्य प्राप्त पुरुष प्रधान को छोड़ चुका है, तीनों गुणों का अतिक्रमण कर चुका है। अब वह अपने शुद्ध स्वरूप में स्थित है। अतः उसके पास न तो बंधन काल की कोई स्मृति रह गयी है न स्मृति का उपकरण रह गया है। फिर वह पहले कभी बद्ध हुआ था इसलिए बंधन के कारण से बच जाय यह बात कैसे होगी? जैसे पहले बद्ध हुआ था वैसे अब भी हो सकता है। यह दूसरी बात है कि अब उसको पहले के बंधन की भी स्मृति न रही होगी। परन्तु यह भी मानना चाहिए कि उसको जो छुटकारा मिला था वह चिरस्थायी नहीं था। सांख्य योग की कैवल्य विषयक मान्यता में मुझको यह बहुत बड़ी आपत्ति दीख पड़ती है।

योग दर्शन सांख्य दर्शन की और सब बातें तो मानता है परन्तु एक उसकी विशेष मान्यता है, वह ईश्वर की सत्ता को स्पष्ट शब्दों में स्वीकार करता है। ऐसे बहुत से विद्वान् हैं जिनको ऐसा विश्वास है कि कपिल ईश्वर की सत्ता को अस्वीकार नहीं करते। सांख्य दर्शन में उनका यह सूत्र है :

ईश्वरासिद्धेः।
ईश्वर के असिद्ध होने से।

इसका शाब्दिक तात्पर्य तो यह है कि वह यह नहीं कहते कि ईश्वर का अस्तित्व नहीं है। इतना ही कहते हैं कि ईश्वर के अस्तित्व का कोई प्रमाण नहीं है। एक अन्य जगह वह कहते हैं :

ईदृशेश्वरसिद्धिः सिद्धा।

पहले इस दूसरे प्रसंग को ही लें। इसके पहले के सूत्र में उन्होंने योगी का चर्चा करते हुए पूर्ण योगी के विषय में कहा है कि :

स हि सर्ववित् सर्वकर्ता।

अर्थात् वह सर्वज्ञ और सर्वकर्ता होता है। वेदान्त दर्शन में यह भाव आया है कि कोई कितना ही बड़ा योगी हो लेकिन उसकी शक्ति जगत्-व्यापार तक नहीं जाती, अर्थात् जगत् की उत्पत्ति, पालन और लय उसके वश में नहीं होता। परन्तु सांख्य दर्शन के अनुसार पूर्ण योगी के लिए कुछ भी अकार्य नहीं है। इसके बाद वे कहते हैं :

ईदृशेश्वरसिद्धिः सिद्धा।

कि इस प्रकार के ईश्वर की सिद्धि हमको मान्य है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि ईश्वर कोई एक व्यक्ति नहीं है वरन् पूर्ण योगियों के वर्ग का नाम ईश्वर है। प्रत्येक

पूर्ण योगी ईश्वर कहलाने का अधिकारी है। सांख्य दर्शन के विद्वान् ऐसा प्रमाण मानते हैं। इस पर कुछ लोग यह शंका उठाते हैं कि जब आप ईश्वर को नहीं मानते तो वेद को कैसे मान सकते हैं। इस पर उनका यह कहना है कि जैसे राजा लोगों के दरवार में चारण, भाट काव्य-पाठ करते हैं, इसी प्रकार पूर्ण योगीरूप ईश्वर के दरवार में ऋषिगण ने मंत्रों का पाठ किया। एक प्रश्न यह उठता है कि जव इस प्रकार अनेक ईश्वर हो सकते हैं, क्योंकि वहुत से पूर्ण योगी हो गये हैं, हैं और होंगे, तब फिर विश्व में वड़ी अनिश्चितता छा जायगी। एक ईश्वर उसको एक प्रकार चलाना चाहेगा, दूसरे ईश्वर की कुछ और ही मति होगी। इसका उत्तर यह दिया जा सकता है कि जो लोग इतने ऊंचे पहुंच गये हैं उनमें मतभेद की सम्भावना ही नहीं हो सकती। इस लोकोक्ति के अनुसार कि सौ सयाने एक मत, सभी योगीश्वरों की बुद्धि एक ही दिशा में जायगी।

सांख्य दर्शन की ये मान्यताएं किसी की बुद्धि को ग्राह्य लगती हों या न लगती हों परन्तु आजकल संस्कृत के विद्वानों में एक प्रकार का सुनियोजित अभियान सा कपिल को ईश्वरवादी सिद्ध करने के लिए चल रहा है। सांख्य दर्शन ईश्वरवादी है, ऐसा मानने वाले लोग पहले भी थे। पर आजकल तो प्रायः जो पुस्तक सांख्य के सम्बन्ध में निकलती है वह उनको ईश्वरवादी सिद्ध करने का प्रयास निश्चय ही करती है। इस वात की ओर भी कुछ ध्यान नहीं दिया जाता कि सांख्य सिद्धान्तों के सबसे बड़े प्रवक्ता ईश्वरकृष्ण ने भी अपनी कारिकाओं में अनीश्वरवाद की ही पुष्टि की है। ईश्वरवाद के पक्ष में जो अभियान चल रहा है उसका एक कारण मेरी समझ में यह है कि अब नास्तिक शव्द का अर्थ पहले से भिन्न हो गया है। प्राचीन मत यह था :

नास्ति वेदोदितो लोक इति येषां मतिः स्थिरा।
नास्तिकास्ते तथास्तीति मतिर्येषां त आस्तिकाः॥

थोड़े में इसका अर्थ यह है कि जो लोग वेद को प्रमाण-बुद्धि से देखते हैं वे आस्तिक हैं। जो ऐसा नहीं मानते वे नास्तिक हैं। परन्तु देश में मुस्लिम शासन स्थापित होने के वाद से यह अर्थ वदल गया। आजकल जो ईश्वर के अस्तित्व को मानता है वह आस्तिक और जो नहीं मानता वह नास्तिक कहलाता है। वेद को मानने न मानने का कोई महत्त्व नहीं है। नास्तिक निन्दात्मक शव्द हो गया है। इसलिए सब का यह प्रयत्न होता है कि हमको, हमारे सम्प्रदाय को, हमारी विचारधारा को, कोई नास्तिक न कह दे। इसी कारण सांख्य को आस्तिक सिद्ध करने का प्रयास होने लगा है।

अस्तु, सांख्य दर्शन आस्तिक हो या नास्तिक, योग दर्शन तो पुरानी और नयी दोनों कसौटियों पर खरा उतरता है। यह वेद को प्रमाण मानता है और ईश्वर की सत्ता स्वीकार करता है। परन्तु मेरा ऐसा विश्वास है कि उसकी विचार शृंखला में ईश्वर

की सत्ता को स्वीकार करना सबसे दुर्बल कड़ी है। पतंजलि का ईश्वर न्याय दर्शन के प्रवर्तक गौतम का ईश्वर नहीं है। गौतम के ईश्वर में कई ऐसे गुण हैं जो एक चेतन स्वत्व में होने चाहिए। ईश्वर से वेदान्त भी परिचित है। परन्तु, जैसा चौथे अध्याय में दिखाया गया है, वेदान्त का ईश्वर वस्तुतः विश्वात्मा, परमात्मा है। तत्त्वतः जीवात्मा परमात्मा से अभिन्न है और समूचा विश्व उस परमात्मा का ही विलास है। इसलिए उसका इस जगत् से मौलिक तादात्म्य है। यह परमात्मा वह पदार्थ है जिसके सम्बन्ध में वेदान्त सूत्रों में कहा गया है "जन्माद्यस्य यतः"। जिससे इस जगत् का जन्म आदि हुआ है। आदि शब्द में पालन और लय अन्तर्भूत हैं। भले ही अद्वैत वेदान्त जगत् को मिथ्या मानता है परन्तु जगत् की प्रतीति की ओर से तो आंख नहीं बन्द कर सकता। प्रतीयमान जगत् की उत्पत्ति आदि तो होती ही है। इस प्रतीति का जो आधार है, जिसमें यह सारा जगत् अध्यस्त है, उसमें और योग दर्शन के ईश्वर में बड़ा अन्तर है।

पतंजलि के अनुसार ईश्वर एक विशेष पुरुष है, ऐसा पुरुष जो क्लेश, कर्म, फल और वासनाओं से परे है। उसका जगत् से कोई सम्बन्ध नहीं है। यह स्पष्ट नहीं बतलाया गया कि प्रधान से उसका कोई सम्बन्ध होता है या नहीं। उसका भी प्रधान से सान्निध्य तो होता ही रहता होगा। यदि उसके सान्निध्य के कारण प्रधान अपने स्वभाव के अनुसार क्षुब्ध होता है तो बुद्धि आदि का उदय भी होगा, और फिर उस पर सुख दुःख आदि का प्रभाव पड़ता हो या न पड़ता हो, परन्तु वह कम से कम अन्तःकरण युक्त तो हो ही जायगा और इस प्रकार जगत् का साक्षी होगा। यदि अन्तःकरण और सम्भवतः ज्ञानेन्द्रिय आदि से युक्त होकर भी ईश्वर जगत् से निर्लिप्त रहता है तो दूसरे पुरुष क्यों नहीं रह सकते? इसका अर्थ तो यह हुआ कि उन पुरुषों में ईश्वर की अपेक्षा कुछ कमी है। फिर ऐसा क्यों न माना जाय कि उनके अविद्या के जाल में फंस जाने का दायित्व केवल त्रिगुणात्मक प्रधान पर नहीं है। कुछ कमी उनमें भी है जिसके कारण वे प्रधान की विक्रियाओं के साथ तादात्म्य स्थापित कर लेते हैं। यह बात तो सांख्य योग के सिद्धान्त के विरुद्ध जाती है। दूसरी बात यह हो सकती है कि सान्निध्य रहते हुए भी प्रधान इस पुरुष विशेष के सामने विक्रियाशील न हो, या यह पुरुष विशेष उसकी विक्रियाओं से रंजित न हो। यदि ऐसा होता है तो जिन बातों को लेकर ईश्वर की उपासना की जाती है उनमें से एक भी सिद्ध न होगी। जब ईश्वर बुद्धि से युक्त होगा ही नहीं तो न उसको सुख दुःख की अनुभूति होगी, न उसमें दया या करुणा का उदय होगा। कोई व्यक्ति कितना भी आर्त होकर पुकारे, ईश्वर उसके क्रन्दन से प्रभावित नहीं हो सकता। उसके पास किसी की सहायता करने का कोई साधन नहीं, ऐसे ईश्वर की कल्पना करने से क्या लाभ होगा?

मैं यह नहीं कह रहा हूं कि ईश्वर की सत्ता नहीं है, परन्तु योगदर्शन ने ईश्वर का जो चित्र खींचा है वह यथार्थ नहीं प्रतीत होता। सांख्य दर्शन की आधारशिला पर जो भवन खड़ा किया गया है वह न तो दृढ़ है और न शोभन। यदि वह वहां से हटा दिया जाय, ईश्वर सम्बन्धी जो चार पांच सूत्र योग दर्शन में हैं उनको निकाल दिया जाय, तब भी कोई हानि नहीं होगी। योगाभ्यास के सम्बन्ध में जो उपदेश दिया गया है उसमें कोई अन्तर नहीं पड़ेगा। मुझको ऐसा लगता है कि ईश्वर की कल्पना का समावेश इसीलिए हुआ कि पुस्तक बुद्धदेव के काल के पीछे लिखी गयी। बौद्ध न तो वेद को मानते हैं न ईश्वर को। शब्द प्रमाण का चर्चा करके वेद की प्रामाणिकता स्थापित की गयी। फिर ईश्वर का चर्चा किया गया। परन्तु सांख्य दर्शन का ढांचा पहले से बना हुआ था। उसके साथ ईश्वर का चित्र ठीक ठीक मेल नहीं खा सका।

एक और दार्शनिक प्रश्न है जो विचारणीय है। पहले ही सूत्र में पतंजलि ने कहा है:

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः ।

चित्त की वृत्ति के निरोध का नाम योग है।

प्रश्न यह उठता है कि इस पुस्तक के लिखने का उद्देश्य क्या है? कहा जाता है कि "प्रयोजनमनुद्दिश्य न मूढ़ोऽपि प्रवर्तते" पागल भी जो काम करता है उसके लिए उसके मन में कोई न कोई प्रयोजन होता है, चाहे वह प्रयोजन दूसरों को ठीक जंचे या न जंचे। कहीं कोई संकेत नहीं दिया गया है, फिर भी ऐसा मानना चाहिए कि प्रयोजन वही होगा जो अन्तिम सूत्र में इंगित किया गया है, अर्थात् पुरुष का अपने शुद्ध रूप में स्थित होना, दूसरे शब्दों में उसकी कैवल्य प्राप्ति। यदि हमारा अनुमान ठीक है—और इस बात पर सन्देह करने का कोई कारण नहीं है—तो फिर पुस्तक के आरम्भ में ही चित्तवृत्ति निरोध का नाम क्यों लिया गया। ग्रन्थकार का और उसके पाठक का उद्देश्य है कैवल्य प्राप्ति, चित्तवृत्ति निरोध नहीं। वृत्ति निरोध कैवल्य प्राप्ति का साधन हो सकता है, स्वयं साध्य नहीं हो सकता। उचित तो यह होता है कि पहले साध्य का उल्लेख करके फिर यह दिखलाया जाता कि क्या चित्तवृत्ति निरोध उसकी प्राप्ति का मुख्य साधन है?

आनुषंगिक रूप से यह प्रश्न भी उठता है कि चित्त की वृत्ति का पूर्ण निरोध जीवन के रहते ही हो सकता है या नहीं। यदि पूर्ण निरोध किसी क्षण में हो गया तो क्या फिर उत्तर क्षण में जीवन की क्रिया किसी प्रकार चल सकेगी? चित्तवृत्ति निरोध का अर्थ होना चाहिए सब संस्कारों का अशेष रूप से नष्ट हो जाना, फिर और नये संस्कारों का उदय न होना। ऐसी अवस्था में निरोध के बाद जीवन का आधार क्या होगा?

मैं फिर एक वार कहना चाहता हूं कि योग दर्शन के लिए मेरे चित्त में आदर है, परन्तु उसमें कही हुई वातों से कई जगह मतभेद है। यदि ऐसी दशा में मैं उसके ऊपर ब्यौरेवार टीका लिखने वैठता तो यह मूल ग्रन्थ के साथ भी अन्याय होता और स्वयं अपने साथ भी।

योग आध्यात्मिक कामधेनु है। उससे जो कुछ मांगा जाय वह मिलता है इसमें कोई सन्देह नहीं है। ऐसा भी होता है कि मांगने वाला ठीक शब्दों में अपनी इच्छा को व्यक्त नहीं कर सकता, परन्तु उसको उसका अभीष्ट मिल ही जाता है। भर्तृहरि ने लिखा है :

एका कान्ता सुन्दरी वा दरी वा
एको वासः पत्तने वा वने वा ।
एकम् मित्रम् भूपतिर्वा यतिर्वा
एको देवः केशवो वा शिवो वा ।।

इस श्लोक के द्वारा उन्होंने इस वात की ओर संकेत किया है कि पारमार्थिक पथ पर दो प्रकार के साधक अग्रसर होते हैं। एक तो वे जो वुद्धि प्रधान होते हैं और दूसरे वे जो भावना प्रधान होते हैं। यह वात केवल आध्यात्मिक जीवन में ही नहीं देखी जाती, साधारणतः संसारी व्यवहार में भी प्रायः दो प्रकार के मनुष्य मिलते हैं। ऐसा कहा जाता है कि कुछ लोग हृदय की प्रेरणा से काम करते हैं, दूसरे लोग मस्तिष्क की। यों तो सब के पास हृदय है और सब के पास मस्तिष्क है। सभी वुद्धि और भावना से यथा अवसर काम लेते हैं। फिर भी आध्यात्मिक जीवन में प्रवेश करके ये दोनों प्रकार के व्यक्ति अपने लक्ष्य को भिन्न भिन्न शब्दों में व्यक्त करते हैं और आरम्भ में स्यात् ऐसा समझते भी हैं कि हमारे अभीष्ट अलग अलग हैं, हमारे पंथ अलग अलग हैं। कुछ लोग योग और ज्ञान की ओर झुकते हैं, दूसरे लोग भक्ति की ओर। जो ज्ञान के मार्ग को पकड़ता है वह भी ईश्वर को अपने सामने रखता है। उसको भी इस वात का दृढ विश्वास रहता है कि मुझको पदे पदे ईश्वर का समर्थन प्राप्त है। वह भी गुरु के रूप में ईश्वर को देखता है। वह भी उस साक्षात्कार के लिए व्याकुल रहता है जो ईश्वर साक्षात्कार भी कहा जा सकता है और आत्मसाक्षात्कार भी। दूसरी ओर भक्त भी साक्षात्कार ही ढूंढता है यद्यपि वह इस साक्षात्कार को प्रेमी और प्रेमिका के मिलकर एक हो जाने के रूप में देखता है। उसको भी इस वात का विश्वास रहता है कि पदे पदे वह ईश्वर जिसकी उसको खोज है उसके साथ चल रहा है,और यद्यपि ऐसा कहा जाता है कि भक्त उपासक मोक्ष का भी तिरस्कार कर देते हैं परन्तु जिस अन्तिम पद पर वह पहुंचता है वह मोक्ष से अभिन्न है। यह कहना असम्भव है कि दोनों

में कौन सा मार्ग अधिक श्रेयस्कर है। दोनों ही मार्ग उत्तम हैं, दोनों का ही लक्ष्य एक हैं। अपने अपने चित्त की प्रवृत्ति के अनुसार किसी को एक पथ रुचिकर प्रतीत होता है किसी को दूसरा। सच तो यह है कि यह कहना भी कि दो भिन्न मार्ग हैं, भाषा का दुरुपयोग सा करना है।

श्रुति कहती है:
एकं सद् विप्रा वहुधा वदन्ति ।

वह सत्य पदार्थ एक है, विद्वान् उसको अनेक नामों से पुकारते हैं। इसी बात को पुष्पदन्ताचार्य ने यों कहा है:

रुचीनां वैचित्र्याद् ऋजुकुटिलनानापथजुषां
नृणाम् एको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव ॥

अपनी अपनी रुचि के अनुसार लोग सीधे टेढ़े अनेक मार्गों का अवलम्बन करते हैं। परन्तु सव एक ही जगह पहुंचते हैं, जैसे सव नदियों का पानी एक ही समुद्र में पहुंचता है।

पलटूदास जी के शब्दों में:

जैसे नद्दी एक है वहुतेरे हैं घाट।

सव के एक जगह पहुंचने के सम्वन्ध में श्रीकृष्ण ने भगवद्गीता में कहा है:

भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ॥

अर्थात् भक्ति के द्वारा मैं कौन हूं, कैसा हूं, इन सव वातों को मनुष्य तत्त्वतः जान लेता है, फिर इस प्रकार मुझको जानकर मुझमें प्रवेश कर जाता है।

अद्वैतवादी कहते हैं:

ब्रह्म सत्यं जगत् मिथ्या ।

इसी वात को तुलसीदास जी विनयपत्रिका में इन शब्दों में स्वीकार करते हैं:

स्रग महुं सर्प विपुल भयदायक प्रगट होई अविचारे।
वहु आयुध धर वल अनेक कर हारहिं मरइ न मारे॥

भक्त शिरोमणि मीरा का यह पद प्रसिद्ध हैं:

जिनके पिया परदेस बसत हैं लिखि लिखि भेजत पाती।
मेरे पिया मो माँहि बसतु हैं ना कहीं जाती न आती।

यही बात सन्त कबीरदास जी के इन शब्दों में प्रतिध्वनित होती है :

जो बिछुड़े हैं पियारे से भटकते दर बदर फिरते।
हमारा यार है हममें हमन को इन्तजारी क्या ॥
न पल बिछुड़े पिया हमसे न हम बिछुड़े पियारे से।
उन्हीं से नेह लागी है हमन को बेकरारी क्या ॥

तुलसीदास जी ने जगत् के सम्बन्ध में कहा है :

गिरा अर्थ जल बीचि सम, कहियत तो भिन्न न भिन्न

और फिर इसके साथ ही कबीर के इन शब्दों को मिलाइए।

साधो एक आप जग माहीं।
दूजा करम भरम है किरत्रिम ज्यों दरपन में छाहीं।
जल तरंग जिमि जलते उपजै फिर जल माँहि रहाहीं ॥

ज्ञान और भक्ति के सम्बन्ध में श्री ज्ञानेश्वर ने गीता में १८वें अध्याय के ५४वें श्लोक की टीका में इस प्रकार लिखा है। टीका कुछ लम्बी है परन्तु मैं इसको उद्धृत करने के लोभ का संवरण नहीं कर सकता :

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ॥ (गीता, १८, ५४)

"फिर हे पांडुसुत, ब्रह्म होने की योग्यता के द्वारा वह पुरुष आत्मज्ञान—प्रसन्नता के पद पर जा बैठता है। जिस अग्नि पर रसोई तैयार की जाती है वह जब शान्त हो जाती है तब रसोई का आनन्द लिया जाता है, अथवा शरत्काल में ज्वारभाटा छोड़ जैसे गंगा शान्त हो जाती है, अथवा गीत समाप्त होते ही उसके उपांग तबला, तम्बूरा इत्यादि भी जैसे बन्द हो जाते हैं, वैसे ही आत्मज्ञान के लिए उद्यम करने के जो श्रम होते हैं, वे भी जहां शान्त हो जाते हैं, उस दशा का नाम आत्मज्ञान—प्रसन्नता है। हे महामति, वह योग्य पुरुष उस दशा का उपभोग करता है। उस समय यह वस्तु मेरी है, ऐसा समझकर सोच करना, अथवा किसी वस्तु की प्राप्ति की इच्छा करना आदि बातों का अन्त हो जाता है। उसमें केवल ऐक्यभाव भरा हुआ रहता है। सूर्य का उदय होते ही सम्पूर्ण नक्षत्र जैसे अपनी दीप्ति खो देते हैं, वैसे ही हे पार्थ, आत्मानुभव प्राप्त होते ही वह पुरुष अनेक भूतव्यक्तियों की रचना तोड़ते तोड़ते सब आकाशरूप ही देखता है। जैसे पाटी पर लिखे हुए अक्षर हाथ से पोंछ लिये जायं, वैसे ही उसकी दृष्टि से

सब भेदान्तरों का लोप हो जाता है। जागृति और स्वप्न ये दो अवस्थाएं जो विपरीत ज्ञान का ग्रहण करती हैं उन्हें वह सुषुप्तिरूपी अज्ञान में लीन कर देता है। फिर ज्यों ज्यों ज्ञान बढ़ता है त्यों त्यों वह अव्यक्त भी घटता जाता है और पूर्ण ज्ञान होते ही सम्पूर्ण विलीन हो जाता है। जैसे भोजन करते समय भूख धीरे धीरे बुझती जाती है और तृप्ति के समय सम्पूर्ण शान्त हो जाती है, अथवा चलते चलते जैसे रास्ता कटता जाता है और इष्ट स्थान को पहुंचते ही समाप्त हो जाता है, अथवा ज्यों ज्यों जागृति आती जाती है त्यों त्यों नींद छूटती जाती है और पूर्ण जागृत होने पर उसका पता ही नहीं रहता, अथवा वृद्धि समाप्त होने पर जब चन्द्र पूर्णता प्राप्त कर लेता है तो शुक्लपक्ष भी निःशेष समाप्त हो जाता है, वैसे ही वह पुरुष जब ज्ञेय विषयों को लीन कर लेता है तो ज्ञान का नाश हो जाता है, तब कल्पान्त के समय जैसे नदी या समुद्र की सीमा के टूट जाने से ब्रह्मलोक तक जल ही जल भर जाता है, अथवा घट या मठ का नाश होने पर जैसे एक आकाश ही सर्वत्र रहता है, अथवा लकड़ी जलाकर जैसे अग्नि ही रह जाती है, अथवा जैसे अलंकारों को सांचे में डालकर गलाने से उनके नाम और रूपों का नाश हो सोना ही रह जाता है, यह भी रहने दो, फिर जागने पर जैसे स्वप्न का नाश हो जाता है और मनुष्य केवल एक मेरे अतिरिक्त स्वयं अपने समेत और कुछ भी नहीं रहता। इस प्रकार वह मेरी चौथी भक्ति प्राप्त करता है। दूसरे आर्त, जिज्ञासु और अर्थार्थी जिन रीतियों से मेरी भक्ति करते हैं उनकी अपेक्षा से हम इसे चौथी भक्ति कहते हैं। अन्यथा यह न तीसरी है, न चौथी, न पहली है, न अन्तिम है। वास्तव में मेरी ब्रह्मरूपी स्थिति का ही नाम भक्ति है। जो मेरे अज्ञान को प्रकाशित कर, मुझे अन्य रूप से दिखाकर, सबको सब विषयों की रुचि लगाकर उनका ज्ञान करा देता है, जिस अखंड प्रकाश से जो जहां जिस वस्तु को देखना चाहे वह वस्तु उसे वहां वैसी ही दिखाई देती है, स्वप्न का दिखाई देना न देना जैसे अपने अस्तित्व पर निर्भर है, वैसे ही जिस प्रकाश से ही विश्व की उत्पत्ति या लय होता है, वह मेरा जो स्वाभाविक प्रकाश है उसी को हे कपिध्वज, भक्त कहते हैं। अतः आर्तों में यह भक्ति इच्छारूप हो जिस वस्तु की अपेक्षा करती है वह मैं ही हूं। जिज्ञासु में भी हे वीरेश, यही भक्ति जिज्ञासा रूप हो मुझे जिज्ञास्य रूप से प्रकट करती है और हे अर्जुन, यही भक्ति अर्थप्राप्ति की इच्छा बन मानो मुझे ही अपनी प्राप्ति के पीछे लगा मुझे अर्थ नाम का पात्र बनाती है, एवं यदि मेरी भक्ति अज्ञान के साथ हो तो वह मुझ सर्वसाक्षी को अदृश्यरूप से बताती है। दर्पण में मुख से ही मुख दिखाई देता है, इसमें कुछ सन्देह नहीं, परन्तु यह जो मिथ्या द्वितीयत्व है उसका हेतु दर्पण है। दृष्टि वास्तव में चन्द्रमा का ही ग्रहण करती है पर एक चन्द्र के जो दो रूप दिखाई देते हैं वह नेत्र रोग के कारण। वैसे ही हे धनंजय, वास्तव में मैं ही सर्वत्र निज

को ही देखता हूँ परन्तु जो मिथ्या दृश्य पदार्थ दिखाई देते हैं वह अज्ञान का कारण है। वह अज्ञान उस चौथे भक्त का मिट जाता है, और प्रतिबिम्ब जैसे बिम्ब में मिल जाय, वैसे ही मेरी साक्षिरूपता मुझ में ही समा जाती है। सोना जब मिश्रित स्थिति में रहता है तब भी सोना ही रहता है, परन्तु मिश्रण अलगाने पर जैसे वह शुद्ध रूप से शेष रहता है, अजी, पूर्णमासी के पहले चन्द्रमा क्या सावयव नहीं रहता, परन्तु जैसे उस दिन उसकी पूर्णता उससे आ मिलती है, वैसे ही दिखाई तो मैं ही देता हूं पर अज्ञान के कारण दृश्य रूप से और भिन्न दिखाई देता हूं और दृष्टात्व विलीन होने पर मुझे ही अपनी प्राप्ति हो जाती है। अतएव हे पार्थ, दृष्टिपथ के परे जो मेरा भक्तियोग है उसे मैंने चौथा कहा है।"[1]

परम पद को कबीर ने हंसों का लोक कहा है। हंस का लक्षण नीर-क्षीर विवेक कहा जाता है। लोग ऐसा मानते हैं कि यदि दूध और पानी एक में मिले हों तो हंस दूध को खींच लेता है और पानी को छोड़ देता है। हंस पक्षी में तो यह गुण नहीं होता परन्तु जिस मनुष्य को विवेकख्याति प्राप्त हो चुकी है उसकी हंस से तुलना की जा सकती है।

ऐसे हंसतुल्य मनुष्य सचमुच एक देश के वासी हैं। उनके चित्तों की स्थिति एक सी है। चाहे वे किसी भाषा का व्यवहार करते हों, किसी कुल में पैदा हुए हों, उन्होंने किसी युग में शरीर धारण किया हो परन्तु वे सब पूज्य हैं।

> यत्र तत्र समये यथा तथा,
> योऽसि सोऽस्यभिधया यथा तथा।
> वीतरागकलुषश्च चेद् भवान्
> एक एव भगवन् नमोस्तु ते।।

आपने चाहे जहां जन्म लिया हो और जिस समय में जन्म लिया हो, आप चाहे जो हों और जिस नाम से पुकारे जाते हों, राग और द्वेष से जब आप परे हैं तो आपको प्रणाम है।

आजकल एक विश्वास फैलाया गया है कि भक्ति योग से सरल है और आजकल के लोग योगाभ्यास करने के योग्य नहीं हैं। जिसको भक्ति सरल लगती है, वह उसका निःसंकोच सहारा ले। उसके लिए वही मार्ग सरल होगा। परन्तु बात यह है कि योग शब्द का बड़ा व्यापक अर्थ है। साधना के, चित्त को एकाग्र करके भगवत्-

---

१. इण्डियन प्रेस के संस्करण से उद्धृत

साक्षात्कार या आत्म-साक्षात्कार के, जो भी उपाय हैं, वे सब योग में अन्तर्भूत हैं। अंग और अंगी का विरोध नहीं हो सकता। योग और भक्ति में विरोध है, यह कहना निरर्थक है। परन्तु इतना ध्यान में रखना चाहिए कि केवल सामूहिक रूप से गाना-वजाना या किसी देव-देवी के नाम का संकीर्तन करना, किसी मन्दिर में मूर्ति का शृंगार करना, भक्ति नहीं है। यह सब भले ही अच्छा लगता हो, इसमें समय कट जाता हो, परन्तु इतना ही कह सकता हूं कि किसी बुरे काम में समय काटने से यह काम भी अच्छा है। परन्तु वास्तविकता यह है कि यह प्रेय मात्र है, श्रेय इससे बहुत दूर है। जैसा कि कठोपनिषद् में कहा गया है :

> श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस्—तौ सम्परीत्य विविनक्ति धीरः।
> श्रेयो धीरोऽभिप्रेयसो वृणीते प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद् वृणीते॥

मनुष्य के सामने श्रेय और प्रेय दोनों आते हैं। उनकी परीक्षा करके धीर पुरुष विवेक से काम लेता है। वह प्रेय को छोड़कर श्रेय को चुनता है तथा मन्द पुरुष योगक्षेम के लिए प्रेय को चुनता है।

यह कहना भी कि आजकल के मनुष्य योग के योग्य नहीं हैं, निराधार है। वेद बार बार इस बात को दुहराता है कि मनुष्य की आयु की मर्यादा सौ वर्ष है; "शतायुर्वै पुरुषः" वही मर्यादा आज भी है। आज का मनुष्य भी वह सब बौद्धिक काम करता है जो पहले के मनुष्य करते थे। ऐसा मानने का कोई कारण नहीं है कि वह पहले के लोगों से किसी बात में हीन है। हां, एक बात निश्चित है और इसको सभी लोग मानते हैं—उसकी बुद्धि का एक पक्ष अपंग रह गया है। भौतिक ज्ञान की बहुत बड़ी उन्नति हुई है परन्तु इसके साथ ही राग-द्वेष में भी बड़ी वृद्धि हुई है। धर्माधर्म विवेक में यथोचित उन्नति न होने से जीवन में सन्तुलन कम हो गया है। परन्तु यह शिक्षा का दोष है, मनुष्य की प्रवृत्ति और स्वभाव का नहीं। समझदारों का ध्यान इस ओर जा रहा है। ऐसा कहने का कोई कारण नहीं है कि मनुष्य इस दिशा में भी यथोचित प्रगति न करे। इस समय इस सम्बन्ध में जो कमी देख पड़ती है वह दूर की जा सकती है और मनुष्य पहले के किसी भी युग के मनुष्यों के समान ही योग का अधिकारी बन सकता है। फिर भी आज भी ऐसे लोग हैं जो धर्म भाव से प्रभावित हैं। वे निश्चय ही योग के अधिकारी हैं और इस विषय में पहले के लोगों के निश्चय ही समकक्ष माने जा सकते हैं। हमको यह भूलना न चाहिए कि हमारे देश में जो प्रसिद्ध योगी हो गये हैं उनमें से कइयों ने पिछले दो हजार वर्षों के भीतर अर्थात् कलिकाल में ही धरा को पवित्र किया है।

इस प्रश्न का कोई उत्तर नहीं हो सकता कि योग में कितने दिनों में पूर्ण सफलता

प्राप्त होगी, अर्थात् जिस उद्देश्य से योगाभ्यास को अपनाया जाता है उसकी पूर्ति होगी। इसमें एक जन्म में भी सफलता हो सकती है और अनेक जन्म भी लग सकते हैं। कोई शारीरिक श्रम की बात हो तो इस प्रश्न का उत्तर देना सुकर होता, परन्तु वैराग्य, संवेग, लगन, अध्यवसाय यह ऐसी बातें हैं जिनकी नाप तौल नहीं की जा सकती और न इनको गणित का विषय बनाया जा सकता है। इतना तो निश्चित है कि योगाभ्यास से चित्त को शान्ति मिलती है। साधारण मनुष्य के चित्त की अवस्था क्षिप्त रहती है। अनेक वासनाओं की ओर से प्रत्येक क्षण में नोदित होकर वह विभिन्न दिशाओं में खिंचता फिरता है। योग की कृपा से निश्चय ही चित्त में संतुलन आता है। जो व्यक्तित्व निरन्तर विकीर्ण रहता है उसमें कृत्स्नता आती है, एकरूपता आती है।

मैंने ऊपर कहा है कि योग आध्यात्मिक कामधेनु है। उससे जो कुछ मांगा जाय वह मिल सकता है। इस सन्दर्भ में विभूतियों का नाम भी आ ही जाता है। निश्चय ही योग के अभ्यास से सिद्धिया प्राप्त हो सकती हैं। मनुष्य कुछ ऐसे चमत्कार दिखलाने में सफलता प्राप्त कर सकता है, जिनसे उसको धन, वैभव और ख्याति की प्राप्ति हो सकती है। इस सम्बन्ध में इतना ही कहा जा सकता है कि मच्छर के शिकार के लिए तलवार से काम लेना तलवार का अपमान और दुरुपयोग है और अपनी मूर्खता का प्रदर्शन।

एक प्रश्न मुझ से पूछा जा सकता है। मैंने किस अधिकार से इस पुस्तक को लिखा है? इसका एक ही उत्तर हो सकता है। ऐसे ही प्रश्न के पूछे जाने की सम्भावना को सामने रखकर मैंने अपनी पुस्तक चिद्विलास के उपोद्घात में जो शब्द लिखे थे उनको ज्यों के त्यों यहां उद्धृत करता हूं।

"मुझे बारम्बार योग की प्रशंसा और कोरे पांडित्य की निन्दा करते देखकर यह प्रश्न मुझसे पूछा जा सकता है कि क्या तुम स्वयं योगी हो? मैं इस सम्बन्ध में इतना ही निवेदन करूंगा कि सद्गुरु की कृपा ने मुझ में योग के प्रति असीम श्रद्धा उत्पन्न कर दी है। मैंने योग और ज्ञान के सम्बन्ध में जो कुछ लिखा है वह सब का सब मेरे अनुभव का परिणाम हो या न हो, किन्तु मेरे दृढ़ विश्वास का व्यंजक निःसन्देह है।"

इसी स्थल से कुछ और वाक्य भी अवतरित करना चाहता हूं:

"मैं ऐसा मानता हूं कि सभ्यता और संस्कृति का समुदय सबसे पहले आर्य जाति में हुआ और पूर्व युगों के तपस्वियों ने ऋषियों और मनुष्यों का शरीर धारण करके सबसे पहले आर्य जाति को आत्मज्ञान का मार्ग दिखलाया। इसलिए ज्ञान और योग का सबसे प्राचीन और परिपूर्ण भंडार वेद है। इस देश में यह परम्परा कभी लुप्त नहीं होने पायी, आप्त पुरुष बराबर अवतरित होते रहे। उन लोगों ने ऐसे कुलों में जन्म लिया जो सनातन धर्मावलम्बी थे, उनके श्रोता भी प्रायः इसी सम्प्रदाय के अनुयायी

थे। इसलिए स्वभावत: उनकी भाषा और निरूपणशैली पर वह छाप पड़ी जिसको लौकिक व्यवहार में हिन्दुत्व कहते हैं। परन्तु ब्रह्मज्ञानी होने के लिए हिन्दू कुल में जन्म लेना, संस्कृत को पवित्र भाषा मानना या हिन्दू ढंग की उपासना करना आवश्यक नहीं है। इस देश के महाभाग आचार्यों ने योगाधिकार में जाति, कुल या सम्प्रदाय को स्थान नहीं दिया है। मोक्षपदवी इन क्षुद्र भेदों से ऊपर है, उसका पथ असंकीर्ण है।"

मैं समझता हूं कि पुस्तक में कुछ जगहों पर जो हिन्दी और संस्कृत के सिवाय अन्य भाषाओं के अवतरण दिये गये हैं उनके लिए क्षमा मांगने की आवश्यकता नहीं है। उनको देखने से योग के ऊपर श्रद्धा बढ़नी चाहिए क्योंकि वे योग की सार्वभौमिकता के ज्वलन्त प्रमाण हैं। यह बहुत सम्भव है कि वेदमंत्रों या योगसूत्रों के अर्थ करने में मुझ से भूलें हुई हों। यदि ऐसा हुआ है तो मैं सभी पाठकों से क्षमा का प्रार्थी हूं। अनेक त्रुटियों के होते हुए भी यदि पुस्तक में कुछ भी उपादेय अंश है तो उसका श्रेय मुझको नहीं है। वह गुरुदेव की, गुरु-परम्परा की, दूसरे सन्त महात्माओं की, और अनादि काल से भूमंडल को पवित्र करने वाले योगीश्वरों की देन है।

यदि इस पुस्तक को पढ़कर किसी एक भी व्यक्ति में इस सम्बन्ध में जिज्ञासा जागरित हो और किसी एक व्यक्ति में भी परम श्रेय के इस पुनीत पथ पर चलने की लालसा उत्पन्न हो, तो मैं अपने को कृतकृत्य मानूंगा।

मेरे पुराने छात्र श्री ब्रजबिहारी राय, एम० ए०, एल-एल० बी० ने इस पुस्तक के संशोधन में मुझको जो सहायता दी है, उसके लिए मैं उनका कृतज्ञ हूं।

राजभवन, जयपुर
कार्तिक कृ० ६, २०२२
१६ अक्टूबर, १९६५।

—सम्पूर्णानन्द

अध्याय १

योग शब्द का व्यापक प्रयोग

भारतीय वाङ्मय में आध्यात्मिक और धार्मिक संदर्भ में जिन शब्दों का प्रयोग विशेष रूप से देखा जाता है उनमें योग शब्द भी है। सच तो यह है कि इस प्रकार का वाक्यविन्यास अत्यल्पोक्ति की सीमा तक पहुंच जाता है। वस्तुस्थिति यह है कि आत्मा, ब्रह्म, जीव, मोक्ष, निर्वाण, धर्म और ईश्वर की भांति योग उन थोड़े से गिने गिनाये शब्दों में है जिनका प्रयोग इस प्रसंग में सर्वाधिक होता है।

इस देश के आध्यात्मिक विचारों को तीन मुख्य धाराओं में विभक्त कर सकते हैं। ऐतिहासिक दृष्टि से सबसे प्राचीन तथा अपने विकास और विस्तार तथा अनुयायियों की संख्या की दृष्टि से सबसे विपुल वह धारा है जिसको नैगम—अर्थात् वेदमूलक—कहना चाहिए। जो लोग इस विचारधारा के साथ सम्बद्ध हैं उनके लिए वेद अन्तिम प्रमाण है। इनमें आपस में कई मतभेद हैं। वेद के सब मंत्रों की व्याख्या और मीमांसा सब लोग एक ही प्रकार नहीं करते। वेद केवल संहिताओं को ही कहते हैं या ब्राह्मण ग्रन्थ भी इस नाम के अधिकारी हैं, इस विषय में भी सबका एक मत नहीं है। फिर भी इन भेदों के होते हुए भी प्रायः वे सभी लोग, जो आज हिन्दू कहलाते हैं, वेदानुयायी हैं, वेद ही उनका प्रमाण ग्रन्थ है। वेद तथा उसकी सभी प्रधान टीकाएँ और व्याख्याएं संस्कृत में हैं, वेद पर आधारित दूसरे ग्रंथ भी प्रायः संस्कृत में हैं। इस कोटि में रामायण और महाभारत, महापुराण और उपपुराण तथा स्मृतियों और धर्म-शास्त्रों की गणना होती है। इन सबमें योग का चर्चा भरा पड़ा है—योगियों की कथाएं आती हैं और योगाभ्यास सम्बन्धी विस्तृत उपदेश मिलते हैं। और फिर योगविषयक स्वतंत्र ग्रंथ भी हैं, देव देवियों के वर्णन में भी प्रायः उनके योगिगम्य होने और योग-विभूतियुक्त होने का उल्लेख मिलता है।

दूसरी धारा वह है जिसका उद्भव बुद्ध देव के उपदेशों से होता है। आज भारत में इसके अनुयायी संख्या में थोड़े हैं परन्तु इसने न केवल भारत वरन् बहुत से देशों के आध्यात्मिक जीवन पर गहरा प्रभाव डाला है। इसके आकर ग्रंथ—बुद्ध देव के उपदेशों और आदेशों के संग्रह—तो पालि भाषा में हैं, परन्तु संस्कृत में भी इससे स्फूर्ति-प्राप्त प्रभूत साहित्य है। इतना ही नहीं, भारत के बाहर कई देशों में बहुत ही सुन्दर

ग्रन्थ बौद्ध विचारों के समर्थन और बौद्ध धर्म के सिद्धान्तों की पुष्टि एवं विवेचन पर लिखे गये हैं।

बौद्ध ग्रंथ योग और योगियों के चर्चा से भरे पड़े हैं। बुद्ध का जीवन ही योग का ज्वलन्त समर्थन है। जिस मध्यम मार्ग का उन्होंने प्रसार किया, वह उनकी कई वर्षों की योगसाधना की उपलब्धि था। अर्हत् पद, जहां पहुंचकर फिर जन्म नहीं लेना होता, योगजन्य समाधि का पुरस्कार है। बुद्ध देव ने कई बार योगाभ्यास का उपदेश दिया है। उनके शिष्यों में कई ऐसे महापुरुष थे जिनका सिद्ध योगियों के रूप में वर्णन आया है।

तीसरी धारा—जैन धारा—के प्रवर्तक वर्धमान महावीर और उनके पूर्ववर्ती तीर्थंकर थे। इसके भी मुख्य प्रस्थान—प्रामाणिक ग्रन्थ—पालि में हैं परन्तु बाद में इसने संस्कृत में भी विशाल साहित्य को जन्म दिया है। इस सम्प्रदाय में योग की जगह तपश्चर्या को दी गयी है। साधु ही नहीं, जैन गृहस्थ तक लंबे व्रत और उपवास करते हैं। इस कारण जैन वाङ्मय में योग और योगियों का अपेक्षाकृत कम चर्चा मिलता है।

भारतभूमि आध्यात्मिक दृष्टि से भी वसुन्धरा है, रत्नगर्भा है। मैंने तीन विचारधाराओं का इसलिए प्रधानतया उल्लेख किया है कि इनका उन तीन प्रधान सम्प्रदायों से सम्बन्ध है जिनका उदय भारत में हुआ था। यदि कोई भारतीय किसी ऐसे सम्प्रदाय का अंग है जिसका प्रवर्तन भारत में हुआ था, तो वह या तो वैदिक या बौद्ध या जैन होगा, ऐसा मानना चाहिए। स्थूल दृष्टि से इन सबको हिन्दू कह देते हैं, यद्यपि यह शब्द मुख्यतया वैदिक का पर्याय है। इन विचारधाराओं का विवेचन करना इस अध्याय के प्रस्तावित विषय की दृष्टि से अनावश्यक प्रतीत हुआ, अतः इसका प्रयास नहीं किया गया।

परन्तु इस देश के साधक और विचारक इन तीन रस्सियों को पकड़कर बैठे रहे हों, ऐसा नहीं हुआ। कई ऐसी प्रबल उपधाराएं निकलीं जिनका प्रभाव और विस्तार किसी दूसरे देश या अभारतीय सम्प्रदाय की मुख्य धारा से किसी भी दृष्टि से कम न था। इनमें इतिहास और प्रभाव की दृष्टि से प्रथम स्थान तन्त्र का है। तन्त्र के दो सहज भेद हैं: आगम और बौद्ध।

तन्त्र का जो रूप वैदिक समाज के बीच में प्रस्फुटित हुआ, उसे आगम कहते हैं। वेद निगम है, तंत्र आगम। आज तांत्रिक विचार और उपासना पद्धति प्रचलित हिंदू धर्म में इतनी घुल मिल गयी है कि साधारणतः पढ़ा लिखा हिन्दू भी विभाजन नहीं कर सकता। नित्य, नैमित्तिक, काम्य—सभी प्रकार के कर्म दोनों धाराओं के सम्मिलन से प्रवाहित गंगा-यमुनी जल में से प्रक्षालित हो रहे हैं। कभी तंत्र के कई भेद थे परन्तु

आजकल इनमें से दो ही प्रौढ़ और पुष्ट रूप में उपलब्ध हैं: शैव और शाक्त। कभी वैष्णव तंत्र भी बहुत प्रबल था परन्तु अब वह भागवत धर्म के रूप में वैदिक सम्प्रदाय का अविच्छेद्य और अविच्छिन्न अंग बन गया है।

वैदिक और तान्त्रिक मार्गों में बहुत बड़ा मौलिक अन्तर यह है कि तन्त्र का अनुयायी वेद को प्रमाण नहीं मानता। कुछ दूसरे ग्रंथ हैं जो उसके लिए प्रस्थान अर्थात् अन्तिम प्रमाण ग्रंथ की पदवी रखते हैं। ये प्रायः शिव और शक्ति के संवाद के रूप में हैं और इनमें शिव या शक्ति के मुख से धार्मिक और आध्यात्मिक तत्त्वों का निरूपण कराया गया है। पिछली कुछ शताब्दियों में तंत्र और वैदिक व्यवस्था को एक दूसरे के निकट लाने के प्रयत्न भी हुए हैं। मेरी सम्मति में महानिर्वाण तंत्र का स्वरूप इनमें सबसे सफल प्रयास रहा है।

तन्त्र का साहित्य विशाल है और जहां तक मैं जानता हूं वह सारा का सारा संस्कृत में है। तंत्र का नाम लेते ही कुछ हृदय को थर्रा देनेवाली बातों की स्मृति जाग उठती है। तांत्रिक उपासना में मद्य, मांस और मैथुन को स्थान दिया जाता है। कहा जाता है कि तांत्रिक साधक कभी नरबलि दिया करते थे और उन लोगों में भैरवीचक्र जैसे गुप्त कृत्य आज भी अवसर मिलने पर कभी कभी प्रयोग में लाये जाते हैं, जिनमें माता, बहिन, पुत्री तथा ब्राह्मण, शूद्र आदि वर्णगत भेद लुप्त हो जाते हैं। मैं समझता हूं कि बहुत सी बातों के लिए तांत्रिकों पर मिथ्या आरोप लगाये जाते हैं, यद्यपि यह सत्य है कि उनकी पूजा पद्धति में मद्य आदि उन चीजों का, जिनका ऊपर चर्चा किया गया है, निर्विवाद रूप से स्थान है। तंत्र की दार्शनिक विचारशैली या उपासनाशैली का विवेचन इस जगह अप्रासंगिक है। यहां मुझे इतना ही कहना है कि तंत्र स्पष्ट ही द्विधा विभक्त है। पहला विभाग चंचु मात्र डूबनेवालों के लिए है, इसी में मद्य आदि से देवता की बाहरी पूजा होती है। दूसरा विभाग अच्छे साधकों, मुमुक्षुओं के लिए है। यह पथ योग से प्रायः अभिन्न है। इसलिए तंत्र ग्रंथों में प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से, साधारण और समाधि भाषा में, सीधे और प्रतीकों के माध्यम से, योग का चर्चा बड़े गाम्भीर्य और विस्तार के साथ है। तांत्रिक साधकों में कई प्रसिद्ध योगी हो गये हैं। ऐसे लोगों का भी चर्चा मिलता है जो सिद्धान्ततः वैदिक होते हुए भी तंत्रसम्मत उपासनाशैली के अनुयायी थे। उदाहरण के लिए श्री शंकराचार्य के सम्बन्ध में यह बात कही जाती है और प्रमाण में 'सौन्दर्यलहरी' को उपस्थित किया जाता है। इस अनुपम काव्यग्रंथ में योग शासन और मंत्रशास्त्र का अनूठा संगम हुआ है।

बौद्ध तंत्र और आगम में स्वभावतः सैद्धान्तिक अन्तर है। आगम के लिए जीवन का परम पुरुषार्थ मोक्ष है, उधर बौद्ध तंत्रग्रन्थ के लिए चरम लक्ष्य निर्वाण है। एक और बड़ा भेद है। आगम ग्रंथ वेद को प्रमाण नहीं मानते, परन्तु बौद्ध तंत्रग्रंथ बुद्ध

के आदेशों को पूर्णतया प्रमाण मानते हैं। पर एक प्रत्यक्ष कठिनाई का सामना होता है। तंत्रसम्मत बातों का उन ग्रन्थों में कहीं उल्लेख नहीं मिलता, जिनमें बुद्ध के उपदेश आबद्ध हैं। इसका समाधान इस प्रकार किया जाता है कि ऐसी गोप्य बातें सर्वसाधारण के सामने नहीं रखी जा सकती थीं। अतः वे कुछ गिने चुने शिष्यों को गुप्त रूप से बतलायी गयीं। बौद्ध तंत्र कई बातों में आगम से मिलते हैं। कई देवता दोनों में समान हैं, मंत्र भी मिलते जुलते हैं।

बौद्ध तंत्रों की भाषा संस्कृत, बहुधा विकृत और व्याकरण भ्रष्ट संस्कृत है। बौद्ध धर्म का महायान सम्प्रदाय, जो भारत से होता हुआ तिब्बत, चीन, मंगोलिया, कोरिया और जापान पहुंचा, मुख्यतया तंत्रमूलक है। लंका, बरमा, और स्याम में फैला हुआ हीनयान सम्प्रदाय प्रायः तंत्रमुक्त है। आगम की भांति बौद्ध तंत्र भी योगचर्चा से ओतप्रोत है। महायान के अनुयायी देशों में योगदीक्षा का पर्याप्त चलन रहा है और कई लब्धख्याति सिद्ध पुरुष हुए हैं। तिब्बत में प्रायः प्रत्येक लामा को योग का कुछ न कुछ अभ्यास करना पड़ता है। इतना ही नहीं, वहां लोगों की यह दृढ़ धारणा है कि योग के क्षेत्र में तिब्बत भारत से आगे बढ़ा हुआ है। संस्कृत के अतिरिक्त इन देशों की भाषाओं में योग सम्बन्धी पर्याप्त तंत्रावलंबी साहित्य है।

ज्यों ज्यों हम वर्तमान काल के पास पहुंचते जाते हैं त्यों त्यों संस्कृत में ग्रन्थ प्रणयन की प्रवृत्ति कम होती जाती है। संस्कृत अब भी आदरास्पद है, उससे न केवल धार्मिक और आध्यात्मिक वरन् और विषयों के भी लेखक अब भी स्फूर्ति पाते हैं, समूचे देश में फैले हुए समाज को एक सूत्र में बांधने का वह अब भी दृढ़ साधन है, विचारक उस रत्नाकर से अब भी बहुमूल्य विचार पाते हैं, अब भी विचारों की यथार्थ अभिव्यक्ति के लिए उसके भंडार से उपयुक्त शब्द मिलते थे। पर अब प्राकृत भाषाएं आगे आती जाती थीं और प्रवक्ताओं को उनके माध्यम से प्रचार करने में सुविधा होती थी। इन उपदेशकों में ब्राह्मणेतर लोग भी थे जो संस्कृत जानते भी नहीं थे। इसलिए भी वे प्राकृत भाषाओं से काम लेते थे। प्राकृत भाषाओं में संस्कृत के तत्सम शब्दों की जगह तद्भव शब्द तो थे ही, कुछ विदेशी शब्द भी आ मिले थे, क्योंकि उस समय मुस्लिम आक्रमण आरम्भ हो चुके थे, देश के कुछ भागों पर मुस्लिम शासन स्थापित हो चुका था, अरबी और फारसी शब्द कानों को परिचित हो चले थे। दो संस्कृतियों और सभ्यताओं के टकराव से नयी संस्कृति और सभ्यता की सृष्टि का संदेश मिल रहा था।

यह सब हो रहा था, परन्तु भारत की आध्यात्मिक उर्वरता में कोई अन्तर नहीं पड़ा था। आध्यात्मिक अनुभूतियां होती थीं, उनकी अभिव्यक्ति भी साहित्य के रूप में की जाती थी। नये सम्प्रदाय भी बने। लोक में "नौ नाथ चौरासी सिद्ध" जैसी

कहावतें प्रसिद्ध हैं। संख्या की बात तो विवादास्पद है परन्तु इस काल में सिद्ध सम्प्रदाय का बहुत प्रभाव था। वस्तुतः सिद्धों और नाथों के सम्बन्ध में अभी बहुत सी बातें अनिश्चित हैं। जहाँ तक समझ में आता है, सिद्ध लोग वज्रयानी महायान के बहुत समीप थे और नाथों का सम्बन्ध आगम से कुछ अधिक था। संवत् ८०० से लेकर ९५० या १००० के बीच में कई विख्यात सिद्ध और नाथ हुए।[1] इनमें से कइयों के नाम लोक में अब तक प्रचलित हैं। गांव गांव में जलन्धरनाथ, मत्स्येन्द्रनाथ (मछिन्दर), गोरक्षनाथ (गोरख), राजा गोपीचन्द और भर्थरी (भर्तृहरि) के नाम सुने जाते हैं। सिद्ध और नाथ दोनों ही योगी सम्प्रदाय के थे और दोनों के ग्रंथों में योग का भरपूर चर्चा है। नाथ सम्प्रदाय की पुस्तकें संस्कृत में भी हैं, परन्तु इन लोगों की अधिकांश रचनाएं तत्कालीन हिन्दी में ही हैं। ये अभी बहुत प्रचलित नहीं है और न सुगमता से उपलब्ध हैं। इसलिए एकाध उदाहरण देना अनुचित न होगा।

अजैयपाल की सबदी

मुंडे मुंडे भेष वितुंडे।
ना बूझी सतगुरु वाणी।।
सुंनि सुंनि करि भूले पसुवा
आपा सुध न जांणी।।
नाभि सुंनि तैं पवना ऊठ्या।
परम सुंनि में पैसा।।
तिहि सुंनि तैं पिंड ब्रह्मंड उपज्या।
ते सुंनि है कैसा।।
तिहि सुंनि तैं आपा कीधा।
आपा कूंण सौं कीधा।
सुंनि लागे ते मरि मरि गए।
आप अनत सिध सीधा।।
पिंड तैं ब्रह्मंड ब्रह्मंड तें पिंड।।
पिंड ब्रह्मंड कथ्या न जाई।।

---

१. मैंने नाथों और सिद्धों के काल निर्णय के सम्बन्ध में काशी नागरी प्रचारिणी सभा से प्रकाशित "नाथसिद्धों की बानियां" नामक पुस्तक से स्थूल रूप से सहायता ली है, परन्तु भूल चूक का दायित्व मेरा है, पुस्तक के सम्पादक श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी का नहीं।

पिंड ब्रह्मंड दोऊ सम कर।
पिंड ब्रह्मंड समाई।।
पृथ्वी कै तत महल रचीला।
आप कै तत करीला आचारं।
तेज कै तत दीपग वालिवा ।
वाई कै तत हम करिवा विचारं।।
आकास का तंवा में करीवा।
मलिवा मन राई का मानं।।
सुंनि स्यघासण उलीचा।
वैसिवा प्रान पुरिस के दीवानं।।
जुरा मरन काल सरव ब्यापै।
काम वसंत सरीरं।।
लषमण कहै हो वावा अजैपाल।
तुम कूंण अरम्भ धीरं।।
ब्रह्म अ गनिव जरांग सी क्या।
कंदर्प देव सरीरं।।
जुरा मृत पवन का भीषण।
जोगारंभ सुधीरं।।
द्वादस गगन स्यानं।
सोषि लीया जल मालं।।
षट् चक्रा जोग धरि वैठा।
तव भाजि गया जम कालं।।

भरथरीजी की सवदी (संक्षिप्त)

सुषिया हसंति दुषिया रोवंत।
क्रीड़ा करंतु वट कांमनीं।।
सूरा जूझंत भौंदू भाजंत।
सति सति भाषंत राजा भरथरी।।
दुखी राजा दुषी परजा।
दुषी ब्राह्मण वाणिया।।
सुषी एक राजा भरथरी।
जिनि गुर का सवद परवाणियां।।

चढेंगे तै पडेंगे।
न पडेंगे तत विचारी॥
धनवंत लोग छीजेंगे।
तेरा क्या जाइगा भरथरी भिष्यारी॥
वीज नहीं अंकूर नहीं।
नहीं रूप रेष आकार नहीं॥
उदै अस्त तहां कथ्या न जाइ।
तहां भरथरी रह्या समाइ॥
मारौ भूषर साधौ निंद।
सुपिनैं जाता राषौ विंद॥
जुरा मरण नहीं व्यापै रोग।
कहै भरथरी धनि धनि जोग॥
नादा बिंद वजाइलै दोऊ।
पुरिलै अनहद वासा॥
एकांतिका वासा सोधिले भरथरी।
कहै गौरष मछिन्द्र का दासा॥

ये दोनों वाणियां नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित "नाथ सिद्धों की वानियां" नामक पुस्तक से ली गयी हैं। भाषा कई सौ वर्ष पहले की होते हुए भी सुबोध है अर्थात् भली भांति समझ में आ जाती है। 'अजयपालजी की बानी' में जो "सुंनि" शब्द आया है वह विशेष महत्त्व रखता है। वह संस्कृत के शून्य शब्द का अपभ्रंश रूप है और वाणी में इसका आना बौद्ध प्रभाव का द्योतक है। दार्शनिक विवेचन में बहुत विस्तार में जाने की आवश्यकता नहीं है। परन्तु इस वात की ओर ध्यान आकृष्ट कर देना उचित होगा कि बौद्ध विचारशैली आगम और वैदिक तथा जैन तीनों से एक महत्त्वपूर्ण वात में नितान्त भिन्न है। वैदिक, आगम और जैन इन तीनों पंथों पर चलने वाले आत्मा की नित्यता को स्वीकार करते हैं। उसके अन्य लक्षणों के सम्बन्ध में चाहे उनमें आपस में जो भी मतभेद हो, पर तीनों ऐसा मानते हैं कि साधना की उच्चतम भूमि में पहुंच जाने पर आत्मा अपने सभी विकारों से छुटकारा पा जाता है। इसीलिए उस अवस्था के लिए ये लोग मोक्ष या मुक्ति जैसे शब्दों का प्रयोग करते हैं। बौद्ध ऐसा नहीं मानते। उनके अनुसार आत्मा की सत्ता की प्रतीति का सबसे बड़ा कारण अज्ञान है। आत्मा की सत्ता नहीं है। साधना के द्वारा जब योगी सर्वोच्च पद को प्राप्त करता है, उस समय आत्मा का कल्पित दीपक बुझ जाता है। इसलिए उस अवस्था को वे

लोग निर्वाण कहते हैं। महायान ग्रन्थों में इस प्रसंग में शून्य (कुछ नहीं) शब्द का बहुत व्यवहार हुआ है। शून्यवाद के कई भेदों का चर्चा आता है। शून्य, कुछ नहीं, भ्रान्ति से ही जगत् की प्रतीति होती है और उसी शून्य में इसका लय होगा। महायानी साधकों के संसर्ग से इस 'शून्य' शब्द को सिद्धों के वाङ्मय में प्रवेश का अवसर मिला। योग की कुछ विशेष भूमिकाओं को 'शून्य' कहा जाने लगा। शून्य ही नहीं, महा-शून्य शब्द की भी सृष्टि हुई। अजयपालजी ने १२ शून्यों के अतित्त्व का चर्चा किया है। इस शब्द को नाथ-सिद्धों के परवर्ती योगी सम्प्रदायों ने भी अपना लिया।

नाथ सिद्ध काल के बाद देश के आध्यात्मिक जीवन ने एक साथ दो स्वतंत्र मोड़ लिये। पहला मोड़ वैष्णव उपासना का था। श्री रामानुजाचार्य, श्री वल्लभाचार्य, श्री रामानन्द, श्री निम्बार्क और श्री मध्व जैसे कई विद्वान् इस काल में हुए। उन्होंने संस्कृत में दर्शन के ग्रन्थों का प्रणयन किया। परन्तु ये लोग दार्शनिक केवल नहीं थे। इनमें से प्रत्येक एक विशिष्ट वैष्णव उपासनाशैली का प्रवर्त्तक था। वे सब उपासना शैलियां भक्तिवाद के अन्तर्गत हैं। उनके अनुयायियों में कई लब्धख्याति कवि हो गये हैं, जिन्होंने अपनी रससिक्त रचनाओं के द्वारा आचार्यों के सन्देश को देश के कोने कोने तक पहुंचाया। इनमें से कुछ, जैसे तुलसीदास, सूरदास, मीराबाई के नाम आज आदर के साथ लिये जाते हैं और उनकी कृतियां आज भी श्रद्धा के साथ पढ़ी और गायी जाती हैं।

भक्तिवाद उस समय के लोगों की परिस्थितियों और मनोदशाओं के अनुरूप था। हिन्दू समाज सैकड़ों वर्षों से परतंत्रता की बेड़ी में जकड़ा जा चुका था। उसके कई प्रसिद्ध तीर्थ और देवालय तोड़े और दूसरे परिवर्तनों से भ्रष्ट किये जा चुके थे। बलात् धर्म परिवर्तन भी किया जाता था। लोग अपना आत्मविश्वास खो चुके थे। हम कुछ कर सकते हैं, ऐसा भरोसा उनमें नहीं रह गया था। 'यदि कुछ हो सकता है तो वह भगवान् की कृपा से ही हो सकता है, हमारे पुरुषार्थ से नहीं' ऐसे लोगों को भक्तिभावना अपनी ओर सहज ही आकृष्ट करती थी। योग पुरुषार्थ की अपेक्षा करता है। अतः यह धारणा भी दृढ हो गयी थी कि योगाभ्यास कलिकाल के लिए नहीं है। इस पतित युग में तो भगवान् के नाम का स्मरण, कीर्तन, भगवत्चर्चा—गान आदि ही सम्भव है। सम्भव ही नहीं, मोक्ष के लिए यह साधना पर्याप्त है।

हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम्।
कलौ नास्त्येव, नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा॥

ऐसी दशा में यह बात सहज ही में समझ में आ सकती है भक्ति साहित्य में योग का चर्चा नहीं है और यदि कुछ थोड़ा बहुत है तो निन्दात्मक और यह दिखलाने

के लिए कि योगाभ्यास एक तो सम्भव नहीं है, बहुत कठिन है, दूसरे उसमें विघ्न बहुत हैं। और फिर वह अनावश्यक भी है। नीचे मैं तुलसीदास जी के रामचरितमानस से एक अवतरण देता हूं। इन चौपाइयों में तुलसीदास जी ने योग की निन्दा नहीं की है, परन्तु बहुत ही सुन्दर शब्दों में उसकी प्रशंसा करते हुए भी उस मार्ग के कंटकाकीर्ण व साथ साथ अनावश्यक श्रमसाध्य होने का प्रतिपादन किया है।

सुनहु तात यह अकथ कहानी। समुझत बनइ न जाइ बखानी।
ईश्वर अंस जीव अबिनासी। चेतन अमल सहज सुख रासी।।
सो मायावस भयउ गोसाईं। बंध्यो कीर मरकट की नाईं।
जड़ चेतनहि ग्रंथि परि गई। जदपि मृषा छूटत कठिनई।
तब ते जीव भयउ संसारी। छूट न ग्रंथि न होइ सुखारी।।
श्रुति पुरान बहु कहेउ उपाई। छूट न अधिक अधिक अरुझाई।
जीव हृदय तम मोह बिसेषी। ग्रंथि छूट किमि परइ न देखी।
अस संजोग ईस जब करई। तबहुं कदाचित् सो निरुअरई।
सात्त्विक श्रद्धा घेनु सुहाई। जौं हरि कृपा हृदय बस आई।
जप तप ब्रत जम नियम अपारा। जे श्रुति कह सुभ धर्म अचारा।।
तेइ तृन हरित चरै जब गाई। भाव बच्छ सिसु पाइ पन्हाई।।
नोई निवृत्ति पात्र बिस्वासा। निर्मल मन अहीर निज दासा।
परम धर्ममय पय दुहि भाई। अवटै अनल अकाम बनाई।।
तोष मरुत तब छमा जुड़ावै। धृति सम जावनु देइ जमावै।।
मुदिता मथै विचार मथानी। दम अधार रजु सत्य सुबानी।।
तब मथि काढ़ि लेइ नवनीता। बिमल बिराग सुभग सुपुनीता।।

दो०— जोग अगिनि करि प्रगट तब, कर्म सुभासुभ लाइ।
बुद्धि सिरावै ग्यान घृत, ममता मल जरि जाइ।।
तब बिग्यानरूपिनी, बुद्धि बिसद घृत पाइ।
चित्त दिआ भरि धरै दृढ़, समता दिअटि बनाइ।
तीनि अवस्था तीनि गुन, तेहि कपास तें काढ़ि।
तूल तुरीय संवारि पुनि, बाती करै सुगाढ़ि।।

सो०— एहि बिधि लैसे दीप, तेज रासि बिग्यानमय।
जातहि जासु समीप, जरहिं मदादिक सलभ सब।।

सोहमस्मि इति वृत्ति अखंडा। दीप सिखा सोइ परम प्रचंडा।।
आतम अनुभव सुख सुप्रकासा। तव भव मूल भेद भ्रम नासा।
प्रवल अविद्या कर परिवारा। मोह आदि तम मिटइ अपरा।
तव सोइ वुद्धि पाइ उंजिआरा। उर गृह वैठि ग्रंथि निरुआरा।
छोरन ग्रंथि पाव जौं सोई। तव यह जीव कृतारथ होई।।
छोरत ग्रंथि जानि खगराया। विघ्न अनेक करइ तव माया।
रिद्धि सिद्धि प्रेरइ वहु भाई। वुद्धिहि लोभ दिखावहि आई।
कल वल छल करि जाहि समीपा। अंचल वात वुझावहि दीपा।
होइ वुद्धि जो परम सयानी। तिन्ह तन चितव न अनहित जानी।।
जौं तेहि विघ्न वुद्धि नहिं वाधी। तौ वहोरि सुर करहि उपाधी।।
इंद्री द्वार झरोखा नाना। तहं तहं सुर वैठे करि थाना।।
आवत देखहि विषय वयारी। ते हठि देहि कपाट उघारी।।
जव सो प्रभंजन उर गृह जाई। तवहि दीप विग्यान वुझाई।
ग्रंथि न छूटि मिटा सो प्रकासा। वुद्धि विकल भइ विषय वतासा।
इन्द्रिन्ह सुरन्ह न ग्यान सोहाई। विशय भोग पर प्रीति सदाई।
विशय समीर वुद्धि कृत भोरी। तेहि विधि दीप को वार वहोरी।।

दोहा— तव फिरि जीव विविध विधि, पावइ संसृति क्लेस।
हरि माया अति दुस्तर, तरि न जाइ विहगेस।।
कहत कठिन समुझत कठिन, साधत कठिन विवेक।
होइ घुनाच्छर न्याय जो, पुनि प्रत्यूह अनेक।।

ग्यान को पंथ कृपान कै धारा। परत खगेस होइ नहिं वारा।
जो निर्विघ्न पंथ निर्वहई। सो कैवल्य परम पद लहई।
अति दुर्लभ कैवल्य परम पद। संत पुरान निगम आगम वद।
राम भजत सोइ मुक्ति गोसाईं। अनच्छित आवै वरियाई।
जिमि थल विनु जल रहि न सकाई। कोटि भांति कोउ करै उपाई।
तथा मोच्छ सुख सुनु खगराई। रहि न सकइ हरि भगति विहाई।।
अस विचारि हरि भगत सयाने। मुक्ति निरादर भगति लुभाने।।
भगति करत विनु जतन प्रयासा। संसृति मूल अविद्या नासा।।
भोजन करिअ तृप्ति हित लागी। जिमि सो असन पचवै जठरागी।।
अस हरि भगति सुगम सुखदाई। को अस मूढ़ न जाहि सोहाई।।

दोहा—सेवकसेव्यभावबिनु, भव न तरिअ उरगारि।
भजहु राम पद पंकज, अस सिद्धान्त बिचारि॥
जो चेतन कहं जड़ करै, जड़हि करै चैतन्य।
अस समर्थ रघुनायकहि, भजहिं जीव ते धन्य॥

इस भक्ति प्रवाह के समानान्तर वह दूसरी धारा वह रही थी जिसे निर्गुण पंथ या सन्तमत कहते हैं। निर्गुण कहने का तात्पर्य यह है कि इसमें किसी देवी देवता की पूजा नहीं होती, न ईश्वर की उपासना किसी मूर्ति के माध्यम से की जाती है। यह सीधा और प्रत्यक्ष योगाचार था। इसका प्रवर्त्तक किसी एक व्यक्ति विशेष को तो क्या कहा जाय, फिर भी इसको प्रशस्त करने का सबसे अधिक और सबसे प्रथम श्रेय कबीर को है। इसीलिए उनको बहुधा आदि सन्त भी कहा जाता है। कई प्रसिद्ध व्यक्तियों ने इस दुर्गम पथ पर चलकर लोगों को आध्यात्मिक कल्याण की दीक्षा दी है। इनमें से उदाहरण के लिए कुछ के ही नामों का संकेत किया जा सकता है जैसे : गुरुनानक, जगजीवनदास, पलटूदास, चरनदास, दादूदयाल, रैदास (रविदास) और गरीब दास। कुछ विशेष परिस्थितियों ने नानक के अनुयायियों को मुस्लिम शासकों से लड़नेवाली जाति के रूप में परिणत कर दिया, शेष महात्माओं के पंथ सारे उत्तर भारत में फैले हुए हैं। इनमें कुछ साधु और शेष गृहस्थ होते हैं। इन लोगों के सभी ग्रन्थ हिन्दी में हैं। कबीर ने एक जगह कहा है :

'संस्कृत कूप गभीर है, भाषा बहता नीर।'

सन्तमत नाथ और सिद्ध सम्प्रदायों के परवर्ती होने से उनसे बहुत कुछ प्रभावित हुआ है, यहाँ तक कि उनकी शब्दावली भी उसने बहुत दूर तक अपनायी है। परन्तु कुछ बातों में उस पर अपने समकालीन वैष्णवोत्थान का बहुत गहरा प्रभाव पड़ा है। उदाहरण के लिए सन्तों की वाणियों में बहुत जगहों पर ईश्वर के लिए उन्हीं नामों का प्रयोग हुआ है जिनका वैष्णव साहित्य में बाहुल्य है। राम, गोविन्द, गोपाल, नारायण, हरि—बहुधा यही सब नाम देख पड़ते हैं। कबीर एक जगह इस बात को दिखलाने का प्रयत्न करते हैं कि जब वह राम शब्द का व्यवहार करते हैं तो उनका तात्पर्य दाशरथि राम से नहीं होता। उनका विश्वास है कि राम नाम कहने से यदि आत्मकल्याण होने लगे तो खांड-खांड कहने से मुँह मीठा हो जायगा :

साधो बाद बदे सो झूठा,
राम के कहे जगत्गति पावै,
खांड कहे मुंह मीठा॥

यह बात सर्वथा सत्य है, परन्तु साधारण मनुष्य को यह भ्रम हो ही जाता है कि कबीर जैसे महात्मा जब राम जैसे शब्द के माध्यम से परमात्मा को याद करते हैं तो उनका तात्पर्य वही होता है जो तुलसी जैसे वैष्णव भक्त का। एक और वैष्णव प्रभाव पड़ा है। यद्यपि जैसा कि आगे दिखलाया जायगा, योग और भक्ति में विरोध नहीं है, फिर भी दोनों में कोई भेद न मान लेना भी भूल है। योग में कुछ न कुछ स्वावलम्बन की भावना होती है। कहा भी है :

नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः।

जो बलहीन है वह आत्मा का दर्शन नहीं कर सकता। परन्तु भक्ति पराश्रय के सहारे खड़ी होती है। भक्तिवादियों की देखा देखी निर्गुण पंथों पर भी यह प्रभाव पड़ा कि इनमें से बहुतों ने योगाभ्यास की जगह भजन शब्द का व्यवहार आरम्भ कर दिया। ऐसा नहीं है कि योग शब्द सर्वथा परित्यक्त हो गया हो। पलटू साहब एक जगह कहते हैं :

रन का चढ़ना सहज है मुश्किल करना योग।

परन्तु इसके साथ ही यह भी ठीक है कि भजन शब्द का व्यवहार बहुत बढ़ गया। एक और बात है। योग के लिए जिस दृढ़ निष्ठा की आवश्यकता मानी जाती है, जिस लगन के साथ ईश्वर साक्षात्कार के लिए प्रयास किया जाता है उसका भी विरह जैसा ही बहुधा वर्णन हुआ है।

निर्गुण प्रवाह अब भी चला जा रहा है। प्रसिद्ध राधास्वामी परम्परा उसी की एक शाखा है। इस समय भी बिहार में मेंहीदास जी उसका प्रचार कर रहे हैं। मेरी स्वयं गुरु परम्परा भी इसी से सम्बद्ध है। यह कहना अनावश्यक है कि सन्तमत का साहित्य योग और तत्सम्बन्धी विषयों के चर्चे से भरपूर है।

जिन दिनों सन्त मत का उदय और प्रसार हुआ भारत में काफी मुसलमान सूफी बाहर से आ कर बस चुके थे और यहां जन्म ले चुके थे। वह लोग योगाचार का पालन करते थे। परन्तु बहुधा प्रतीक भाषा में अपने भावों को व्यक्त करते थे और या फिर अरबी के पारिभाषिक शब्दों से काम लेते थे, जैसे नासूत, मलकूत, लाहूत इत्यादि। परन्तु कभी कभी इनमें से कोई महात्मा हिन्दी में प्रचलित योग सम्बन्धी शब्दों को भी अपना लेता था। उदाहरण के लिए चिश्ती घराने के शिष्य नियाज़ ने एक जगह लिखा है :

अव्वलो आखिरश चूं बेहद शुद।
जां सबब नाम ऊ व अनहद शुद।

यह उस दिव्य नाद के प्रसंग में है जिसकी, कहा जाता है कि योगियों को अनु-अनुभूति होती है। नियाज़ के अनुसार चूंकि उसका आदि और अन्त वेहद है। इसलिए उसका नाम अनहद पड़ गया। यह व्युत्पत्ति वहुत ठीक नहीं है। वस्तुतः अनहद अनाहत का विगड़ा हुआ रूप है। उस नाद को अनाहत इसलिए कहते हैं कि वह आघात से, अर्थात् दो वस्तुओं के एक दूसरे के टकराने से, उत्पन्न नहीं होता प्रत्युत स्वतः उत्पन्न होता है। परन्तु शब्द की व्युत्पत्ति के सम्वन्ध में भले ही भूल हो गयी हो यह तो स्पष्ट ही है कि नियाज़ अनहद शब्द से परिचित थे और यह भी जानते थे कि उसका अर्थ क्या है। कई मुसलमान साधुओं ने तो विल्कुल उसी ढंग की वाणियां कहीं है जैसे कि निर्गुण पंथ के उन महात्माओं ने जिनको हिन्दू कहा जा सकता है।

हिन्दू और मुसलमान में चाहे हज़ार मतभेद रहे हों और झगड़े फ़िसाद की नौवत आती रही हो परन्तु योग और उससे उत्पन्न ज्ञान वह मंच था जहां दोनों ही मिलते थे। सन्त योगी और मुस्लिम सूफ़ी मिलते थे, एक दूसरे के साथ सत्संग करते थे। सन्तों के शिष्यों में मुसलमान और सूफ़ियों में हिन्दू हुआ करते थे। आपस में मिलने जुलने के कारण एक दूसरे के पारिभाषिक शब्दों का भी कभी कभी प्रयोग होता रहता था। उदाहरण के लिए इन तीन रचनाओं को देखिए : प्रथम दो सूफी फ़कीरों की हैं और तीसरी एक प्रसिद्ध सन्त योगी की।

यारी साहव का शब्द :

झिलमिल झिलमिल वरखै नूरा, नूर जहूर सदा भरपूरा।
रुनझुन रुनझुन अनहद वाजै, भंवर गुंजार गगन चढ़ि गाजै।।
रिमझिम रिमझिम वरखै मोती, भयो प्रकास निरंतर जोती।।
निरमल निरमल निरमल नामा, कह यारी तहं लियो विस्रामाए।

वुल्लाशाह की वाणी :

टुक बूझ कवन छप आया है।
इक नुक़ते मे जो फेर पड़ा, तव ऐन गैन का नाम धरा।
जव मुरसिद नुक़ता दूर किया, तव ऐनो ऐन कहाया है।।
तुसीं इलम किताबां पढ़दें हो, केहे उलटे माने करदे हो।
वेमूजव ऐवें लड़दे हो, केहा उलटा वेद पढ़ाया है।।
दुई दूर करो कोई सोर नहीं, हिंदु तुरक कोइ होर नहीं।
सव साधु लखो कोइ चोर नहीं, घट घट में आप समाया है।।
ना मैं मुल्ला ना में काजी, ना मैं सुन्नी ना मैं हाजी।
वुल्ले साह नाल लाई बाजी, अनहद सबद बजाया है।

पलटू साहिब की वाणी :

साहेब साहेब क्या करे, साहेब तेरे पास।।
साहेब तेरे पास याद कर होवे हाजिर।।
अन्दर धंसके देख मिले तव साहेब नादिर।।
रूह करे मेराज कुफ्र का खुले कुलावा।
तीसो रोजा रहते अन्दर सात रकावा।
लामकान में रव्वको, पाया पलटू दास।
साहेब साहेब क्या करे साहेब तेरे पास।।

यदि ऊपर के अवतरणों में मुस्लिम सूफियों ने अनहद जैसे संस्कृत के तत्सम् शब्दों का व्यवहार किया है तो इसका तात्पर्य यह नहीं है कि उनके यहां उसके लिए पारिभाषिक शब्दों की व्यवस्था नहीं थी। एक सूफ़ी महात्मा कहते हैं :

खवर देह इलाही मरा जां मकाम।
कि वेसौत आंजा वेरोयद कलाम।।

परमात्मा मुझको उस स्थान का परिचय दे जहां विना शब्द के नाद गूँजता रहता है।

इस वात की ओर पहले भी संकेत किया जा चुका है कि वौद्ध धर्म के माध्यम से योग शब्द और योगाभ्यास की प्रक्रिया का प्रचार भारत और वाहर के देशों में पहुंचा। लंका, वरमा, श्याम में हीनयान तथा मध्य एशिया, तिव्वत, चीन, कोरिया और जापान में महायान का प्रचार हुआ। महायान सम्प्रदाय तांत्रिक उपासना शैली से ओतप्रोत है। हीनयान उससे प्रायः अस्पृष्ट है परन्तु योग का चर्चा तो दोनों में ही है। विदेशों में पहुंचकर योग और योग सम्वन्धी अन्य पारिभाषिक शब्दों की तत्तत् देशों की वोलियों के अनुसार काया वहुत वदल गयी। यहां तक कि उनको पहिचानना भी कठिन हो गया है। उदाहरण के लिए चीन और जापान में ध्यान शब्द का वहुत चर्चा रहता है और जव तक वहुत यत्नपूर्वक विचार न किया जाय तव तक इस रूप में ध्यान शब्द को पहिचानना कठिन हो जाता है।

वर्त्तमान काल में पिछले सौ डेढ़ सौ वर्षों में पश्चिम के देशों और भारत के वीच में अन्य-वातों के साथ साथ वैचारिक आदान प्रदान भी वहुत हुआ है। भारतीय वाङमय का वड़े विस्तार से अनुवाद किया गया है और विश्वविद्यालयों में भी उनके अध्ययन से अध्यापन की प्रचुर मात्रा में व्यवस्था है। इस युग के आरम्भ में कुछ पादरियों

ने निश्चय ही भारत के आध्यात्मिक अनुशीलन को विकृत रूप में दिखलाने का प्रयत्न किया था। परन्तु अब तो बहुत दिनों से भारतीय विद्वान् और धर्म प्रचारक उन देशों में जाते रहे हैं और पाश्चात्य जगत् के सामने भारत के सच्चे चित्र को रखने में बहुत दूर तक सफल भी हुए हैं। उपनिषदों के अनुवाद तो बहुत पहले से पाश्चात्य विद्वानों को प्रभावित कर चुके हैं। भगवत् गीता, को भी यही गौरव प्राप्त हैं। जब शोपेनहार ने यह कहा था कि "उपनिषदों का अध्ययन मेरे जीवन को सान्त्वना देता रहा है और मृत्यु के समय भी मुझे सान्त्वना देगा" तो उपनिषद् ग्रन्थों के तत्वमसि और अहम् ब्रह्मास्मि जैसे वाक्यों के साथ साथ उनके योग का महत्त्व बतलाने वाले वाक्य भी पश्चिमी जगत् के सामने पहुंच चुके थे। उपनिषदों में स्पष्ट शब्दों में कहा है कि यम ने नचिकेता को केवल ब्रह्म ज्ञान की शास्त्रीय व्याख्या नहीं पढ़ायी वरन् **योगविधिं च कृत्स्नम्**—(सम्पूर्ण योग विधि) भी बतलायी। भगवत् गीता का पश्चिम की सभी भाषाओं में अनुवाद है। जो लोग उस पुस्तक को पढ़ते होंगे वह जहां एक ओर वासुदेवः सर्वमिति यह सब वासुदेव है, इस तात्त्विक उपदेश को ग्रहण करते होंगे, वहां छठें अध्याय के योग शासन को पढ़ते ही होंगे। स्वामी विवेकानन्द और स्वामी रामतीर्थ के भाषणों में भी भारतीय विचारधारा का परिचय कराया गया है। स्वामी विवेकानन्द की पुस्तक राजयोग तो मुख्य रूप से अंग्रेजी जानने वाले पाठकों के लिए लिखी गयी है। पश्चिम में ऐसे लोगों की संख्या बराबर बढ़ती ही जाती है जो योग के विषय में अभिरुचि ले रहे हैं। पैरासाइकालोजी सम्बन्धी शोधों ने एतद्विषयक जिज्ञासा को और भी उद्दीप्त कर दिया है।

अभी तक जिस सन्दर्भ में योग शब्द का चर्चा हुआ है उससे भिन्न स्थलों पर भी कभी कभी इसका उपयोग होता है। श्रीकृष्ण ने गीता में एक जगह कहा है कि **योगः कर्मसु कौशलम्**—कुशलता के साथ कर्म करने का नाम योग है। कभी कभी तो ऐसे भी प्रयोग होते हैं जो भ्रामक हो सकते हैं। ज्योतिष में ग्रहों और नक्षत्रों की विशेष स्थितियों को योग कहते हैं। इसी प्रकार आयुर्वेद में औषधियों के सम्मिश्रण से योग बनते हैं। इन स्थलों पर तो अभिवार्थ से काम चल जाता है, शब्द का अर्थ निकल आता है। परन्तु कहीं कहीं तो बहुधा धोखा होता है। उदाहरण के लिए आयुर्वेद में समाधि शब्द विलक्षण अर्थ में आता है। जब वात, पित्त और कफ तीनों दोष एक साथ उद्दीप्त होते हैं तो उस अवस्था को सन्निपात कहते हैं तथा जिस समय यह तीनों दोष समान रूप से एक साथ शान्त हो जाते हैं तो उस अवस्था को समाधि कहते हैं। यह स्पष्ट ही है कि यह अवस्था मरण की सूचक है।

इस अध्याय में मैंने इस बात का दिग्दर्शन कराने का प्रयत्न किया है कि भारत के कई सहस्र वर्षों के इतिहास में योग और उससे सम्बन्ध रखने वाले शब्दों का व्यवहार

धार्मिक और आध्यात्मिक वाङमय में जो भारतीय आत्मा की अभिव्यक्ति का सबसे विशद और व्यापक माध्यम है, सर्वत्र व्याप्त हो गया है। हमारे आध्यात्मिक जीवन ने बहुत से परिवर्तन देखे। उसने कई मोड़ लिये। पर योगाचार से दूर कभी नहीं गया। यह वह दृढ़ यष्टि थी जिसने हमारे जीवन को शब्दाडम्बर मात्र में बहकने से बराबर रोका है और उसको गाम्भीर्य प्रदान किया है। जहां जहां भारतीय प्रभाव पहुंचा वहां वहां योगाचार भी पहुंचा और आज भी उसका सौरभ दिगन्त में फैल रहा है। आज के युग में भौतिकता का सर्वत्र साम्राज्य है। भारत स्वयं इससे आक्रान्त हो रहा है। भौतिकता के कारणों से श्रद्धा बहुत कम हो गयी है। फिर भी योग में अभिरुचि है और बढ़ती जा रही है।

सम्भवतः किसी के चित्त में यह शंका उठ सकती है कि अध्यात्म से तो योग से सम्बन्ध है परन्तु धर्म से तो उसका कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं है। धर्म तो मुख्यतया आचार, सदाचार का नाम है। इस प्रसंग में मनुस्मृति का यह वाक्य ध्यान में रखने योग्य है :

अयं तु परमो धर्म्मः, यद् योगेनात्मदर्शनम् ।

योग के द्वारा आत्मा का दर्शन करना सबसे बड़ा धर्म है।

अध्याय २

योग और योगी के सम्बन्ध में विभिन्न विचार

जो शब्द इतना व्यापक हो और जिसका प्रचार इतने दीर्घ काल से होता आ रहा हो, उसके अर्थ के सम्बन्ध में लोगों में पर्याप्त अभिज्ञता होनी चाहिये। खेद है कि हम योग के सम्बन्व में यह बात निश्चित रूप से नहीं कह सकते। योग शब्द का कुछ तो अर्थ लोकबुद्धि में है ही और उस अर्थ में योग के शास्त्रीय अर्थ की कुछ प्रतिच्छाया भी है ही, इतना मानते हुए भी यह कहना पड़ता है कि एक प्रकार से योग के सम्बन्व में "मुंडे मुंडेमतिर्भिन्ना" जितने व्यक्ति हैं उतने ही योग के अर्थ। स्वभावतः योग के साथ योगी का अर्थ भी सब के लिए एक सा नहीं है।

हमारे नगरों और ग्रामों में बहुधा घूमते फिरते "जोगी" देख पड़ जाते हैं। जोगीपन इन लोगों का पैतृक व्यवसाय है। पूरा नहीं तो शरीर के ऊपरी भाग का कपड़ा तो गेरुए रंग का होता है, नीचे धोती भले ही श्वेत हो। गले में मालाएं पड़ी होती हैं, हाथ में भी काला धागा प्रायः बंधा रहता है। इनमें कोई कोई गऊ या बैल लेकर निकलते हैं। कभी कभी तो बैल के पीठ पर कोई कृत्रिम विकृत अंग लगा रहता है। झाड़ फूंक, जादू टोना, गंडा तावीज देना, यही इनका काम है। बहुधा गोपीचन्द भरथरी आदि से सम्बन्ध रखने वाले गीत भी गाते हैं। बहुत सम्भव है कि किसी समय इनके पूर्व पुरुषों का किन्हीं योगी सम्प्रदायों से सम्बन्ध रहा हो। पीछे से यह लोग धीरे धीरे गृहस्थ हो गये और अब किसी न किसी रूप में भिक्षा मांगना ही इनका व्यवसाय रह गया। बस रंगा कपड़ा, और कुछ सिद्ध नाथों की रचनाएं पुराने सम्बन्ध की याद दिलाती हैं। कहने को अब भी अपने को "जोगी" कहते जाते हैं।

यह स्पष्ट ही है कि इस प्रकार योगी का जो चित्र लोकबुद्धि पर खिचता है वह आदरास्पद नहीं होता। कुछ साधु वृन्दों ने भी बड़ा ही विकृत रूप जनता के सामने रखा है। उदाहरण के लिए अघोर पंथ को लिया जा सकता है। इस शब्द का लोक में प्रचलित भ्रष्ट रूप "अघोरी" है।

रुद्र के पांच मुख हैं–ईशान, सद्योजात, तत्पुरुष, वामदेव, और अघोर। इन मुखों से युक्त रुद्र शंकर की पांच मूर्तियां हैं। पांचों की उपासना होती है, पांचों के

मंत्र पृथक् हैं। शैव समुदाय में ऐसा विश्वास है कि "अघोरान्नापरो मंत्रः" अघोर से श्रेष्ठ कोई मंत्र नहीं है, अघोर की उपासना सर्वश्रेष्ठ है।

यजुर्वेदोक्त अघोर मंत्र इस प्रकार है :

अघोरेभ्योऽथ घोरेभ्यो घोरघोरतरेभ्यः।
सर्वेभ्यः सर्वशर्वेभ्यो नमस्ते अस्तु रुद्ररूपेभ्यः॥

परन्तु आज के अघोरी मत में नाम के सिवाय इस वैदिक अघोर मार्ग से कोई साम्य प्रतीत नहीं होता। जहां तक मैं देख पाया हूं, वे लोग शैव नहीं हैं। तांत्रिकों की भांति वे लोग भी मद्य और मांस का व्यवहार करते हैं परन्तु उनकी उपासना शैली में मैथुन का कोई स्थान नहीं है। उनके आचार में कई बातें बड़ी ही घृणास्पद और अमेध्य होती हैं। कोई कोई अघोरी साधु मलमूत्र तक को खाते पीते देखा जाता है। लोगों का विश्वास है कि ये लोग शुद्ध खाद्य और पेय वस्तुओं को अपनी योगजन्य शक्ति से ऐसे दिखावटी भ्रष्ट रूप दे दिया करते हैं ताकि लोग उनसे घिन मानकर दूर रहें और संसारी कामों के लिए तंग न करें। मैं नहीं जानता कि किसी को सचमुच किसी अघोरी साधु में ऐसी शक्ति का प्रमाण मिला है या नहीं परन्तु अपने घर के बगल से बहती म्युनिसिपल गंदी नाली में से निकाल कर पानी पीते तो मैंने स्वयं देखा है। उस समय मैं आठ-नौ वर्ष का रहा हूंगा।

साधारण "जोगी" तो भिक्षुक है पर अघोरी से लोग डरते हैं। वर्तमान अघोरी सम्प्रदाय के प्रवर्तक तो बाबा किनाराम जी प्रसिद्ध हैं। वह काशी के राजा चेतसिंह के समसामयिक थे। दो ढाई सौ वर्ष हुए होंगे। किनाराम जी के महायोगी होने की प्रसिद्धि तो है ही, उनके परवर्तियों में भी कई सिद्ध पुरुष हो गये हैं, ऐसा माना जाता है। उन लोगों की सिद्धि की धाक बैठी हुई है, लोग समझते हैं कि अब भी इन साधुओं में कई अच्छे योगी होते हैं।

साधारणतः ऐसा विश्वास है कि योगी ऐसा पुरुष होता है जिसने कठोर साधना के द्वारा चमत्कारी कामों को करने की क्षमता प्राप्त कर ली है। "चमत्कारी" से मेरा तात्पर्य ऐसे कामों से है जो भौतिक साधनों से काम लिए बिना किये जायं या यों कहिये कि जो ऐसे साधनों से सम्पन्न हों जो मनुष्यों को साधारणतः उपलब्ध न हों। यदि कोई मनुष्य हवा में उड़ता है या पेड़ पर बैठ कर घूमता फिरता है तो यह चमत्कारी काम होगा। कोई व्यक्ति इन कामों को कर सकता है या नहीं, यह न्यारी बात है, पर लोग ऐसा मानते हैं कि योगी लोग ऐसा कर सकते हैं। जिस शक्ति का संचय लंबी साधना के द्वारा किया जाता है उसको सिद्धि शक्ति या सिद्धि कहते हैं। सिद्धियां छोटी

बड़ी अनेक प्रकार की होती हैं। दूर की वस्तु देख लेना या दूर की वात सुन लेना, स्पर्श करके या यों ही दृष्टि मात्र से किसी को रोगमुक्त कर देना, ऐसे कामों की गणना छोटी सिद्धियों में है परन्तु आठ बड़ी सिद्धियां मानी जाती हैं। इनको अष्टमहासिद्धि कहते हैं। इनके नामों के सम्बन्ध में थोड़ा बहुत मतभेद है पर मुख्यतया यह नाम लिये जाते हैं :

(१) अणिमा—अपने को परमाणु के समान हल्का बना लेना
(२) गरिमा—अपने को जितना चाहे भारी बना लेना
(३) लघिमा—अपने को जितना चाहे छोटा बना लेना
(४) महिमा—अपने को जितना चाहे बड़ा बना लेना
(५) वशित्व—दूसरों को अपने वश में कर लेना
(६) यथाकामावसायित्व—समूचे विश्व में चाहे जहां पहुंच जाना
(७) प्राप्ति—गुप्त से गुप्त वस्तुओं को प्राप्त कर लेना
(८) ईशित्व—ईश्वरभाव, दूसरों की रक्षा करने की सामर्थ्य

यों तो यदि किसी व्यक्ति में ऐसे अद्भुत कामों के करने की शक्ति हो तो लोग उससे डरेंगे भी, उसका सम्मान भी करेंगे परन्तु योगियों की जो वात लोगों को सबसे अधिक प्रभावित करती है वह उनकी अनुग्रह-निग्रह की शक्ति है। अनुग्रह से तात्पर्य है आशीर्वाद देना और निग्रह से शाप देना। लोग योगियों से धन, अभ्युदय, सन्तान की भीख मांगते ही रहते हैं और उनके रुष्ट होने से डरते भी रहते हैं।

इस विषय का आगे चलकर पुनः किंचित विस्तार से निरूपण होना है अतः इसे तो मैं यहीं छोड़ता हूं।

योगी लोग चमत्कारिक कामों को करने की शक्ति रखते हैं—यह विश्वास हमारी सैंकड़ों वर्षों की अनुश्रुतियों से हमको मिला है। देव देवियों की विलक्षण सिद्धि शक्तियों से युक्त होने का चर्चा तो मिलता ही है, साधु और महात्माओं के सम्बन्ध में भी ऐसी कथाओं का प्राचुर्य है। प्रायः प्रत्येक ऋषि के सिद्धियुक्त होने की कथा मिलती है। वशिष्ट, विश्वामित्र और व्यास, सब के सम्बन्ध, में ऐसी वातें कही जाती हैं। दुर्वासा के शाप से वड़े वड़े राजा महाराजा कांपते थे। च्यवन ऋषि ने सभी देवों के आसन हिला दिये थे। वृहदारण्यक उपनिषद् के अनुसार जब याज्ञवल्क्य से कोई बहुत कठहुज्जती करता था तो वह उससे कहते थे कि अब बकबक न करो नहीं तो—मूर्धा ते व्यपतिष्यति—तुम्हारा सिर फट कर गिर जायगा। सावधान न होने पर एक व्यक्ति को इस प्रकार प्राण देने ही पड़े। कम से कम एक बार तो बुद्धदेव के भी ऐसा करने की कथा मिलती है। राम, कृष्ण के सम्बन्ध में भी इसी प्रकार बहुत सी कथाएं प्रसिद्ध

हैं। नारद जी एक स्थान से दूसरे स्थान को प्रायः आकाश मार्ग से ही जाया करते थे। दूसरे देशों के महापुरुषों के सम्बन्ध में भी ऐसी ही कथाएं प्रसिद्ध हैं और ऐसी चमात्कारिक कथाओं की परम्परा में अब भी वृद्धि होती जाती है। उत्तर प्रदेश के गाजीपुर जिले में भुरकुड़ा नाम का एक गांव है। वहां सन्तमत के भीखा साहब नाम के एक महात्मा हो गये हैं। उनके सम्बन्ध में एक कथा प्रचलित है कि एक बार सवेरे अपने घर के पास एक टूटी दीवारे पर बैठे दातुन कर रहे थे। इतने में समाचार मिला कि आपसे मिलने एक महात्मा शेर पर चढ़ कर आये हैं। भीखा साहब ने कहा कि मेरे पास तो कोई सवारी नहीं है जिस पर चढ़कर उनका स्वागत करूं। चल भीत तू ही चल और भीत उनको लिये आगे बढ़ चली। ऐसी ही कथा महाराष्ट्र के संत ज्ञानेश्वर के संबंध में सुनी जाती है। ऐसी कथाओं की सृष्टि थोड़ी बहुत आज भी होती रहती है। जिसको किसी साधु महात्मा पर श्रद्धा होती है उसको उस महापुरुष की साधारण से साधारण बात में सिद्धि शक्ति के प्रमाण मिलते हैं। इतना ही नहीं, लोग किसी व्यक्ति को योगी या अच्छा साधु तब तक मानने को तैयार नहीं होते जब तक उसमें ऐसे असाधारण शक्ति के प्रमाण न मिल जायं। मैंने स्वयं इस प्रकार का एक दृश्य देखा है। काशी में थियोसोफिकल सोसायटी का वार्षिक कन्वेंशन हो रहा था और उसमें प्रवचन करने के लिए श्री कृष्णमूर्ति आये थे। उनको सोसायटी में अवतारी पुरुष और युग महात्मा माना जाता था। पानी बड़े जोरों का बरसा और शामियानाने आदि गिर गये। दूसरे दिन एक व्यक्ति ने उनसे लिखकर पूछा कि देवगण आपसे क्यों असहयोग कर रहे हैं? ऐसे अवसर पर ईसा और दूसरे महापुरुषों ने आंधी-पानी को शान्त करके अपने प्रवचन जारी रखे थे।

यह कोई जरूरी बात नहीं है कि जिस योगी में सिद्धियां देखी जायं वह नैतिक दृष्टि से सर्वथा निर्विकार हो। प्राचीन काल में भी विश्वामित्र आदि कई महात्माओं की ऐसी कथाएं मिलती हैं जो नैतिकता के कठोर मार्ग से स्खलित हो गये। वे सदा के लिए पतित नहीं हुए परन्तु एक बार तो च्युत हुए ही। ऐसे तो कई साधुओं के उपाख्यान मिलते हैं जिन्होंने राज्य या अन्य भोग के लिए दीर्घ तप किया और कुछ सिद्धि प्राप्त की। लोकबुद्धि ऐसी बातों से बहुत क्षुब्ध नहीं होती। वह मान लेती है कि यह मार्ग इतना कठिन है कि इस पर चलने वाला कभी कभी फिसल जाता है। मानव चरित्र का दीर्घ अनुभव ऐसे गिरने को भी सहानुभूति का पात्र बना देता है।

जब लोग किसी को योग के ऊंचे आसन से भ्रष्ट होते देखते हैं तो या तो उसको दया की दृष्टि से देखते हैं या हंस देते हैं, उभयतः यह समझते हैं कि यह बड़ी कठिन सीढ़ी है, इस पर चढ़ना बड़े जीवट का काम है—क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया—

तीखे छुरे की धार है, जिस पर चलना बहुत कठिन है। इस सम्बन्ध में कबीर ने कहा है :

साध संग्राम है विकट बेड़ा मती, सती और सूर की चाल आगे।
सती घमसान है पलक दो चार का, सूर घनसान पल एक लागे।
साध संग्राम है रैन दिन जूझना, देह पर्यन्त का काम भाई।
कहत कबीर टुक बाग ढीली करै, उलट मन गगन से जमीं आई।।

यही कह सकते हैं कि "यहि सर बावत अति कठिनाई" लोकबुद्धि भी इस बात को समझती है।

यह सब तो एक प्रकार से योगी के बाहरी रूप की नाप-तोल है, योगी क्या करता है या कर सकता है इससे उसके अन्तरंग का वह क्या है—का अनुमान लगाया जाता है। सामान्यतः इसके सिवाय जनसाधारण के लिए कुछ और सम्भव भी नहीं है। योगी के सत्संग में दीर्घ काल तक बैठ कर उसके विषय में जानकारी प्राप्त करने का सब को अवकाश नहीं है।

योग शब्द 'युज्' धातु से निकला है जिसका अर्थ है मिलना, जुड़ना। यह माना जाता है कि योग वह क्रिया कलाप है जिससे जीवात्मा परमात्मा से मिलता है। अतः योगी वह व्यक्ति है जिसका आत्मा परमात्मा से मिल चुका है या मिलने का प्रयास कर रहा है। साधारण व्यक्ति तो इन बारीकियों को जानता, समझता नहीं परन्तु जो लोग सिद्धान्ततः योग को जीवात्मा और परमात्मा के मिलने का साधन मानते हैं, वे जीव और ईश्वर के विषय में विभिन्न मत रखते हैं। किसी के मत में वे दोनों विजातीय हैं। एक दूसरे से भिन्न हैं और रहेंगे। इनके मिलने का अर्थ यही है कि जीव अपने दोषों के ऊपर उठकर ईश्वर के अनन्त तेज, अनन्त सौंदर्य, अनन्त माधुर्य का नित्य अनन्त आनन्द लेता रहे। दूसरों के अनुसार जीव और ईश्वर सजातीय हैं, जीव ईश्वर का अंश है। वस्तुतः ईश्वर को टुकड़ों में बांटने वाला कोई पदार्थ नहीं है। अज्ञानवशात् यह अंश-अंशी का भाव उत्पन्न हो गया है। योग के द्वारा यह अविद्या दूर हो जाती है और जीव को ईश्वर से अपने अभेद का अनुभव हो जाता है और वह अपने शुद्ध रूप में स्थित हो जाता है। यह तो स्पष्ट ही है कि जो लोग ईश्वर के सम्बन्ध को अंश-अंशी भाव के रूप में नहीं मानते उनको योग के विषय में इस प्रकार के मत अमान्य होंगे।

श्रीकृष्ण ने भगवद्गीता में कहा है—"समत्वं योग उच्यते"—समत्व को योग कहते हैं। स्पष्ट ही यहां साध्य और साधन दोनों के लिए एक ही शब्द का व्यवहार हुआ है। समत्व के अभ्यास से योगमार्ग पर चलने में सफलता मिलती है और ज्यों ज्यों अभ्यासी आगे बढ़ता है उसमें समत्व की दृढ़ता आती है। समत्व योग की परिभाषा

नहीं है, योगी का अनिवार्य आनुषंगिक गुण है। कोई किसी भी सम्प्रदाय का हो, समत्व की महत्ता को सभी स्वीकार करते हैं। जिसमें यह गुण नहीं है वह और चाहे जो कुछ हो परन्तु योगी नहीं कहा जा सकता। समत्व का स्वरूप श्रीकृष्ण ने स्वयं गीता के द्वितीय अध्याय में बतलाया है :

> दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।
> वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥५६॥
> यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत् प्राप्य शुभाशुभम्।
> नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥

जो सुख के प्रति निःस्पृह रहता है और दुःख से उद्विग्न नहीं होता, जो रागमय और क्रोध से परे रहता है, उसको स्थिति बुद्धि कहते हैं। जो शुभाशुभ के प्राप्त होने पर सदा निर्लिप्त रहता है, न प्रसन्न होता है न द्वेष करता है, उसकी बुद्धिस्थित है। श्रीरामचन्द्र की समत्वपूर्ण बुद्धि का तुलसीदास जी ने यों वर्णन किया है :

> प्रसन्नतां या न गताभिषेकतः, तथा न मम्लौ बनवासदुःखतः।
> मुखाम्बुजश्री रघुनन्द नस्य मे ......"॥

श्री रघुनन्दन के मुखकमल की श्री न तो अभिषेक से प्रसन्न हुई न वनवास के दुःख से मलिन हुई। योगी के लिए सुख-दुख, हर्ष-शोक,मान-अपमान दोनों बराबर हैं। श्रीकृष्ण ने यह उपदेश दिया है :

> योगस्थः कुरु कर्म्माणि, संगं त्यक्त्वा धनंजय।
> सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा, समत्वं योग उच्यते॥ ४८

हे धनंजय, योगभाव में स्थित होकर कर्म करो। कर्म के फल के प्रति मोह छोड़ दो और सिद्धि तथा असिद्धि में समान भाव से रहो—कर्तव्यबुद्धि से कर्म करो, फल की लिप्सा से नहीं। समत्व को योग कहते हैं।

जो लोग योग को जीवेश्वर संयोग का साधन नहीं मानते, वह भी उसकी उपयोगिता स्वीकार करते हैं। उनकी मान्यता को यों समझ सकते हैं। किसी कटोरी में जल डालकर उसमें सोने का टुकड़ा डाल दिया जाय। वह नीचे डूब जायगा। यदि जल शुद्ध और निश्चल हो तो हम उस सोने के टुकड़े को देख सकते हैं परन्तु यदि उसमें मिट्टी मिली हो और वह हिल रहा हो तो सोना या तो देख पड़ेगा ही नहीं या विकृत रूप में। उसको देखने के लिए ऐसा उपाय करना होगा कि जल की मिट्टी निकल न जाय तो कम से कम नीचे बैठ जाय और बर्तन का हिलना बंद हो जाय। आत्मा सोने की

भांति शुद्ध बुद्ध चैतन्य है परन्तु हम उसका सीधा साक्षात्कार नहीं करते, चित्त के माध्यम से करते हैं। चित्तरूपी जल उसकी यथावत् अनुभूति नहीं होने देता। चित्त में पहला दोष तो कामक्रोधादि वासनाएं हैं, पुराने संस्कार हैं। इन सब को मल कहते हैं। दूसरा दोष यह है कि चित्त चंचल रहता है। इस दोष का नाम विक्षेप है। चित्त की चंचलता योगाभ्यास से दूर होती है। प्रायः वेदान्त के आचार्य योगाभ्यास की जगह निदिध्यासन शब्द का व्यवहार करते हैं। निदिध्यासन से समाधि में स्थित निश्चल चित्त में आत्मस्वरूप को आवृत करने की शक्ति नहीं रह जाती। तब आत्मसाक्षात्कार होता है। इस प्रकार योग कोई नयी शक्ति नहीं प्रदान करता और न कोई नयी योग्यता उत्पन्न करता है परन्तु आत्मदर्शन के मार्ग में चित्त द्वारा उत्पन्न हुई बाधा को दूर करता है, जिस चश्मे से देखता है उसको स्वच्छ कर देता है। इसीलिए अपने वेदान्त भाष्य में योगदर्शन के सिद्धान्त का खंडन करके भी श्री शंकराचार्य्य ने यह स्पष्ट कर दिया है कि योग की क्रिया का खंडन उनको अभीष्ट नहीं है। स्वयं सूत्रकार व्यास ने "आसीनः सम्भवात्" जैसे सूत्रों में इस ओर संकेत किया है।

आजकल शिक्षित समुदाय का ध्यान एक विशेष प्रसंग में योग की ओर गया है। योग के सम्बन्ध में मयूर आसन, सर्वांगासन, हलासन, शीर्षासन, जैसे कई आसनों के नाम लिये जाते हैं। इनमें से कई स्वास्थ्य के लिए उपयोगी हैं और किसी किसी रोग का शमन भी करते हैं। कुछ स्थानों में इनकी नियमित शिक्षा दी जाती है। इनमें लोनावला का कैवल्यधाम विशेष प्रसिद्ध है। लोगों को आसनों से लाभ होता है, इसमें सन्देह नहीं है। बहुत लोग इस उद्देश्य से आसनों की ओर प्रवृत्त हो रहे हैं। उनके लिए योग का इतना ही उद्देश्य है।

मैं पहिले अध्याय में कह आया हूं कि अब योग शब्द पश्चिम देशों में पहुंच गया है। वहां योग के विषय में बहुत अभिरुचि ली जा रही है और योग विषयक साहित्य बड़े चाव से पढ़ा जाता है। पाश्चात्य जगत् जहां भौतिक उन्नति में जगद्वन्द्य है वहां वह धीरे धीरे भौतिकता से ऊब भी चला है। परमाणु शक्ति से खेल रहा है और अपने इस भयानक खिलौने के सम्भव परिणामो को सोचकर कांप भी रहा है। वह त्राण चाहता है और वह त्राण उसको अध्यात्म की शरण जाने में ही देख पड़ता है। अध्यात्म में और तो बहुत सी बातें आडंबर जैसी प्रतीत होती हैं, योग ही ठोस और निश्चित फलदायक प्रतीत होता है। अतः कुछ पश्चिमी विचारकों के कथनों को देना भी उचित प्रतीत होता है। मुझे दृढ़ विश्वास है कि इन लोगों के निष्ठापूर्ण वाक्य भारतवासियों के लिए भी हितकर सिद्ध होंगे। यहां बहुत से लोग योग की बात किस्से-कहानी की भांति पढ़कर सन्तुष्ट हो जाते हैं पर इन पाश्चात्य जिज्ञासुओं के सामने वैयक्तिक और सामूहिक जीवन मरण की समस्याएं हैं। उन समस्याओं का सामना हमको भी करना

होगा पर अभी हमने गहराई से सोचना नहीं सीखा। हमको लगता है कि जिन विपत्तियों की पश्चिम में कल्पना की जा रही है वे हमसे बहुत दूर हैं। यह हमारी अदूरदर्शिता है। बुद्धिमानी इसी में है कि इस अनागत परन्तु अवश्यम्भावी दिन के लिए अभी से तैयारी करें। यह पश्चिम की बुद्धिमानी है कि वह यह समझता है कि मानव समाज के त्राण और कल्याण तथा मानव बुद्धि की परिशुद्धि योग के द्वारा होगी और वेदान्त के शरण में जाने से मनुष्य उस व्यापक आत्महत्या से बच जायगा जिसकी ओर वह इस समय बड़े वेग से भागा जा रहा है। अपनी भौतिक उन्नति की चकाचौंध में उसे मार्ग स्पष्ट नहीं देख पड़ता और जो कुछ देख पड़ता है उससे घबराया हुआ भी वह अपने थर्राते पावों को रोक नहीं सकता। भारत यदि अपनी पुरानी विधि का आदर करना और उपयोग करना सीखे तो समूचे जगत् का हित कर सकता है।

प्रसिद्ध विचारक पितिरिम ए० सोरोकिन द्वारा सम्पादित एक बहुत अच्छी पुस्तक है जिसका नाम है "फार्म्स एण्ड टेकनीक्स आफ आल्ट्रयुइस्टिक एण्ड स्पिरिच्युअल ग्रोथ" इसमें कई विद्वानों के निबंधों का संग्रह है। कुछ कुछ दृष्टिकोणों में यत्र तत्र अन्तर है परन्तु उद्देश्य सब का एक ही है, ऐसे उपायों का अन्वेषण करना जिनसे मनुष्य की आध्यात्मिक उन्नति हो और उसका जीवन स्व-केन्द्रित रहने के बदले विश्व केन्द्रित हो जाय अर्थात् उसका विश्व के साथ तादात्म्य हो जाय। मैं उदाहरण के लिए इस पुस्तक में से एकाध अंशों का अनुवाद देता हूं और अंग्रेजी जानने वालों की सुविधा के लिए मूल भी दिये देता हूं।

"पश्चिमी जिज्ञासु के कदम सदा बाह्य जगत् की ओर मुड़े होते हैं। परन्तु हिन्दू सत्य की खोज अपने भीतर करता है। वह इस मार्ग पर २६ सौ वर्षों से चलता आ रहा है। इसलिए हमसे बहुत आगे हो गया है। उसकी इस लम्बी यात्रा ने उसको बहुत पहले यह सिखला दिया है कि बाहर और भीतर, द्रष्टा और दृश्य, का भेद एक विशेष दृग्-बिन्दु से लुप्त हो जाता है। हम पश्चिम वालों को अभी उसी प्रारम्भिक सत्य का मुश्किल से आभास मिलने लगा है। ज्ञानी के लिए, जिसको वेदान्त में जीवन मुक्त कहते हैं, हमारे जीवन का, हमारी सत्ता का जो शाश्वत बिन्दु है वही सत्य है। इन्द्रियों के द्वारा जो कुछ प्रतीत होता है या बुद्धि में जो विचार उठते हैं, वह सत्य नहीं हैं। उस स्तर पर सभी विशेषणों का अतिक्रमण हो जाता है। तर्क के द्वारा उस सत्य को नाम देने का प्रयत्न करना व्यर्थ का प्रयास है, उसका नाम हो ही नहीं सकता।

इस बात का ज्ञान प्राप्त करने के पहले कि वह वस्तुतः क्या है, मनुष्य को बहुत कुछ भूलना होगा। अपनी शिक्षा के इस स्तर पर उसको इस बात का पता चलेगा कि उसने बहुत से झूठे तादात्म्य स्थापित कर लिये थे। बहुत सी ऐसी वस्तुओं को मैं और मेरा समझ लिया था जिनसे उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। उन्होंने उसके जीवन

को छोटे बच्चों की भांति स्वकेन्द्रित बना दिया। वह हर बात को अपनी ही दृष्टि से देखता है।"[१]

"आज भारतीय दर्शन का धीरे धीरे हर जगह प्रवेश हो रहा है। अब उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। सम्भव है ऐसा समय आने वाला है जब कि दर्शन के इतिहास में हम प्लेटो और अरस्तू के नामों के साथ शंकर और नागार्जुन का और हीगेल के साथ अरविन्द का नाम लेने लगेंगे। यह जगत् तब एकीकरण के लिए तैयार हो जायगा। उस समय पूर्वी और पश्चिमी सभी संस्कृतियां मिलकर मनुष्य की वैचारिक प्रगति का सम्मिलित इतिहास बन जायंगी और इतिहास मनुष्यका जीवन चरित्र बन जायगा।"[२]

---

१. In contrast to the occidental inquirer whose steps are turned towards the "external world," it is within himself that the Hindu sets out for reality. He has been on his way for over twenty-six centuries; and this gives him a real start on us. His peregrination has long since taught him that the words "external" "internal", "subject" and "object" lose their significance from a certain point of view. We in the occident have barely begun to suspect this elementary truth. For the sage--or freed alive, according to the Vadantist expression-the Real is the permanent axis of our being, and not the perception which our senses evoke or the concept erected by the intellect. It is the intimate experience of individuality, it is revealed in transcendence of all qualification. Dialectic is vain when it would give to that-the unnameable-a name.

Before learning to know what he really is, man has first to unlearn. During this negative phase of instruction, he discovers and rejects the false identifications which have until then caused fixation at infantile stage of egocentrisn. ('The Contemporary Sciences and the Liberative Experience of Yoga' by Roger Godel).

२. Today, moreover, this Indian philosophy is every-

"जितना ही कोई मनुष्य प्राचीन संस्कृतियों, धर्मों का इतिहास और गुप्त विद्याओं का तुलनात्मक अध्ययन करता है उतना यह बात स्पष्ट हो जाती है कि ज्ञान का एक ऐसा भण्डार है जो अमर है और स्वाभाविक है जो मनुष्य का अज्ञात के साथ तादात्म्य स्थापित कर देता है। अतः यही तादात्म्य साक्षत्कार भी है और मोक्ष भी है। इस ज्ञान का आधार योग है। योग सब धर्मों का स्रोत है। वह मनुष्य का विज्ञान है। उसकी कसौटी यह है कि वह सार्वभौम है और सभी व्यक्ति उसका अनुभव कर सकते हैं। जिमर के अनुसार योग का उद्देश्य है व्यष्टिगत, व्यक्तिगत चेतना के ऊपर उठ जाना।"[1]

---

where insinuating itself and can no longer be ignored. A time might well come when in manuals of the history of philosophy we shall see side by side with Plato and Arsitotle the great names Shankara and Nagarjun, with Hegel's that of Sri Aurobindo. The world will be ready then for unification, when all cultures–occidental and oriental–shall have become the integral history of thought and when history itself will no longer be anything but the biography of man.

१. The evidence is conclusive; the further one goes in the study of archaic cultures, in the history of religions, in the comparative study of mysticisms and of the psycho-physiological phenomena of our mental operations, the more clearly one perceives that there exists an ageless natural knowledge which enables man to identify himself with an Unknown source of being and of becoming. This identification is atonce realization and liberation. Yoga is the basis of this knowledge. It is the natural source of all religions, it is the science of man. Its criterion is its universality and its evidence as personal impersonal experimentation. "The aim of Yoga," says Zimmer, "is to cross the boundaries of individualized consciousness."

"यों तो बहुत ही प्राचीन विद्या होने के कारण योग थोड़ा बहुत किसी न किसी रूप में सब जगह मिलता है। ऐसा इसलिए कि संसार की प्रत्येक धार्मिक परम्परा के "व्यावहारिक" पक्ष के लिए यही आधार है। परन्तु भारत में ही इस विद्या को अपने पूर्ण रूप में देखते हैं और यह देखते हैं कि जहां तक आगे बढ़ना सम्भव है वहां तक इस क्षेत्र में खोज की गयी है। भारत ने इस धार्मिक शास्त्र की सृष्टि की है उतना साहसिक कोई शास्त्र पृथ्वी पर नहीं है। काल उसके साथ व्यर्थ ही टकराता है। सच बात यह है कि यह दर्शन किसी व्यक्ति के बौद्धिक छानबीन और विचार-विमर्श से नहीं बना है। उसका आधार परीक्षित वैज्ञानिक तथ्य है। अब समय आ गया है कि हम लोग फिर इस विज्ञान को जो पुराना है इसके साथ ही सनातन है, फिर से अध्ययन का विषय बना लें"।[1]

एक अवतरण श्री अलेन डैनीलू की पुस्तक "योग दि मेथड आफ रीइण्टेग्रेशन" से भी देना चाहता हूं :

---

१. As vestige of a very ancient science, Yoga is found everywhere in one form or another, for it is basic to the "practical" side of every religious tradition in the world. However, it is in India alone and with Yoga that we find the "religious" science completely worked out, the domain entirely explored to its extreme limit. Thanks to this ancient science which existed long before the spread of Hindu philosophical doctrines (darshana), India was able to build the boldest metaphysics that the world has known; against them time is impotent. Actually the metaphysics are not based on someone's rationalisations, but upon experimental scientific data. The moment seems to have arrived when we should again take up this science of yesterday and of all time.
(Introduction to the Study of Yoga by Jacques H. Masui)

हिन्दू दार्शनिकों ने कहा है कि सारे ज्ञान का आधार अनुभव है। परन्तु उनका यह विश्वास है कि बाहरी सेन्द्रिय प्रत्यक्ष, वस्तुतः सच्चा ज्ञान नहीं है और किसी वस्तु को भीतर और बाहर से पूर्णतया जान लेने के एकमात्र उपाय यह है कि हम उसके साथ तादात्म्य स्थापित कर लें। जब हम उसके साथ मिलकर एक हो जायंगे तभी हम उसके सच्चे रूप को जान सकेंगे। जैसी वह बाहर से देख पड़ती है वह उसका वास्तविक रूप नहीं है।[1]

योग शब्द का यही अर्थ है अर्थात् तादात्म्य स्थापित करना। ईश्वर से तादात्म्य का नाम है साक्षात्कार।

---

१. Hindu philosophers have asserted that all knowledge is built upon experience. But they maintain that an outward perception only is not a real knowing, and that the only way for us to know a thing completely, outwardly and inwardly, is to identify ourselves with in, only when we are one with it can we know it in itself and not merely as it appears to be from an external point of view.

This is the meaning of the word Yoga, which means, identification, "identification with Divinity being" realisation.

....

We can conceive of an Angel or subtle being which free from a gross envelope, and not bound by its limitations, can perceive all things. Might there not be likewise for our conscious some way by which it could cross the boundary of its bodily prison, know the freedom of limitlessness and see, in their fullness all things of which, through the intermediary of the senses, it can know only limited fragments.

Hindu science asserts that this is possible, and even that it is the only true form of experience, the

हम इस वात की कल्पना कर सकते हैं कि यदि ऐसा कोई देव हो जो स्थूल शरीर से वंधा न हो और उसकी सीमाओं के वश में न हो तो वह सभी वस्तुओं को देख सकता है, तो क्या ऐसा नहीं हो सकता कि हमारी चेतना एक दिन किसी उपाय से इस शारीरिक कारागार की सीमाओं को पार कर जाय, असीमितता की स्वतंत्रता का अनुभव करे और उन सब वस्तुओं को पूर्ण रूप से जान सके जिनको इन्द्रियों के व्यवधान के कारण आज हम अंशतः जान सकते हैं।

हिन्दू विज्ञान कहता है कि यह सम्भव है और सम्भव ही नहीं अनुभव का एकमात्र सच्चा उपाय है। जिस विशेष प्रशिक्षण को हिन्दू लोग योग कहते हैं उसकी एक सीढ़ी अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष है। इस प्रशिक्षण का उद्देश्य यह है कि हम सब वस्तुओं के साथ तादात्म्य स्थापित करके उनका प्रत्यक्ष अनुभव कर लें। उसकी साधना एक प्रकार का शारीरिक और मानसिक व्यायाम है जिसके द्वारा चेतन आत्मा सूक्ष्म शरीर के सहारे स्थूल शरीर से वाहर चला जाता है। परन्तु स्थूल शरीर को नष्ट नहीं करता और

---

only absolute method of knowing. The realization of suprasensory perception is one of the states of that particular training which the Hindus call Yoga. This training aims at the direct experience of all things through identification with them. Its method is a sort of physioco-mental gymastic, through which the Conscious, carried by the subtle destroying it, and after having cognised all things, comes back into the physical envelope with its predogious harvest.

The whole of Hindu civilization has from its very beginning been pervaded by this mode of knowledge, and one should realize this before trying to assess the value of Hindu Traditional knowledge and of thc ancient Hindu sciences. All the Vedic scriptures are considered to have originated through this process and it is therefore only in Yoga that their key is to be found Hence: "Yoga is the guardian of Eternal Law, Yoga is the guardian of knowledge".

वाहरी वातों को जानकर अपने विशाल ज्ञान भंडार के लिए फिर अपने स्थूल शरीर में लौट आता है।

आरम्भ से ही सारी हिन्दू सभ्यता ज्ञान के इस साधन से ओतप्रोत रही है और हिन्दुओं के परम्परागत ज्ञान और प्राचीन हिन्दू विज्ञान को समझने के पहले इस वात को समझ लेना चाहिए। इसी प्रकार वेद मंत्रों की उत्पत्ति हुई है। इसीलिए उनकी कुंजी योग में ही मिल सकती है।

इसलिए यह कहा गया है कि योग ही सनातन धर्म का संरक्षक है, योग ही ज्ञान का संरक्षक है।"

अनकेशतसंख्याभि, स्तर्कव्याकरणादिभिः।
पतिताः शास्त्रजालेषु, प्रज्ञया ते विमोहिताः॥

(दर्शन, तर्क और व्याकरण के सैकड़ों प्रकार के नियम वुद्धि को अपने जाल में फंसा लेते हैं और उसको सत्य ज्ञान से वहुत दूर ले जाते हैं।)

(योगवीज उपनिषद्)

योगेन रक्ष्यते धर्मो, विद्या योगेन रक्ष्यते।
योगहीनं कथं ज्ञानं, मोक्षदं भवतीश्वरि।
ज्ञाननिष्ठो विरक्तो वा, धर्मज्ञोऽपि जितेन्द्रियः
विना योगेन देवोऽपि, न मोक्षं लभते प्रिये॥

(योगवीज उपनिषद्)

हे देवि, योग के विना ज्ञान किस प्रकार मोक्ष प्रदान कर सकता है? हे प्रिये, ज्ञाननिष्ठ और विरक्त होते हुए भी धर्म ज्ञान सम्पन्न और जितेन्द्रिय होते हुए भी, देव भी योग के विना मोक्ष नहीं प्राप्त कर सकता।

अध्याय ३

योग के सम्बन्ध में कुछ योगाचार्यों के वचन

वेद ईश्वर वाक्य माना जाता है। ईश्वर के सम्बन्ध में कहा गया है:

स एष पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात् । (१,२६)

वह काल से अनवच्छिन्न होने के कारण पूर्वाचार्यों का भी गुरु है। पूर्व काल में जो भी योगाचार्य हो गये हों उनका जीवनकाल सीमित था परन्तु ईश्वर नित्य है अतः उसके लिए यह वन्धन नहीं है। ईश्वर प्राचीन से प्राचीन काल के योगाचार्य के पहले था, इसलिए वह प्राचीन से प्राचीन आचार्य का भी गुरु है। इसलिए ईश्वर वाक्य सर्वोपरि प्रमाण वाक्य है। योग सम्बन्धी आदेश और उपदेश वेद के उपनिषद् भाग में मिलते हैं। इसलिए पहले थोड़े से अवतरण उपनिषदों से दिये जा रहे हैं।

अग्निर्यत्राभिमथ्यते, वायुर्यत्राधिरुध्यते।
सोमो यत्रातिरिच्यते, तत्र संजायते मनः ॥६॥

त्रिरुन्नतं स्थाप्य समं शरीरं
हृदीन्द्रियाणि मनसा संनिवेश्य।
ब्रह्मोडुपेन प्रतरेत विद्वान्
स्रोतांसि सर्वाणि भयावहानि ॥८॥

नीहारधूमार्कानिलानलानां
खद्योतविद्युत्स्फटिकशशिनाम्।
एतानि रूपाणि पुरःसराणि
ब्रह्मण्यभिव्यक्तिकराणि योगे ॥११॥

पृथ्व्यप्तेजोऽनिलखे समुत्थिते
पञ्चात्मके योगगुणे प्रवृत्ते।
न तस्य रोगो न जरा न मृत्युः
प्राप्तस्य योगाग्निमयं शरीरम् ॥१२॥

शुचिर्वाप्यशुचिर्वापि, यो जपेत्प्रणवं सदा।
न स लिप्यति पापेन, पद्मपत्रमिवाम्भसा॥३४॥
पद्मासनं समारुह्य, समकायशिरोधरः।
नासाग्रदष्टिरेकाकी, जपेदोङ्कारमव्ययम्॥३५॥
देहेऽस्मिन्वर्तते मेरुः, सप्तद्वीप समन्वितः।
सरितः सागराः शैलाः, क्षेत्राणि क्षेत्रपालकाः॥४३॥
ऋषयो मुनयः सर्वे, नक्षत्राणि ग्रहास्तथा।
पुण्यतीर्थानि पीठानि, वर्तन्ते पीठदेवताः॥४४॥
सृष्टिसंहारकर्तारौ, भ्रमन्तौ शशिभास्करौ।
नभो वायुश्च वह्निश्च, जलं पृथ्वी तथैव च॥४५॥
जानाति यः सर्वमिदं, स योगी नात्र संशयः॥४७॥
नाभि जानाति शीतोष्णं, न दुःखं न सुखं तथा।
न मानं नापमानं च, योगी युक्तः समाधिना॥५८॥
अभेद्य : सर्वशस्त्राणामवध्यः सर्वदेहिनाम्।
अग्राह्यो मन्त्रसंघानां, योगी युक्तः समाधिना॥५९॥
दृष्टिः स्थिरा यस्य विनापि दृश्याद्,
वायुः स्थिरो यस्य विना प्रयत्नात्।
मनः स्थिरं यस्य विनावलम्बात्,
स एव योगी स गुरुः स सेव्यः॥१३१॥
भ्रुवोर्मध्ये शिवस्थानं, मनस्तत्र विलीयते।
ज्ञातव्यं तत्पदं तूर्यं, तत्र कालो न विद्यते॥१३६॥
(गोरक्षवचनसंग्रह)

भूर्भुवः स्वः, तीनों लोक जिनके चन्द्र, सूय और अग्नि देवता हैं, जिस जगह प्रतिष्ठित हैं, उसके ऊपर ज्योतिस्वरूप ओंकार का स्थान है॥३०॥ तीनों काल, तीनों वेद, तीनों लोक, तीनों अग्नियां, तीनों स्वर जहां स्थित हैं उसके ऊपर भी ओंकार ज्योति का स्थान है॥३१॥ सत, रज, और तम, ब्रह्मा, विष्णु और महेश सब देव जहां स्थित हैं उसके ऊपर भी ओंकार ज्योति का स्थान है॥३२॥ कृति, इच्छा और ज्ञान, ब्राह्मी, रौद्री और वैष्णवी त्रिवा शक्ति जहां स्थित है, उसके ऊपर भी ओंकार ज्योति का स्थान है।३३॥ पवित्र हो या अपवित्र, जो ओंकार का सदा जप करता है वह पाप से उसी प्रकार लिप्त नहीं होता जैसे कमल का पत्ता जल से॥३४॥ पद्मासन से बैठकर शरीर ग्रीवा और सिर को सीधा रखकर नासिका के अग्रभाग में दृष्टि लगाकर

एकान्त में ओंकार का जप करे।।३५।। इस शरीर में मेरु है। सातों देवताओं के साथ मेरु है। सब नदियां और समुद्र हैं, सब पहाड़ क्षेत्र और क्षेत्र पाल हैं।।४३।। इसमें सब ऋषि और मुनि हैं, सब नक्षत्र और ग्रह हैं, सब तीर्थ स्थान हैं, सब पीठ हैं और सब पीठों के देवता हैं।।४४।। सृष्टि को उत्पन्न और संहार करने वाले, घूमने वाले चन्द्रमा और सूर्य आकाश, वायु, तेज अप और पृथ्वी सब इसमें हैं।।४५।। जो यह सब जानता है वह योगी है इसमें कोई सन्देह नहीं।।४७।। न तो योगी शीतोष्ण को जानता है और न वह सुख-दुख को जानता है, वह समाधिस्थ योगी मान अपमान को भी नहीं जानता। वह सब शस्त्रों से अभेद्य है और सब मनुष्यों से अवध्य है। कोई मंत्र भी उसे ग्रहण नहीं कर सकता।।५०।। जिसकी दृष्टि बिना किसी दृश्य के स्थिर है, बिना प्रयत्न के जिसका वायु स्थिर है, बिना अवलम्ब के जिसका मन स्थिर है, वही योगी है, वही गुरु है, वही सेव्य है।।१३१।। दोनों भुवों के मध्य में शिव का स्थान है वहीं मन का विलय होता है। उस स्थान को शीघ्र जान लेना चाहिए। वहां काल नहीं होता।।१३६।।

परीक्षिताय दातव्यं, वत्सरार्धोषिताय च।
एतज्ज्ञात्वा वरारोहे, सद्यः खेचरतां व्रजेत्।।

(योगिनीहृदयम्)

जिस व्यक्ति की कम से कम छः महीने साथ रहकर परीक्षा कर ली गयी हो उसको ही यह विद्या देनी चाहिए। इसको जानकर, हे देवि, मनुष्य तत्काल खेचरता को प्राप्त होता है।

(खेचर का शब्दार्थ है आकाश में चलनेवाला। यह शब्द लाक्षणिक रूप से परम शिव के लिए प्रयुक्त होता है। श्लोक का अर्थ यह है कि इस विद्या को जानकर मनुष्य शिव के साथ तादात्म्य प्राप्त कर लेता है)

योग जगा अनहद धुनि सुनिके,
घट ही में काशी प्रयाग द्वारिका,
घट ही में ठाकुरद्वार मका,
घट ही में है ओंकार सोहं धुन,
घट ही में ह्वै रह्यो अनलहका।
मकरतार गहि शब्द निरन्तर, सुरति बांध जैसे चढ़त नटा।
कहत कबीर सुनो भाई साधो, मिटि गयी कालकी धूम धका।।

(कबीर की शब्दावली)

लघुत्वमारोग्यमलोलुपत्वं
वर्णप्रसादं स्वरसौष्ठवं च।
गन्धः शुभो मूत्रपुरीषमल्पं
योगप्रवृत्ति प्रथमां वदन्ति ॥१३॥
यथैव बिम्बं मृदयोपलिप्तं
तेजोमयं भ्राजते तत् सुधान्तम्।
तद् वाऽऽत्मतत्त्वं प्रसमीक्ष्य देही
एकः कृतार्थो भवते वीतशोकः ॥१४॥
(श्वेताश्वतरोपनिषद्, अध्याय २)

जहां अग्नि का मन्थन होता है, जहां प्राण का विधिवत् निरोध किया जाता है, जहां सोमरस का प्राकट्य होता है, उस स्थान पर मन नितान्त पवित्र हो जाता है ॥ ६ ॥ विद्वान् साधक को चाहिए कि वह अपने सिर, कंठ और वक्ष को ऊंचा उठावे और शरीर को सीधा रखे। फिर मन के द्वारा इन्द्रियों का हृदय में निरोध कर प्रणव रूप नौका से सब भयावने स्रोतों से पार हो जाय ॥८॥ योगी के समक्ष कुहरा, धुआं, सूर्य, वायु, अग्नि, जुगनू, विद्युत्, स्फटिकमणि और चन्द्रमा के समान अनेक दृश्य दिखाई पड़ते हैं, यह सब योग साफल्य के लक्षण रूप होते हैं ॥११॥ पंच महाभूतों का भले प्रकार उत्थान होने पर और पंच योग सम्बन्धी गुणों के सिद्ध हो जाने पर योग से तेजस्वी हुए देह को पा लेने वाला साधक रोग, जरा, मृत्यु से मुक्त हो जाता है ॥१२॥ देह का हल्का होना, आरोग्य, भोगों से निवृत्ति, वर्ण की उज्ज्वलता, स्वर सौष्ठव श्रेष्ठ गंध, मलमूत्र की कमी यह सब योग की प्रथम सिद्धि बतायी गई है ॥१३॥ जैसे कोई चमकता हुआ रत्न मिट्टी लिपटने से मैला हो जाता है, और स्वच्छ किये जाने पर फिर दमकने लगता है, वैसे ही योगी आत्मतत्त्व को जानकर एकावस्था को प्राप्त होकर सब क्लेशों से मुक्त हो जाता है ॥१४॥

यदि शैलसमं पापं, विस्तीर्णं बहुयोजनम्।
भिद्यते ध्यानयोगेन, नान्यो भेदः कदाचन ॥१॥
ओंकारं यो न जानाति, ब्राह्मणो न भवेत्तु सः।
प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा, ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते ॥१४॥
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत्।
निवर्तन्ते क्रियाः सर्वा,स्तस्मिन्दृष्टे परावरे ॥१५॥
अंगानां मर्दनं कृत्वा, श्रमजातेन वारिणा।
कट्वम्ललवणत्यागी, क्षीरपानरतः सुखी ॥७१॥

ब्रह्मचारी मिताहारी, योगी योगपरायणः।
अब्दादूर्ध्वं भवेत्सिद्धो, नात्र कार्या विचारणा ॥७२॥

(ध्यानविन्दूपनिषत्)

यदि पर्वत के समान अनेक योजन विस्तार वाले पाप भी हों, तो भी वे ध्यान योग से नष्ट हो जाते हैं, इसके अतिरिक्त और किसी तरह उनका नाश नहीं होता ॥१॥ इस प्रकार ओंकार को जो नहीं जानता वह ब्राह्मण नहीं माना जा सकता। यह प्रणव धनुष है, आत्मा वाण है और ब्रह्म लक्ष्य है। वाण से सावधानी के साथ तन्मय होकर इस लक्ष्य को वेध करने और परावर परमात्मा को जान लेने से सब क्रियाओं से निवृत्ति हो जाती है ॥१४—१५॥ श्रम करने से जो पसीना निकले उसे शरीर में ही मल लेना चाहिए, कटु अम्ल और नमक को त्याग कर दूधा भोजन करना चाहिए॥७१॥ इस प्रकार साधन करने वाला मिताहारी, ब्रह्मचारी योगी एक वर्ष में सिद्धि प्राप्त कर लेता है, इसमें संशय नहीं ॥७१–७२॥

आलोक्य सर्वशास्त्राणि, विचार्य च पुनः पुनः।
इदमेकं सुनिष्पन्नं, योगशास्त्रं परं मतम् ॥१७॥
यस्मिन् ज्ञाते सवमिदं, ज्ञातं भवति निश्चितम्।
तस्मिन् परिश्रमः कार्यः, किमन्यच्छास्त्रभाषितम् ॥१८॥

श्री महादेव जी कहते हैं कि सब शास्त्रों को देख और वारंवार विचार करके यह निश्चित हुआ कि एक यह योगशास्त्र उत्तम परम मत है, अर्थात् यह सबसे उत्तम है॥१७॥ निश्चय जिसके जानने से सब संसार जाना जाता है, ऐसे योगशास्त्र के जानने में परिश्रम करना अवश्य उचित है, फिर अन्य शास्त्र जो कहते हैं, उसका क्या प्रयोजन है अर्थात कुछ प्रयोजन नहीं।

(शिवसंहिता, प्रथम पटल)

भूर्भुवः स्वरिमे लोका श्चन्द्रसूर्याग्निदेवताः।
प्रतिष्ठिताः सदा यत्र, तत्परं ज्योतिरोमिति ॥३०॥
त्रयः कालास्त्रयो लोका, स्त्रयोवेदास्त्रयोऽग्नयः।
त्रयः स्वराः स्थिता यत्र, तत्परं ज्योतिरोमिति ३१॥
सत्त्वं रजस्तमश्चैव, ब्रह्म विष्णु महेश्वराः।
सर्वे देवाः स्थिता यत्र, तत्परं ज्योतिरोमिति ।३२॥
कृतिरिच्छा तथा ज्ञानं, ब्राह्मी रौद्री च वैष्णवी।
त्रिधा शक्तिः स्थिता यत्र, तत्परं ज्योतिरोमिति ॥३३॥

मूलमंत्र करि वंद विचारी, सात चक्र नौ सौधे नारी ।।
सोधि के मेरुदंड ठहराना, सहज मिलावैं प्रान अपाना ।।
खेचरिमुद्रा सोधैं पवना, उनमुनि सोधि वैरठि मन मोना।
वंक नाल गहै मनमूला, विकसत अष्ट कमल दल फूला ।।
जस मकरी का लागा तागा, वैसे प्रेम वढ़े अनुरागा।
अजपा जाप जिकिर धुनि ध्याना, संधि शव्द जहं पवन समाना ।।
आदि शव्द अहै ओंकारा, उठै शवद धुनि रोरंकारा।
जो अस चलै शून्य मिलि जाई, ता कर आवागमन नसाई ।।
गैवि मिले जव गैव समाना, ह्वै अलमस्त अमीरस पाना ।।
कालदंड नाहीं यम त्रासा, देखति गैवी गैव तमासा।
दसों दिसा ह्वइगे उजियारा, झलकत जगमग ज्योति अपारा ।।
अवरन वरन अनेकिन भांती, ज्योति अखंड वरै दिन राती ।।
जो जानै यहि पद करि भेवा, रामलाल सोई गुरु देवा।

(वावा रामलाल)

अध्याय ४

दार्शनिक आधार भूमि

बहुधा ऐसा समझा जाता है कि योग तो किसी प्रकार की क्रिया या क्रियाओं का समुच्चय है और दर्शन वाग्विलास तथा तार्किक द्वन्द्व और शास्त्रार्थ की सामग्री है। इसमें सन्देह नहीं कि यह बात अंशतः सत्य है। परन्तु योग और दर्शन एक दूसरे से उतनी दूर नहीं हैं जितने कि मान लिये जाते हैं। योग का काम है, जैसा कि आगे के अध्यायों में दिखलाया जायगा, सत्य का साक्षात्कार कराना और दर्शन का काम है इस विश्व को समझने में सहयोग देना। विश्व में बड़े देवगण भी हैं और छोटे कीड़े-मकोड़े भी। चेतन पदार्थ भी हैं और जड़ भी। विश्व में ही हमारा चित्त है और यह चित्त एक ओर योगाभ्यास में रत होता है और दूसरी ओर काम, क्रोध से प्रेरित चेष्टाओं में। चित्त में ही योग की ऊंची ऊंची अनुभूतियां होती हैं और नित्य का छोटे से छोटा अनुभव। इन सब बातों का समन्वय करना तथा इनको एक मंच पर ले आना दर्शन का काम है। यदि ऐसा न किया जा सका तो हमारे जीवन के विभिन्न पहलुओं में सामंजस्य नहीं रहेगा। हम एक साथ अलग अलग लोकों में रहेंगे जिनकी सीमाएं कहीं न मिलती होंगी। इसलिए यदि दर्शन सचमुच दर्शन है तो योग की अनुभूतियों को भी उसके द्वारा समझा जाना चाहिए। यदि वह ऐसा नहीं कर सकता तो सचमुच उसका आधार केवल मनुष्य के उर्वर मस्तिष्क की कल्पना मात्र होगी। और वह सचमुच केवल बौद्धिक अखाड़े में उतरने वालों के मनोरंजन की सामग्री मात्र बन कर रह जायगा। ऐसे ही दर्शन को लक्ष्य करके वेदान्त के एक सूत्र में कहा गया है—"तर्क अप्रतिष्ठित है।" एक विद्वान् कोई तर्क उपस्थित करता है दूसरा विद्वान् उस तर्क को काट देता है। दर्शन को, यदि वह सचमुच विश्व को समझाने का दावा करता है तो, सत्य के साक्षात्कार की उन अनुभूतियों से काम लेना चाहिए जो योग के द्वारा सामने आती हैं और योग को दर्शन की सार्वभौम सामग्री का अंग बनना ही चाहिए। दोनों में अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है।

सांख्य दर्शन

योग शास्त्र के प्रमुख आचार्य पतंजलि ने प्रायः सांख्यदर्शन को ज्यों का त्यों पूरा

मान लिया है। दोनों की मान्यताओं में थोड़ा सा अन्तर है। परन्तु मुख्य वातें एक ही हैं। सांख्यदर्शन के प्रवर्त्तक महर्षि कपिल का स्थान वड़ा ऊंचा है। "सिद्धानां कपिलो मुनिः" कह कर श्रीकृष्ण ने गीता में इस वात का संकेत किया है कि उनकी दृष्टि में कपिल योगियों में सर्वश्रेष्ठ थे। सांख्यदर्शन स्यात् पृथ्वी के सव दर्शनों में पुराना है। आज भी मनोविज्ञान की कई ऐसी ग्रन्थियां हैं जिनको सांख्य की सहायता के विना नहीं सुलझाया जा सकता। उसका सार ईश्वर कृष्ण की इस कारिका में दिया हुआ है :

मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त।
षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः॥

इस कारिका में प्रकृति और विकृति दो ऐसे शब्द आये हैं जिनको समझने के वाद ही इसका अर्थ स्पष्ट हो सकता है। कुछ पदार्थ ऐसे होते हैं जिनसे पूर्णतया नये नये स्वभावों से सम्पन्न विल्कुल नये प्रकार के पदार्थ निकलते हैं। जिसमें से नये पदार्थ निकलते हैं उसको प्रकृति और जो नये पदार्थ निकलते हैं उनको विकृति कहते हैं। जैसे, उदाहरण के लिए, दूध को प्रकृति और दही को विकृति कह सकते हैं। किसी साधारणतया ज्ञात उपाय से दही को दूध में फिर परिणत नहीं कर सकते। परन्तु सोना और उससे वने हुए गहनों में यह वात नहीं है। अतः उनके सम्बन्ध में प्रकृति और विकृति शब्दों का व्यवहार नहीं किया जाता।

सांख्य दर्शन के अनुसार जगत् के मूल में दो पदार्थ हैं : एक पुरुष और दूसरा प्रधान। पुरुष चिन्मय है, नित्य है, अखंड, एकरस अर्थात् अपरिणामी है। इसके विपरीत प्रधान अचित् अर्थात् जड़ और परिवर्तनशील है। नित्य वह भी है। वह सत्, रज और तम इन तीनों गुणों की समष्टि है। जव तीनों गुण शान्त अवस्था में रहते हैं तो प्रधान शान्त रहता है। कहने को पुरुष की संख्या एक कही गयी है। परन्तु यों कहना अधिक उचित होगा कि पुरुषों की एक जाति या एक वर्ग है, पुरुष असंख्य हैं और सव एक दूसरे के पूर्णतया समान हैं। इस सारे जगत् की उत्पत्ति प्रधान से ही है, इसलिए इसको मूल प्रकृति भी कहते हैं। वस्तुतः तो पुरुष और प्रधान का, जो सर्वथा विजातीय हैं, मेल हो नहीं सकता। यदि लोहे का एक टुकड़ा पत्थर के एक टुकड़े के साथ करोड़ वर्षों तक पड़ा रहे तव भी दोनों में मेल नहीं हो सकता। लोहा लोहा रह जायगा और पत्थर पत्थर। चूंकि विश्व में पुरुष भी हैं और प्रधान भी, इसलिए दोनों का सान्निध्य होता है। इसको यों कहते हैं कि पुरुष की दृष्टि प्रधान पर पड़ती है। तत्काल प्रधान अपने परिवर्तनशील स्वभाव के अनुसार वदलने लगता है और इसमें जो पहला परिवर्तन होता है उसको महत्तत्व या बुद्धि तत्त्व कहते हैं। क्षोभ जव

आरम्भ हुआ तब रुकता नहीं। बुद्धि तत्त्व से अहंकार की उत्पत्ति होती है। अहकार का अर्थ साधारण अभिमान नहीं है, वरन् परिस्थितियों और घटनाओं का अपने साथ सम्वन्ध जोड़ना अहंकार का धर्म है। जहां किसी के मन में यह विचार उठता है कि गाली दी जा रही है या वर्षा हो रही है, वहाँ तो केवल बुद्धि है। पर यदि यह भाव हो कि मुझको गाली दी जा रही है या मैं गाली दे रहा हूं या मैं भीगनेवाला हूं, तो वहां बुद्धि के साथ साथ अहंकार भी काम करने लगता है। अहंकार से सोलह पदार्थ निकलते हैं: पांच ज्ञानेन्द्रियां, पांच कर्मेन्द्रियां, मन जो ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय दोनों है तथा पांच तन्मात्रा अर्थात् शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध और इन तन्मात्राओं से आकाश, वायु, तेज, अप और क्षिति नाम के पांच महाभूत। इसके आगे महाभूतों के मिलने और पृथक् होने से जगत् स्थूल से स्थूलतर हो जाता है। परिभाषा के अनुसार पुरुष न प्रकृति है न विकृति। प्रधान केवल प्रकृति है। बुद्धि, अहंकार और पांच तन्मात्रा, ये सात प्रकृति-विकृति हैं अर्थात् प्रकृति भी हैं और विकृति भी, और पांच ज्ञानेन्द्रियां, पांच कर्मेन्द्रिया और पांच महाभूत तथा मन ये सोलह केवल विकृति हैं। यही कारिका का अर्थ है और संक्षेप में सांख्य दर्शन के अनुसार जगत् की सृष्टि का यही इतिहास है।

योगदर्शन—ईश्वर

पतंजलि ने ऊपर कही हुई सारी की सारी बातें मान लीं परन्तु अपनी ओर से भी कुछ बातें जोड़ दीं। उनका कहना है कि जो असंख्य पुरुष हैं उनके अतिरिक्त एक पुरुष विशेष भी है जिसको उन्होंने ईश्वर की संज्ञा दी है। उनका कहना है—

क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः। (१,२४)

ईश्वर ऐसा विलक्षण पुरुष है जो और सब बातों में तो दूसरे पुरुषों के समान ही है परन्तु वह कभी प्रधान की ओर नहीं देखता। इसलिए वह उन सब दुःखों से बचा रहता है जो दूसरे पुरुषों को कभी न कभी सताते हैं। न वह शरीरधारी होता है, न वह पाप पुण्य से लिप्त होता है। न उसका जगत् के व्यापार से कोई सम्बन्ध है। प्रश्न यह हो सकता है कि दूसरे पुरुष किस प्रकार दुःखों के बन्धन में फंस जाते हैं। इसका उत्तर सांख्य के आचार्य यों देते हैं:

किसी शुद्ध स्फटिक के टुकड़े के सामने भांति भांति के रंगीन कांच के या कागज के टुकड़े रखे जायं तो यद्यपि वह स्फटिक ज्यों का त्यों रहेगा, पर उस पर इन रंगीन वस्तुओं की छाया देख पड़ेगी। इसी प्रकार प्रधान में जो परिणाम होते हैं उनकी छाया पुरुष पर पड़ती है। निर्लिप्त होते हुए भी वह बुद्धि आदि से अविद्या के कारण युक्त सा प्रतीत होता है और अपने को सुखी दुखी आदि मानने लगता है। जब कभी कोई

ऐसा पुरुष इस संयोग से ऊव जाता है तव वह प्रधान की ओर से मुंह फेरने का यत्न करता है और जिस क्रम से वह वंधनों में फंसा था उसके उलटे क्रम से वंधनों से मुक्त होता है। पूरा छुटकारा पा जाने के वाद उसकी अवस्था को कैवल्य कहते हैं। भले हीं दूसरे पुरुषों के लिए प्रकृति का खेल होता रहे पर यह पुरुष अव उसकी ओर से उदासीन हो गया। यह उदाहरण दिया जाता है कि जैसे कहीं नृत्य हो रहा हो तो वहुत से लोग उस नृत्य को देखते होंगे, पर उस सभा में कोई ऐसा भी होगा जो उस नृत्य में रस न लेता होगा। उसके लिए नृत्य न होने के वरावर है।

इस पुस्तक में मेरा उद्देश्य दार्शनिक शास्त्रार्थ में पड़ना नहीं है, पर इतना सूचित कर देना आवश्यक है कि सांख्य योग के कई सिद्धान्तों से वहुत से लोग जो योग के परम समर्थक हैं सन्तुष्ट नहीं हैं। एक तो वहुत से पुरुषों की सत्ता पर आक्षेप है, फिर यह कहा जाता है कि इस वात का क्या निश्चय है कि कैवल्य के वाद पुरुष फिर नहीं फंस जायगा। यह नहीं कहा जा सकता कि अपने पहले के कटु अनुभव के कारण वह वैसी भूल नहीं करेगा। क्योंकि विचार और स्मृति दोनों का आस्पद वुद्धि है और कैवल्य प्राप्त करने पर वह पुरुष वुद्धि के ऊपर उठ गया होगा। वह वुद्धि से युक्त नहीं होगा। ऐसे ही और भी कई आक्षेप हैं। मैं इस विषय के ऊहापोह में नहीं पड़ना चाहता। परन्तु केवल निदर्शन के लिए एकाध अवतरण देता हूं जिनसे यह स्पष्ट हो जायगा कि वहुत से योगीगण योगदर्शन के दार्शनिक मत से सहमत नहीं हैं :

> आत्मा खलु विश्वमूलं तत्र प्रमाणं न कोऽप्यर्थयते ।
> कस्य वा भवति पिपासा गंगास्रोतसि निमग्नस्य ॥१८॥
> आत्मेति परमात्मेति जीवात्मेति विचारणे।
> त्रयाणामैक्यसंभूतिः आदेश इति ' कीर्तितः ॥२४॥

आत्मा ही विश्व का मूल है। इस सम्वन्ध में प्रमाण किस को चाहिए। गंगा के जल में डूवे हुए को प्यास कैसे रह सकती है?

आत्मा, परमात्मा, जीवात्मा के सम्वन्ध में विचार करते समय यह आदेश अर्थात् सत्य कथा है कि यह तीनों एक हैं।

ये अवतरण गोरक्षवाणी से लिये गये हैं। इसी प्रकार शिवसंहिता के प्रथम पटल के ये श्लोक द्रष्टव्य हैं :

> तया जगदिदं भ्रांतिरध्यासकल्पना जगत्।
> आत्मज्ञानाद्यया नास्ति रज्जुज्ञानाद् भुजंगमः ॥४२॥

यद् भूतं यच्च भाव्यं वै मूर्तामूर्तं तथैव च।
सर्वमेव जगदिदं विवृतं परमात्मनि।।४९।।

उसी तरह आत्मा में अध्यास कल्पना मात्र जगत् की भ्रान्ति है, रज्जुवत् ज्ञान होने से फिर जगत् का तीनों काल में अभाव हो जाता है।

जो हुआ है और जो होगा मूर्तिमान या अमूर्तिमान यह सब जगत आत्मा से मिला है अर्थात् उससे भिन्न नहीं है।

तंत्र के सभी आचार्यों ने ऐसा माना है कि परम शिव से ही इस जगत् की उत्पत्ति हुई है। वह परम शिव ही प्रकाश और विमर्श दो रूपों में स्वेच्छया देख पड़ता है, स्वेच्छया सृष्टि की रचना करता है और फिर उस जगत को अपने में लय कर लेता है। स्वेच्छयैव जगत् सूर्वंनिगिरत्युद्गिरत्यपि—अपनी इच्छा से ही सारे जगत् को निगल लेता है और फिर स्वयं में से उगल देता है। इसके आगे मैं उस दार्शनिक विचार की रूपरेखा देता हूं जो मुझे अभिमत है। मेरा ऐसा विश्वास है कि उसके अनुसार योग की सारी अनुभूतियां समझ में आ सकती हैं और उनका समन्वय उन सभी समस्याओं से हो सकता है जिनका अध्ययन दर्शनशास्त्र करता है। इस स्थल पर जो कुछ लिखा गया है वह मेरी पुस्तक चिद्विलास में दिये हुए एतद्विषयक वर्णनों का संक्षिप्त रूप है।

ब्रह्म

जगत् का मूल और एकमात्र पदार्थ ब्रह्म है। ब्रह्म के सिवाय और कुछ नहीं है। ब्रह्म है इसलिए वह सत्य है। वह जड़ नहीं है। चित् है। चित् और चेतन में अन्तर है। ब्रह्म चेतन नहीं है। केवल चित्, चेतनता मात्र है। दूसरे शब्दों में यों कह सकते हैं कि वह ज्ञाता नहीं है, ज्ञातृत्व मात्र, जानने की क्षमता मात्र है। सत् और चित् के सिवाय ब्रह्म का कोई लक्षण बताना प्रायः असम्भव है। लक्षण बताने में किसी विशेषण से काम लेना पड़ता है और ब्रह्म के सम्वन्ध में सभी विशेषण अंशतः लगते हैं, पूर्णतया कोई विशेषण नहीं लगता। इसलिए सभी विशेषण उसके हैं और कोई विशेषण उसका नहीं है। इस दृष्टि से ही वैदिक वाङमय में ब्रह्म के लिए नेति शब्द का व्यवहार किया गया है। नेति का अर्थ है : यह नहीं।

माया

जब ब्रह्म चित् है, ज्ञाता नहीं, तो उसको अपना भी ज्ञान नहीं हो सकता। पर यह समूचा विश्व ब्रह्म ही है और जाना जा रहा है। यह पहेली सी लगती है कि जो नहीं होना चाहिए वह हो रहा है। ब्रह्म को अज्ञेय होना चाहिए, पर वह जाना

जा रहा है। ब्रह्म का ज्ञान माया के द्वारा होता है। माया को ब्रह्म का स्वभाव कह सकते हैं। वह ब्रह्म से भिन्न है। इसलिए असत्य है। जब ब्रह्म के सिवाय कुछ भी नहीं है तब माया भी ब्रह्म से अभिन्न होगी। इसलिए वह सत्य होगी। कई आचार्यों के मत में माया को सद-असद विलक्षण मानते हैं। मैं उसको सत् असत् स्वरूपा मानता हूं। यह प्रतीयमान जगत् ब्रह्म है। यों कहिए कि माया की आड़ में ब्रह्म है। माया के दूसरे नाम अविद्या और भ्रम जैसे हैं। यह जगत सत्य भी है और असत्य भी। अपने प्रतीयमान माया रूप में असत्य है। परन्तु मूल रूप में सत्य है। यदि किसी को सड़क पर पड़े रस्सी के टुकड़े को देखकर सर्प का भय हो तो यद्यपि वहां सर्प असत्य है परन्तु जो कुछ देख पड़ता है वह रस्सी के रूप में सत्य है।

द्रष्टा, विचारक, मैं भी तो ब्रह्म है, तो फिर क्या मुझको अपने सम्बन्ध में भ्रम हुआ या सम्पूर्ण ब्रह्म को भ्रम हुआ? इन प्रश्नों का उत्तर बुद्धि के स्तर पर नहीं दिया जा सकता। ये बातें अनुभवगम्य हैं। एक बात और स्पष्ट हो जानी चाहिए। यहां जो कालवाची शब्दों का व्यवहार हुआ है और आगे चलकर होगा वह माया की दुर्बलताओं और सीमाओं के कारण है। जिस ऊंचे स्तर पर यहां विचार किया जा रहा है वहां काल की गति नहीं है। अतः अब, तब, उसके बाद, हुआ, होगा, जैसे शब्द यथार्थ के बोधक नहीं हैं।

अव्याकृत—परमात्मा—ईश्वर

माया के पर्दे में बयन का जो पहला स्वरूप सामने आता है उसे अव्याकृत कहते हैं। उसकी दूसरी संज्ञा ईश्वर है।

माया के माध्यम से इसका परिचय होता है, इसलिए यह मायाशबल ब्रह्म कहलाता है। परन्तु सच बात यह है कि यदि माया न होती तो ब्रह्म जाना भी न जाता। माया का अर्थ ही है मीयते अनया—इसके द्वारा जाना जाता है। मायाशबल का अर्थ है—माया के द्वारा चितकबरा कर दिया गया। माया के पर्दे में देखा जाकर भी ब्रह्म एक है। अब तक उसमें कोई भेद उत्पन्न नहीं हुआ है। इसलिए अव्याकृत कहलाता है। अव्याकृत उसको कहते हैं जिसका व्याकरण, किसी प्रकार का विभाजन, न हुआ हो। उसे ईश्वर कहते हैं पर यह समझ लेना चाहिए कि वह उस अर्थ में ईश्वर नहीं है जिस अर्थ में इस शब्द का सामान्यतः व्यवहार होता है। वह विश्व का कर्त्ता-धर्त्ता संहर्ता नहीं है। वह सांख्य का पुरुष विशेष भी नहीं है, क्योंकि उसके सिवाय कोई दूसरा पुरुष भी नहीं है। उसको परमात्मा भी कहते हैं। इस नाम के द्वारा उसको पृथक् आत्माओं से विशेषता की व्यक्ति हो जाती है।

ब्रह्म से अभिन्न होते हुए भी उसमें एक नये गुण की प्रतीति होती है। ब्रह्म

चिन्मय, ज्ञातृत्व मात्र था, परमात्मा चेतन, ज्ञाता है। ज्ञाता के लिए कोई ज्ञेय विषय चाहिए। उसके सिवाय और कुछ था नहीं। वह अपने आपका ज्ञाता था। उसके ज्ञान का यही रूप था कि वह अपने को जानता था—मैं हूं।

हिरण्यगर्भ

हमारी भावना यह है कि कोई भी ज्ञान हो वह चित्त में होता है। इस दृष्टि से परमात्मा के स्व-विषयक ज्ञान के लिए भी कोई चित्त होना चाहिए। परन्तु उस अवस्था में परमात्मा से भिन्न कुछ और नहीं था। यदि चित्त था तो वही था। वह अपना आप चित्त था। जब उसकी ओर चित्त रूप से संकेत करना होता है तो उसे हिरण्यगर्भ कहते हैं। परमात्मा अपने से अभिन्न हिरण्यगर्भ नामक अपने चित्त में अपने सम्बन्ध के ज्ञान का अनुभव करता है। हिरण्यगर्भ को हमने परमात्मा का वह रूप माना है जो सामान्य जीवों के चित्त के समान काम करता है। परन्तु वह अन्य चित्तों से इसलिए भिन्न है कि न उसमें सुख—दुख का भान होता है न शब्द आदि संवित् उठते हैं। वह शुद्ध ज्ञान—प्रधान निर्मल बुद्धि स्वरूप है।

हमने देखा है कि जो ज्ञातृत्व शक्ति चिन्मात्र ब्रह्म में विद्यमान थी वह परमात्मा में अधिक व्यक्त हुई। परमात्मा चेतन ज्ञाता है। ज्ञातृत्व केवल अकेले नहीं रहती। दो और शक्तियां अर्थात् भोक्तृत्व और कर्तृत्व भी उसके साथ मिली होती हैं। भले ही किसी समय विशेष पर तीनों में से एक उद्दीप्त हो और शेष दोनों दबी। हम चाहें तो शक्ति की जगह योग्यता शब्द का व्यवहार कर सकते हैं। यह अधिक उपयुक्त होगा।

विराट्

परन्तु तीनों योग्यताएं साथ साथ रहती हैं, क्योंकि चेतना एक पदार्थ है। जब एक योग्यता सक्रिय हुई तो शेष दोनों चिर-सुप्त नहीं रह सकती थीं। उनका भी सक्रिय होना, योग्यता से शक्ति का रूप धारण करना, अनिवार्य था। हिरण्यगर्भ में ज्ञान के साथ साथ इच्छा और संकल्प की अभिव्यक्ति होना रुक नहीं सकता था। परन्तु जिस प्रकार ज्ञान के लिए विषय चाहिए उसी प्रकार इच्छा और संकल्प के लिए भी विषय का होना अनिवार्य है। ज्ञान का विषय तो परमात्मा था, परन्तु इच्छा और संकल्प किस विषय के प्रति होते? प्रिय से प्रिय वस्तु हो, परन्तु यदि वह निरन्तर ज्ञान का विषय रहेगी तो वह इच्छा और संकल्प का आस्पद नहीं बन सकती। अतः हिरण्यगर्भ की सद्यःजागरित इच्छा और सकल्पशक्तियां तृप्त नहीं हो सकती थीं।

इस अतृप्ति से हिरण्यगर्भ क्षुब्ध हो उठा। इसको वैदिक वाङ्मय में यों कहा है कि हिरण्यगर्भ ने तप किया। अब तक वह उस निर्मल निश्चल जल के समान था

जिसमें चन्द्रमा प्रतिविम्बित होता रहता है। जल जब तरंगित हो उठता है तो एक के अनेक प्रतिविम्बित हो जाते हैं। जितना ही जल का क्षोभ होता है उतने ही प्रतिविम्बि वनते हैं और फिर सब एक से नहीं होते। कोई सीधा, कोई टेढ़ा, कोई वड़ा, कोई छोटा देख पड़ता है। इसी प्रकार अव तक ब्रह्म का जो एक प्रतिविम्व हिरण्यगर्भ में पड़ रहा था वह अनेक हो गया। इसी बात को उपनिषदों में यों कहा है कि उसने इच्छा की कि मैं एक से अनेक हो जाऊं। जहां एक परमात्मा की प्रतीति होती थी वहां अनेक जीवात्मा प्रतीत होने लगे। जीवात्मा को पुरुष भी कहते हैं।

जीवात्माओं की समष्टि को विराट् या विराट् पुरुष कहते हैं। यों तो परमार्थ-दृष्ट्या जो ब्रह्म है वही परमात्मा है; वही विराट् है और वही जीवात्मा है, परन्तु जीवात्मा अपने को पृथक् मानता है इसलिए जहां परमात्मा अव्याकृत है वहां विराट् व्याकृत है।

प्रधान

समुद्र एक है। जब तक उसमें एक चन्द्रमा देख पड़ता है तब तक उसकी अखंडता वनी रहती है। परन्तु जब उसमें कई प्रतिविम्व पड़ जाते हैं तो ऐसा प्रतीत होता है कि एक एक प्रतिविम्व के चारों ओर समुद्र का एक खंड है। यह खंड कल्पित है, परन्तु जब तक समुद्र क्षुब्ध रहता है तब तक खंड बुद्धि भी रहती है। जलखंड चन्द्र-विम्बों को सीमित करते हैं और चन्द्रविम्व जलखंडों को पृथक् करते हैं। क्षुब्ध हिर-ण्यगर्भ में अनेक जीवात्मा हो गये और प्रत्येक जीवात्मा में चेतना को विशिष्ट करने वाला चित्त था। यह चित्त अविभाज्य और अविभक्त हिरण्यगर्भ के अविद्याजनित अंश थे। जब तक जीवों की पृथक् सत्ता प्रतीत होती रहेगी तब तक पृथक् चित्त भी रहेंगे। यदि हिरण्यगर्भ फिर अक्षुब्ध हो जाय तो फिर एक प्रतिविम्व, परमात्मा, रह जाय और हिरण्यगर्भ में भेदों की प्रतीति का होना बन्द हो जाय। जब तक ऐसा नहीं होता तब तक प्रत्येक जीवात्मा में एक चित्त होगा, क्योंकि परिभाषा के अनुसार चित्त विशिष्ट चेतना को जीव कहते हैं। इन पृथक् चित्तों की समष्टि को प्रधान कहते हैं। प्रधान और हिरण्यगर्भ में अन्तर यह है कि जो चित्त जीवविशेष के साथ बंधे होने के कारण एक दूसरे से पृथक् हैं उनकी समष्टि अयुतसिद्धावयव वस्तु नहीं हो सकती। सब एक दूसरे से स्वतंत्र हैं, एक को दूसरे की अपेक्षा नहीं है। इनको मिलाकर एक नाम देना उतना ही युक्तियुक्त है जितना सड़क पर अपने अपने कामों से आने जाने वालों को मिलाकर भीड़ या किसी ऐसे ही नाम से पुकारना।

चित्त की शक्तियों को गुण भी कहते हैं। सक्रिय ज्ञातृत्व का नाम सत्त्वगुण, सक्रिय भोक्तृत्व का तमोगुण और सक्रिय कर्तृत्व का रजोगुण है।

कुछ लोग ऐसा कहते हैं कि तीनों गुणों की साम्यावस्था प्रधान है। साम्यावस्था वह अवस्था हुई जिसमें कोई भी गुण सक्रिय न हो, परन्तु उस अवस्था में चित्त हो ही नहीं सकता। चित्त न होने का अर्थ यह है कि पुरुषों का नानात्व भी नहीं हो सकता, क्योंकि गुणों की, ज्ञातृत्वादिकी, सक्रियता ही जीवपार्थक्य का हेतु है। जिस अवस्था में पुरुषों का नानात्व होगा उसमें साम्यावस्था नहीं हो सकती। पुरुष का असम, क्षुब्ध, चित्त से ही सान्निध्य हो सकता है।

इसके वाद जगत् प्रपंच का जो विस्तार हुआ है वह, जैसा कि हम आगे देखेंगे, प्रधान में से ही निकला है। प्रधान उसका उपादान है, इसलिए उसको मूलप्रकृति भी कहते हैं। अन्य सव पदार्थ, जिनका उल्लेख आगे होगा, प्रधान की विकृति है।

पुरुष और प्रधान के स्वरूप के सम्वन्ध में भी वह वात सतत स्मरण रखनी चाहिये जो परमात्मा और हिरण्यगर्भ के सम्वन्ध में कही गयी थी। चित्तविशिष्ट चेतना पुरुष या जीवात्मा है, परन्तु सक्रिय चेतना का नाम चित्त है। यह निष्क्रिय सक्रिय का भेद अविद्याजनित है। जब हमारा ध्यान शुद्ध रूप की ओर जाता है तो पुरुष शब्द का और जव अविद्या द्वारा प्रतीयमान सक्रिय रूप की ओर जाता है तब प्रधान शब्द का प्रयोग करते हैं। परमार्थतः जो पुरुष है वही प्रधान है।

अनहम्—न-मैं

जीवात्मा को जो चित्त मिला था वह क्षुब्ध था। उसमें ज्ञातृत्वशक्ति सत्त्वगुण —पहले से ही जाग चुकी थी, अव शेष दोनों शक्तियां—दोनों गुण—भी उद्बुद्ध हो चुकी थीं। सत्त्वगुण के लिए तो विषय था : रज और तम विषयहीन, अतः अतृप्त थे।

जीव के चित्त में जो ज्ञान था वह जीवविषयक था। जीव अपने को जानता था, किन्तु यह ज्ञान परमात्मावस्था के अस्मिता—मैं हूं—रूपी ज्ञान से भिन्न था। जीव के ज्ञान में विशेषता यह थी कि वह अपनी पृथक् सत्ता को जानता था। पार्थक्य का ज्ञान तभी होता है जव अपनी सत्ता के साथ साथ अपने से भिन्न किसी पृष्ठभूमि का भी ज्ञान रहता है। यह भले ही स्पष्ट न हो कि अपने सिवाय क्या है, परन्तु कुछ है, ऐसा प्रतीत हुए विना पार्थक्य की अनुभूति नहीं हो सकती। जीव को इस अवस्था में जो ज्ञान हो रहा था वस्तुतः, उसके तीन अंग थे :

मैं है—अहम् है—अस्मत् है।

न—मैं है—अनहम् है—युष्मत् है—मुझसे व्यतिरिक्त कोई पदार्थ है।

मैं न—मैं नहीं है—अहम अनहम् नहीं है—अस्मत् युष्मत् नहीं है।

मैं और न—मैं एक दूसरे से भिन्न परन्तु सम्वद्ध थे। एक दूसरे का परिच्छेदक

था, एक के कारण दूसरे का ज्ञान हो रहा था। जिस अवस्था में चित्त में सत्त्वगुण प्रबल होता है उस समय उसे बुद्धि कहते हैं। जीवात्मा बुद्धि से अपना ग्रहण कर रहा था और बुद्धि से ही अपने को न—मैं से भिन्न जान रहा था। मैं और न—मैं में विवेक करना बुद्धि का उस प्रकार का व्यापार है जिसे अध्यवसाय कहते हैं।

न—मैं अभी अज्ञात था। इच्छाशक्ति उसे ज्ञान और अवधारण का विषय बनाना चाहती थी। इसके लिए यह आवश्यक था कि मैं के सम्बन्ध में उसको जाना जाय, मैं के साथ उसका सम्बन्ध जाना जाय। इसका परिणाम यह होता है कि न मैं समझ में आता और परिच्छेदक के स्पष्ट हो जाने से मैं का स्वरूप भी अधिक स्पष्ट होता। गहरे अन्धकार में प्रकाश अच्छा देख पड़ता है। इच्छा की पूर्ति के लिए प्रयत्न हुआ। बुद्धि से अहंकार उत्पन्न हुआ। अहंकार एक ओर तो न—मैं को मैं के साथ सम्बद्ध करता है, दूसरी ओर मैं की पृथक्ता को और तीव्र करता है।

कुछ और कहने के पहले दो बातों की ओर ध्यान दिलाना आवश्यक है। पहली बात यह है कि न—मैं की पारमार्थिक सत्ता नहीं है। चेतना के लिए कोई उपाधि है तो अविद्या। उसका कोई और परिच्छेदक नहीं है। अविद्या के कारण ही पृथक् जीवात्मभाव हुआ है और फिर इस पार्थक्य को समझने के लिए न—मैं की खोज हुई है। न—मैं बुद्धिनिर्माण है या यों कह सकते हैं कि अविद्या की ही न—मैं के रूप में प्रतीति हो रही है। दूसरी बात यह है कि परमात्मावस्था तक तो अनुभूतियों का पटपरिवर्तन होने लगा है। अब अनुभव में क्रम है, चित्त में परिणाम होने लगे हैं, इसलिए जीवात्मा काल के क्षेत्र में है।

ज्ञानेन्द्रियां और कर्मेन्द्रियां तथा मन

अभी न—मैं का ठीक ठीक ज्ञान नहीं हो रहा था। इसलिए सक्रिय इच्छा और संकल्प शक्तियों ने अहंकार को उस दशा में न रहने दिया। वह परिणत हुआ और परिणामस्वरूप उसमें से कई पदार्थ निकले। पहले पदार्थ को ज्ञानेन्द्रिय कहते हैं। ज्ञानेन्द्रियां पांच मानी जाती हैं। हम इनका विवेचन पहले कर चुके हैं—श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, रसन और घ्राण। इन शब्दों का अर्थ कान, चर्म, आंख, जिह्वा और नाक नहीं है। कान आदि तो क्रमात् इन्द्रियों के शारीरिक अधिष्ठान हैं, अर्थात् शरीर के वह भाग हैं जहां से इन्द्रियां काम करती हैं। इन्द्रिय चित्त की न—मैं ग्राहक शक्ति है, वह शक्ति है जिसके द्वारा न—मैं खींचकर चित्त में लाया जाता है, ज्ञान का विषय बनाया जाता है। जब विषय चित्त के सामने आ गया तो ज्ञानेन्द्रियां उससे निपट लेंगी, परन्तु कभी कभी उसको चित्त का विषय बनाने के लिए और बराबर बनाये रखने के लिए विशेष प्रयास करना पड़ता है। कभी उसको चित्त का अविषय बनाने के लिए भी

प्रयास करना पड़ता है। इस प्रकार उसके सम्बन्ध में ज्ञान भी बढ़ता है और भोक्तृत्व शक्ति भी कृतार्थ होती है। अतः अहंकार से ज्ञानेन्द्रिय के साथ कर्मेन्द्रिय निकली। ज्ञानेन्द्रिय के द्वारा विषय की चित्त पर क्रिया होती है, कर्मेन्द्रिय के द्वारा विषय पर चित्त की प्रतिक्रिया होती है। कर्मेन्द्रियां भी पांच हैं—वाक्, पाणि, पाद, उपस्थ और पायु। मनुष्य के शरीर में जिह्वा, हाथ, पांव, जननेन्द्रिय और गुदस्थान इनके अधिष्ठान हैं। एक और इन्द्रिय निकली जिसे मन कहते हैं। यह ज्ञानेन्द्रिय भी है और कर्मेन्द्रिय भी। मन वह काम करता है जो बड़े नगरों में टेलीफोन एक्सचेंज से लिया जाता है। सब तार वहीं आकर मिलते हैं। यदि "क" को "ख" से कोई बात कहनी होती है तो वह सन्देशा एक्सचेंज में से होकर जाता है। ज्ञानेन्द्रियां जो ज्ञान भीतर लाती हैं और कर्मेन्द्रियां जो संकल्प बाहर ले जाती हैं, सब मन में मिलते हैं। विषय का जो स्वरूप ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा अधिगत हैं, सब मन में मिलते हैं। विषय का जो स्वरूप ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा अधिगत होता है उसे संवित् कहते हैं। वह—संवित्—मन में होता है। फिर अहंकार उसको पुराने ज्ञानभंडार से मिलाता है, मैं के साथ उसको सम्बद्ध करता है, तब बुद्धि अध्यवसाय करती है। यदि वह भोगानुकूल प्रतीत हुआ तो उसे ज्ञान का विषय बनाये रखने के लिए, अन्यथा ज्ञान का अविषय बनाने का प्रयास होगा। यह संकल्प बुद्धि से मन के द्वारा कर्मेन्द्रियों तक पहुंचता है। मन संवित् और संकल्प के बीच का सम्बन्ध सूत्र है।

न—मैं की सत्ता का ज्ञान तो जीवात्मा को आरम्भ से ही था, किन्तु वह ज्ञान अस्पष्ट, असम्पूर्ण था। उसको पूर्ण करने के लिए ही चित्त की आकुलता उसको परिणत कर रही थी और ज्ञानेन्द्रियादि की उत्पत्ति कर रही थी। इसलिए इनके साथ ही अनहम्—न मैं—का प्रथम स्पष्ट ज्ञान भी उत्पन्न हुआ। चित्त में श्रोत्रेन्द्रिय के द्वारा प्रथम संवित्—शब्द—की उत्पत्ति हुई। संवितों को तन्मात्रा भी कहते हैं, क्योंकि उनके द्वारा उसका—अज्ञात न—मैं, युष्मत्—का भान, ज्ञान, होता है।

आदि शब्द

मूलप्रकृति से हम इन्द्रिय, मन और शब्द तन्मात्रा तक पहुंचे हैं। विकास की यह अवस्था उस भौतिक जगत् का प्रवेश द्वार है जिससे हम परिचित हैं।

श्रोत्रेन्द्रिय और शब्द के सम्बन्ध में न केवल अशिक्षितों प्रत्युत पंडितों में भी बहुत भ्रम फैला हुआ है। इस भ्रम का कारण यह है कि निगमागम पढ़ तो लिये जाते हैं, परन्तु उनके अर्थ को समझाने का प्रयत्न नहीं किया जाता। निदिध्यासन करने का तो नाम भी नहीं लिया जाता। सम्यक्रूपेण मनन भी नहीं होता। इसलिए वाग्जाल का विस्तार बढ़ता जाता है, विकल्प परिवार में वृद्धि होती जाती है और एक ओर

का नाम आकाश है। सारी चंचलता, सारी अस्थिरता, सारी गतियों का आस्पद यह आकाश वही पदार्थ है जिसको दिक् नाम से भी पुकारा जाता है। वद्धि संवितों से उनके हेतुओं का निर्माण किया करती है। आकाश प्रथम बुद्धिनिर्माण था।

शेष तन्मात्रा तथा महाभूत

न—मैं से—जो अव शब्दवान् आकाश था—दूसरा संवित् त्वगिन्द्रिय के द्वारा प्राप्त हुआ। इसको स्पर्श कहते हैं। स्पर्श और त्वक् के सम्बन्ध में भी कुछ उसी प्रकार की भूल होती है जैसी शब्द और श्रोत्र के सम्बन्ध में की जाती है। साधारणतः स्पर्श का अर्थ होता है छूना, इसलिए स्पर्श के कठिन और कोमल, दो भेद किये जाते हैं। तापमान भेद से स्पर्श को शीत और उष्ण कहते हैं। परन्तु स्पर्श का क्षेत्र इससे व्यापक है। विज्ञान के अनुसार ऊर्जा एक है। वही कभी ताप के रूप में अनुभूत होती है, कभी प्रकाश के, वही नाड़ियों में दौड़ती है, मांस-पेशियों को कार्यकुशल बनाती है, रासायनिक क्रिया कराती हैं, तार और वेतार को चलाती है। उसके कुछ भेदों का अपरोक्ष अनुभव हमको होता है, कुछ का नहीं। जो अनुभव होते हैं उनको हमने ताप और प्रकाश जैसे नाम दे रखे हैं।

यदि यह वात ठीक है तो हम फिर वही अभियोग प्रकृति पर लगा सकते हैं कि उसने कई वातें हमसे छिपा रखी हैं। उनको जानने के लिए कोई इन्द्रिय नहीं हैं, न इन्द्रिय के अभाव में संवित् हो पाता है। वस्तुतः यह अभियोग ठीक नहीं है। संवित् होता है। वह संवित हमारे साधारण जीवन में ताप और उससे भी नीचे उतर कर काठिन्यरूपी होता है, पर इसके सूक्ष्म भेद भी हैं, इनका भी ग्रहण त्वगिन्द्रिय करती है। जव वह शरीर के वन्धन से छुटकारा पाती है तो सूक्ष्म स्पर्श के संवित होते हैं।

जिस प्रकार शब्द से आकाशनामा वुद्धिनिर्माण हुआ उसी प्रकार स्पर्श तन्मात्रा से वायु नाम का वुद्धिनिर्माण वना। शब्द स्पर्शवान न—मैं वायु है। वही प्राण है वही विद्युत् है, वही वह शक्ति है जो अनेक दूसरे रूपों से भौतिक जगत् को परिचालित कर रही है।

अव अधिक विस्तार से लिखना अनावश्यक है। वायु से चक्षुरिन्द्रिय द्वारा रूप संवित् हुआ और रूप से शब्द स्पर्श रूपवान तेजवान तेजनामा वुद्धि निर्माण वना। तेज से रसनेन्द्रिय द्वारा रससंवित् हुआ और रस से शब्द स्पर्श रूप रसवान अपनाम का वुद्धिनिर्माण हुआ। अप् से घ्राणेन्द्रिय द्वारा गन्ध संवित् मिला और गन्ध से शब्द स्पर्श रूपरस गन्धवती क्षिति वुद्धि निर्माण वनी। इस प्रकार सव भूतों की उत्पत्ति हो गयी। फिर तो भूतों के विभिन्न मात्राओं में मिलने से यह विश्व, यह भौतिक जगत वना, जो हमारे दैनिक जीवन का क्षेत्र है। भूतों के मिलने से नये संघातों का वनना और उनके

बिखरने से पुराने संघातों का टूटना निरन्तर जारी है। यही हमारा युष्मत् प्रपंच है।

भूतों का यह क्रम आजकल की वैज्ञानिक विचारधारा के अनुकूल प्रतीत होता है। इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है। परन्तु यदि आगे चलकर वैज्ञानिक सिद्धान्तों में कुछ संशोधन हो तब भी दार्शनिक क्रम यही रहेगा। यह हो सकता है कि वैज्ञानिक शोध के और बढ़ने से हमको भूतों के स्वरूप को समझने में और सहायता मिले। इस स्थल पर इतना जान लेना पर्याप्त है कि भूतों में सब का मूल वायु है और उसके स्पर्श संवित् को ग्रहण करने वाली इन्द्रिय त्वक् है। वायु का स्थूलीभूत रूप, जो रूप संवित् द्वारा चक्षुरिन्द्रियग्राह्य है, तेज है। तेजस अवस्था में तत्त्वों का विभाग नहीं हुआ। जब तेज घनीभूत होता है तो पृथक् तत्त्व बनने लगते हैं। उस रूप को अप् कहते हैं और उसके रससंवित की ग्राहक इन्द्रिय रसना है। पिण्डीभूत अप् क्षिति कहलाता है। उसके गन्धसंवित् का ग्रहण घ्राण इन्द्रिय करती है।

भूतों की पारमार्थिक सत्ता के सम्बन्ध में भ्रम न होना चाहिए। अविद्या के कारण जीवात्मा अपने को जीवात्मा—परिच्छिन्न—पृथक् व्यक्ति मानता है। अविद्या उसके भीतर है पर वह अपने परिच्छेदक को ढूंढ़ता है, उसको जानना चाहता है। चित्त क्षुब्ध, आकुल होता है, बुद्धि से अहंकार की सृष्टि होती है और अहंकार से इन्द्रियों और मन की। इन्द्रिय और मन के द्वारा चित्त में अनेक संवित् होते हैं अर्थात् वह अनेक प्रकार से उस पदार्थ को ज्ञान और भोग का विषय बनाता है, जो सदा से उसके भीतर है। प्रत्येक संवित् के अनुसार उस पदार्थ, उस न—मैं, का नया ज्ञान होता है और बुद्धि उसके विषय में एक नयी कल्पना करती है। बुद्धि के ये निर्माण ही आकाशादि हैं। ऐसा कह सकते हैं कि जो ज्ञातृत्वादि योग्यतात्रय अपनी साम्यावस्था या शुद्धावस्था में चेतना, ब्रह्मरूप है, वही सक्रिय अवस्था में चित्त है और वही घनी-भूत होकर भूत हो गयी है। जो ज्ञाता है, वही ज्ञान का साधन है, वही ज्ञेय है। यह त्रिपुटी अविद्याकृत है, जड़चेतन का भेद अविद्या कृत है, अस्मत्—युष्मद् का विभाग अविद्याकृत है।

हमने देखा कि किस प्रकार एक अद्वैत ब्रह्म अनेक रूपों में हमारे सामने प्रकट होता है। यह सच है कि यह नानात्व कल्पित और अविद्याकृत है। परन्तु उसकी प्रतीति तो हो ही रही है। भले ही हमारे सामने जो वस्तु पड़ी है वह रस्सी का टुकड़ा हो, परन्तु जब तक हमको सर्प की प्रतीति हो रही है तब तक तो वह हमारे लिए सर्प ही है और हमारे भीतर वह सब प्रतिक्रियाएँ होती रहती हैं जो वास्तविक सर्प से होतीं। चित्त में स्वभावतः यह प्रश्न उठता है कि क्या कभी इस द्वैत भावना, इस अविद्याजन्य नानात्व, से छुटकारा भी मिल सकता है?

शास्त्र हास्यास्पद वन जाता है, दूसरी ओर पढ़ने पढ़ानेवाले सत्य से दूर होते चले जाते हैं।

शव्द का अर्थ स्वन—उस प्रकार का संवित् जो दो क्षैत वस्तुओं के टकराने पर होता है, माना जाता है और श्रवणेन्द्रिय उसकी ग्राहक मानी जाती है। यह वात ठीक है, परन्तु स्वन का क्षेत्र तो वहुत संकुचित है। वैज्ञानिक प्रयोगों से सिद्ध है कि यदि किसी प्रकार के आघात के कारण कोई वस्तु प्रकम्पित हो उठे और उसके चारों ओर कोई ऐसा ठोस या तरल माध्यम हो जो हमारे कान तक पहुंचता हो तो उस माध्यम में एक प्रकार की लहर उत्पन्न होती है जिसके फलस्वरूप हमको स्वन—संवित् होता है। हमारे नाड़ी संस्थान की वनावट ऐसी है कि यदि वस्तु का कम्पन लगभग सोलह वार प्रति सेकेण्ड से कम या लगभग पचास हज़ार प्रति सेकेण्ड से अधिक हो तो स्वन नहीं सुन पड़ता। जहां कोई ठोस या तरल माध्यम नहीं है, वहां कम्पन भले ही हो, परन्तु स्वन नहीं आ सकता। सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र आदि से हमको प्रकाश मिलता है, स्वन नहीं। किन्तु पोथियों के आवार पर पंडित सम्प्रदाय शव्द का सम्वन्ध आकाश से जोड़ता है जो सर्वथा अवैज्ञानिक जान पड़ता है।

जो स्वन कान से सुन पड़ते हैं, चाहे वह मनुष्य या पशुपक्षी की वोली के अंग हों या जड़ वस्तुओं से उत्पन्न होते हों, उनको हम मुंह से भी वोल सकते हैं। ऐसे स्वनों के समूह को वैखरी वाणी कहते हैं, परन्तु जिसको दर्शन में शव्द कहते हैं वह वैखरी से अविक सूक्ष्म है।

चित्त क्षुव्व था, चंचल, अस्थिर था। तीनों गुण, तीनों शक्तियां, जाग्रत थीं। एक का तिरोभाव, दूसरे का प्रादुर्भाव हो रहा था। यही चित्त के परिणामी, परिवर्तनशील होने का हेतु है। न—मैं को पूर्णतया जानने और भोगने के लिए आकुलता थी। यह न—मैं चित्त के वाहर कहीं नहीं था, वुद्धि निर्माण मात्र था, फिर भी उस अवस्था में चित्त उसे विषय वनाना चाहता था, उसको समझना चाहता था जिसके जानने के लिए उत्सुकता थी, तनाव था, वह स्वयं चित्त के भीतर था। इसलिए जव वह पहले पहले जाना गया तो चंचलता के रूप में। अपनी चंचलता का निक्षेप न—मैं में करके चित्त ने पहले यह जाना कि न—मैं चंचल, अस्थिर है। पहला संवित् अस्थिरता, परिवर्तनशीलता, का हुआ। इसी का नाम शव्द है। जो इन्द्रिय इसका ग्रहण करती है उसका नाम श्रोत्रेन्द्रिय है।

यह अस्थिरता उन सव पदार्थों में भी है जिनसे हमको स्वन मिलते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि प्रत्येक भौतिक पदार्थ प्रत्येक क्षण में शव्दायमान है, परन्तु हमारी श्रोत्रेन्द्रिय को जिस शरीररूपी उपकरण से काम लेना पड़ता है वह इस शव्द समूह के अविकांश को अगृहीत वना देता है। केवल वह थोड़ा सा भाग सुन पड़ता है जो इस

शरीर के ही समान छोटे वड़े पिण्डों के आहत होने पर निकलता है। स्वन ही एक ऐसा संवित् है जिससे हमको वस्तुओं की चंचल अवस्था का परिचय मिलता है। योगियों का ऐसा कहना है कि जब प्राण किंचित् ऊर्ध्वमुख होता है तो इन्द्रियों का शरीरगत वन्धन भी शिथिल पड़ जाता है। उस समय श्रोत्रेन्द्रिय अनाहत शव्द—विना आघात के, सहज शव्द—का ग्रहण करती है। उस समय भौतिक पदार्थों की सहज चंचलता का संवित् होता है। यह संवित् उन रूपादि दूसरे संवितों के अतिरिक्त हैं जो हमको भूतों से प्राप्त होते हैं। उस आदिम अवस्था में तो कोई भूत नहीं था, कोई दूसरा संवित् हो नहीं सकता था, केवल शव्द था। श्रोत्रेन्द्रिय उसके मूल रूप का ग्रहण कर रही थी। मूल रूप इसलिए कहता हूं कि भौतिक वस्तुओं में चंचलता के भी स्वभावतः अनेक भेद पाये जाते हैं, इसलिए वैखरी वाणी में व्यंजनीय स्वरों से लेकर अहंकार से निकले आदि शव्द तक स्थूल सूक्ष्म शव्द संवितों की अपार राशि है। हमारे सारे गानवाद्य उसके सामने तुच्छ हैं। आदि शव्द को योगियों ने अनेक नाम दिये हैं। वही आदि शव्द, उद्गीथ, प्रणव, स्फोट, तार, नाद, सत्यनाम, परावाणी, गगनगिरा, नीरवता की वोली, लोगास और सुल्तानुल अज़कार है।

आदि शव्द को ओंकार भी कहते हैं। ओंकार के अ, उ, और म् तीन अंग कहे जाते हैं। इन तीन अक्षरों के अनेक प्रकार से अर्थ किये जाते हैं। इस सम्वन्ध में लोगों ने वड़ी वड़ी पुस्तकें लिख डाली हैं। परन्तु यह सव शास्त्रार्थ की वातें हैं, जिनमें उलझ कर नासमझ अपना समय नष्ट करते हैं। सच्चा ओंकार वह है जो अनुच्चार्य है। इसीलिए छान्दोग्य उपनिषद् में लिखा है कि देवगण उद्गीथ को जव सव जगह ढूंढ़कर हार गये तव वह उनको प्राण में मिला।

शव्द समस्त भौतिक जगत् में व्याप्त है इसलिए श्रोत्रेन्द्रिय अन्य सव इन्द्रियों से वलवती तथा सूक्ष्मग्राही है। कम्पन तो सोलह वार प्रति सेकेंड से कम और पचास हज़ार वार से अधिक भी होता होगा, पर हमको उसका पता नहीं लगता। उस अवस्था में वस्तु हमारे लिए अज्ञात रहती है। जव कम्पन का वेग वहुत वढ़ जाता है तव ताप की अनुभूति होने लगती है तथा वेग और वढ़ने पर प्रकाश की। किन्तु यदि वेग वढ़ता ही जाय तो हमारी इन्द्रियां जवाव दे देती हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि प्रकृति ने हमारे ऐन्द्रिय ज्ञान की लड़ी कई जगहों से तोड़ दी है। वस्तुतः ऐसा नहीं है। शव्द की अनुभूति वरावर हो सकती है। आवश्यकता इस वात की है कि श्रोत्रेन्द्रिय उस दासता से मुक्त की जाय जो शरीर ने उस पर मढ़ दी है। विपत्ति यह है कि चित्त भी उसको वैखरी क्षेत्र के स्वनों के पीछे दौड़ने से छुट्टी नहीं देना चाहता।

चित्त में शव्द संवित् हुआ इसलिए वुद्धि में यह प्रतीत हुआ कि न मैं—शव्दवान्, चांचल्य—अस्थिरता, परिवर्तनशीलता—लिंगवाला है। शव्दलिंगी न—मैं,

अविद्या का प्रतिषेध तो विद्या है। किसी प्रकार का कर्म नहीं। इसका अर्थ यह हुआ कि जब तक अज्ञान दूर नहीं होता तब तक द्वैत का भान होता रहेगा। विद्या दो प्रकार की होती है : परा और अपरा। साधारणतः जो कुछ पढ़ा लिखा जाता है वह सब अपरा विद्या है। परा विद्या तो उसको कहते हैं जिससे आत्म साक्षात्कार होता है अर्थात् नानात्व का पूर्णतया ह्रास होकर अपने शुद्ध ब्रह्म रूप की अनुभूति होती है। उसका चर्चा आगे के अध्यायों में होगा। परन्तु परा विद्या के उदय होने के पहले भी किन्हीं अवस्थाओं में अंशतः नानात्व, द्वैत, का संकोच होता है।

सुषुप्ति

स्वस्थ मनुष्य प्रतिदिन कुछ देर के लिए गहरी नींद सो जाता है। जो ऐसा नहीं कर सकता वह अपने को अभागा मानता है। सुषुप्ति में भोक्तृत्व और कर्तृत्व शक्तियां निष्क्रिय हो जाती हैं, ज्ञातृत्व में हल्की सी सक्रियता रहती है। इस अवस्था में नानात्व लुप्तप्राय हो जाता है। परन्तु सुषुप्ति बहुत देर तक नहीं रहती। जागने के साथ ही पुराने संस्कार फिर बलवान् हो जाते हैं और नानात्व की प्रतीति पूर्ववत् होने लगती है। सुषुप्ति में भले ही अपने पार्थक्य का स्पष्ट अनुभव न हो परन्तु जागने पर यह पार्थक्य पूर्ण रूप से छा लेता है जिससे यह स्पष्ट होता है कि यह बात दब सी गयी थी, पूर्णतया लुप्त नहीं हुई थी। दो व्यक्ति भले ही एक दूसरे के पास सोये हों परन्तु ऐसा कभी नहीं देखा गया कि जागने पर एक स्मृति और संस्कार दूसरे के शरीर में आ गये हों।

महाप्रलय

यों तो विशेष कारणों से किसी व्यक्ति को किसी समय भी नींद लग सकती है, किन्तु कुछ ऐसी परिस्थिति होती है कि रात में एक ही समय लाखों मनुष्य सोते देख पड़ते हैं। सब एक दूसरे से पृथक् हैं, पर सब के व्यक्तित्व खोये हुए से रहते हैं। कभी-कभी ऐसा होता है कि ऐसी अवस्था दीर्घकाल के लिए बहुत से जीवों की हो जाती है। ज्योतिषी निश्चय के साथ कहीं कह सकता कि किन खेचर पिंडों पर जीवधारी रहते हैं। सब प्राणियों के शरीर पृथिवी पर रहनेवालों के समान हैं, यह बात क्यों मानी जाय? ऐसी परिस्थिति उत्पन्न हो सकती है जिसमें एक दूसरे से सम्बद्ध बहुत से पिंड एक साथ नष्ट हो जायं या बसने के योग्य न रह जायं। सूर्य को किसी प्रकार का आघात पहुंचने से सौर मंडल के सारे ग्रहों की यही गति होगी। सूर्य धीरे धीरे ठंडा हो रहा है। एक दिन उसकी ठंडक इतनी बढ़ जायगी कि यदि उस समय उसके साथ कोई ग्रह बच रहा तो वह हम जैसे प्राणियों के बसने के अयोग्य हो चुका होगा। सूर्य आकाश गंगा में

है। यदि इस नीहारिका के उस प्रदेश में, जिसमें सूर्य इस समय है, कोई क्षोभ उत्पन्न हो तो सूर्य और उसका परिवार नष्ट हो जायगा। क्षोभ होगा या नहीं, यदि होगा तो कब और कैसे होगा, यह सब हम अभी नहीं जानते। कुछ विज्ञानविदों को ऐसा प्रतीत हो रहा है कि वायु की सक्रियता कम हो रही है अर्थात् धीरे धीरे सारे भौतिक पिंड निश्चेष्ट, गतिहीन होते जा रहे हैं। यदि ऐसा है तब भी सम्भवतः एक दिन इन पर प्राणी न रह सकेंगे। परन्तु जीव नष्ट नहीं होते, वह प्रसुप्त से हो जाते हैं। ऐसी दशा को, जिसमें जगत् का बहुत बड़ा भाग नष्ट या बसने—जीवों के भोग—के अयोग्य हो जाता है, महाप्रलय कहते हैं। महाप्रलय में उस खंड के जीव हिरण्यगर्भ में निमज्जित रहते हैं। जब फिर परिस्थिति अनुकूल होती—और अनुकूल परिस्थिति का पुनः स्थापित होना अनिवार्य है, क्योंकि जीवों के भीतर ही तो सारी परिस्थितियों का भंडार है—तो नयी सृष्टि होती है। जीवों की ज्ञातृत्वादि शक्तियां चिरसुषुप्त नहीं रह सकतीं, क्योंकि अविद्या तो कहीं गयी नहीं है। शक्तियां जब जागरणोन्मुख होती हैं तो जीव हिरण्यगर्भ में से पुनः निकलते हैं। प्रत्येक जीव अपने संस्कार अपने साथ लाता है। फिर जगत् का निर्माण करते हैं। पिछले संस्कारों के कारण जीवों में वैलक्षण्य होता है, इसलिए एक ही प्रकार के शरीर से सबका काम नहीं चल सकता। परिस्थितियां बदलती हैं, सबको अपने अपने अनुरूप शरीर मिल जाते हैं। यों ही सर्ग और प्रतिसर्ग का प्रवाह चला जाता है।

महाप्रलय और नूतन सृष्टि के बीच में जितने काल तक जीव हिरण्यगर्भ में प्रलीन रहते हैं उतने दिनों तक उनके लिए नानात्व लुप्तप्राय रहता है। परन्तु यह लोप भी आत्यन्तिक नहीं है। उस अवस्था में भी ज्ञानशक्ति काम करती है और उसके बाद नानात्व का वृक्ष फिर हरा भरा हो जाता है।

सौन्दर्यानुभूति

कुछ ऐसे दृग्विषय हैं जिनको देखकर हृदय में रस का संचार होता है। गगनचुम्बी हिमाच्छादित गिरिशिखर, समुद्र की फेनिल उत्ताल तरंग, प्रपात और निर्झर, तारों से जगमगाता आकाश, शीतल शशिप्रभा, यह सब मनोरम लगते हैं। किसी तूलिका से निकला चित्र, किसी कवि के मुंह से निकले कुछ शब्द, चित्त को बरबस अपनी ओर खींच लेते हैं। हम इन सब में जो मनोहारिता पाते हैं उसको सौन्दर्य कहते हैं। यह सब अपने अपने ढंग से सुन्दर हैं।

सौन्दर्य के सम्बन्ध में बृहत् वाङ्मय है। विशेषज्ञों ने जिन बातों का विवेचन किया है उनमें पड़ने की हमको आवश्यकता नहीं है। यहां तो सौन्दर्यानुभूति के विषय में केवल इस बात पर जोर देना है कि उस अवस्था में मनुष्य अपने को भूल सा जाता

है। द्रष्टा की दृश्य के साथ तन्मयता हो जाती है और दर्शनमात्र रह जाता है। जितनी ही तन्मयता होती है उतनी ही गहरी सौन्दर्यानुभूति होती है। सौन्दर्य की यही कसौटी है कि वह चित्त को एकाग्र कर सके। अनुभूति कुछ तो द्रष्टा पर निर्भर करती है, कुछ दृश्य पर। द्रष्टा अपने को जितना ही वासना से शून्य करता है उतनी ही उसको सौन्दर्य की अनुभूति होती है। वासना रागात्मक हो या द्वेषरूपा, वह सौन्दर्य पर पर्दा डाल देती है। कामी पुरुष सौन्दर्य को न ढूंढता है, न पाता है, वह रति वासना की तृप्तिमात्र चाहता है। जो क्रोध से पागल हो रहा है उसके लिए फूल से कोमल बालक में भी सौन्दर्य नहीं है, जिसकी इच्छा कहीं और अटकी हुई है उसके लिए कोई दृश्य सुन्दर नहीं हो सकता। जब चित्त अपने को किसी वस्तु पर लगा देता है तो उसका पूरा ज्ञान होता है, उसका सारा तत्त्व, सारा रहस्य, आप से आप सामने आता है। नाटक के प्रेक्षण का पूरा लाभ उसी को मिलता है जो स्वयं अभिनेता नहीं होता। ऐसे प्रेक्षक को प्रतिक्षण वस्तुस्वरूप का कोई नया अनुभव होता है, जो उस मनुष्य को नहीं हो सकता जो उसको भोग का साधनमात्र मानता है।

सौन्दर्यानुभूति की कुंजी स्रोतापत्ति—अपने को प्रवाह में डाल देना—है। सौन्दर्य—वस्तु का स्वरूप—तब पूरा पूरा सामने आता है जब सौन्दर्य की भी खोज, उसके लिए प्रयास, न हो। ऐसा होने पर ही बूंद उस समुद्र को उन्मुक्त कर देती है जो उसके गर्भ में सतत छिपा रहता है। खिले कमल में, बादलों में से झांकती ज्योत्स्ना में, उषा के स्मित में, मयूर के नृत्य में, विधवा के मौन रुदन में, अनाथ की लुटी आंखों में, विश्व का रहस्य भरा है। हम रुदन के सम्बन्ध में सौन्दर्य शब्द सुनकर चौंकते हैं। यह प्रयोग कुछ असाधारण सा तो है, परन्तु हमारे चौंकने का मुख्य कारण यह है कि हम सौन्दर्य को भोग्यता का अंग मानने के अभ्यासी हो गये हैं।

जो चित्त किसी भी वस्तु के प्रति अपने को इस स्रोतापत्ति अवस्था में डाल देता है उसको उस वस्तु का यथावत् अनुभव तो होता ही है, अर्थात् उससे वह सब संवित् तो प्राप्त होते ही हैं जो अन्यथा व्यक्त रहते हैं, बुद्धि को उसमें वह शक्तियां मूर्तिमती देख पड़ती हैं जो जगत् को परिचालित करतीं प्रतीत हो रही हैं। ऊंचा पहाड़ पत्थरों का ढेर नहीं है, वह शक्ति है जो गुरुत्वाकर्षण को अभिभूत कर रही है, उस ओज का प्रतीक है जो नीचे खींचनेवाली परिस्थितियों को ठोकर मारकर ऊपर उठाता है; वसन्त में कली नहीं चटकती, शिशिर में पत्तियां नहीं झड़तीं, ब्राह्मी और रौद्री शक्तियां काम करती हैं; कमल किंजल्क के बीच में भौंरा रसपान नहीं करता, लक्ष्मी अमृत के कलश लुढ़काती है; कुतिया अपने बच्चों को दूध नहीं पिलाती, साक्षात् जगद्धात्री जीवों में प्राण डाल रही है। इन शब्दों का प्रयोग नहीं किया जाता, इन शक्तियों की कल्पना भी बहुतों को नहीं होती, फिर भी इनका साक्षात्कार होता

है। देखनेवाला अपने साधारण जीवन के ऊपर उठ जाता है, भौतिक जगत् का कुछ अंश पीछे छोड़ देता है, उसको ऋत और सत्य की कुछ झलक मिल जाती है, नानात्व का कुछ उपशम हो जाता है, उस एक पदार्थ से थोड़ा वहुत तादात्म्य प्राप्त हो जाता है जो सबका मूल है। सौन्दर्यानुभूति या रसानुभूति एक प्रकार की समाधि है। वह लोग भाग्यवान् हैं जिनको यह अनुभव प्राप्त होता है। एकाध वार स्यात् सबको ही ऐसा हो जाता है, परन्तु किसी किसी को जन्मना यह सिद्धि प्राप्त होती है। ऐसा अनुभव वहुत देर तक नहीं ठहरता, परन्तु जव तक रहता है तव तक चित्त एक अपूर्व उल्लासमय अवस्था में रहता है। जो लोग अपने इस अनुभव को दूसरों तक पहुंचाने की क्षमता रखते हैं वही कवि और कलाकार कहलाने के पात्र हैं।

दृश्य द्रष्टा से भिन्न नहीं है। अविद्या ने ही यह द्वैध उत्पन्न किया है। दृश्य रूप में द्रष्टा को अपना दर्शन होता है। दृश्य में जो भी स्थूल सूक्ष्म लक्षण प्रतीत होते हैं वह द्रष्टा की ही चित्तप्रसूति हैं। अतः जव चित्त एकाग्र होता है और रस की अनुभूति होती है उस समय द्रष्टा अपने ही सूक्ष्म रूप को देखता है। दृश्य सिमिटकर द्रष्टा के पास आ जाता है।

यों तो विशिष्ट व्यक्तियों के लिए सर्वत्र सौन्दर्य है, परन्तु कुछ वस्तुएं ऐसी हैं जो चित्त को अपनी ओर जल्दी खींचती हैं। इनमें मौलिक शक्तियां इस प्रकार व्यक्त होती है कि उनका एक बार तो चित्त पर प्रभाव पड़ता ही है। ऊंचे पहाड़, समुद्र की उठती लहरें, खिले फूल, नदी का कल-कल प्रवाह, इन्दुरश्मिप्रभा, सीकरसिक्त संगमर्मरशिला, नक्षत्रवसना निशा—इनकी ओर चित्त खिच ही जाता है।

यही वात सच्चे कलाकार की कृति में होती है। कलाकार फोटो नहीं खींचता। वह प्रकृति की अनुकृति नहीं करता। उसका उद्देश्य यह है कि सत्य की जो झलक उसको मिली है वह दूसरों को भी मिले। इसके लिए उसको भौतिक साधनों से काम लेना पड़ता है और यह साधन अपने सहज दोषों को छोड़ नहीं सकते। चंचल सक्रिय पदार्थों को धातु, पत्थर या कागद में वांधना उनको मार डालना है। उसका कौशल इसी वात में है कि कला की सामग्री कला के उद्देश्य को कम से कम व्यवहित कर सके। कवि इस वात में भाग्यवान् है, कि उसका उपकरण शब्द है। शब्दों में प्रवाह होता है और वह विचार प्रवाह के प्रतीक होते हैं। पद्य में विभिन्न छन्दों की मात्रा और लय के संघटन से प्राणों में लय उत्पन्न होता है और इससे चित्त की एकाग्रता में सहायता मिलती है। शब्दों का प्रयोग भी ऐसा होता है कि बुद्धि ब्योरे की बातों में न उलझकर उसी तत्त्व पर टिके जहां कवि उसे जमाना चाहता है।

काव्य दृश्य हो या श्रव्य, कवि को विभाव और स्थायी से काम लेना पड़ता है, अनुभाव और सात्त्विक को दिखाना पड़ता है,परन्तु उसका लक्ष्य रस ही रहता है। यदि

नायक नायिका या उद्दीपन सामग्री या रति आदि भाव या पात्रों की चेष्टायें अपने आगे न बढ़ने दें तो कवि की प्रतिभा का दोष है। यह सब तो रस के लिए बहानामात्र होना चाहिए। किसी पुरुष का किसी स्त्री के प्रति प्रेम, किसी प्रोषितपतिका का विलाप, किसी माता का पुत्र की मृत्यु पर क्रन्दन, किसी महापुरुष की आत्मबलि, किसी संयमी की तपस्या—वर्णन का आधार प्रत्येक दशा में कोई व्यक्तिविशेष ही हो सकता है, परन्तु चित्त इन उदाहरणों से उठकर प्रेम, करुणा, त्याग और वैराग्य के निर्व्यक्ति क्षेत्रों में मंडराने लगता है। श्रोता अपने में पात्र को और पात्र में अपने को देखने लगता है, थोड़ी देर के लिए अनुभूति का घेरा निःसीम और उसकी गहराई अथाह हो जाती है।

कलाओं में संगीत का स्थान सबसे ऊंचा है। संगीत साहित्य से भी ऊपर उठता है। शब्द अपने अर्थों और ध्वनियों को नहीं छोड़ सकते, इसलिए वह बुद्धि को कुछ न कुछ उलझाये बिना नहीं रह सकते। संगीत में स्वर और ताल से काम लिया जाता है। जिस स्फोट से भौतिक जगत् निकला है उसकी पहली अभिव्यक्ति स्वरों में हुई, इसलिए स्वरराशि परावाणी के बहुत निकट है। अच्छे गाने या बजानेवाले को भाषा में कुछ बतलाने की आवश्यकता नहीं होती, स्वरों का आरोहावरोह प्राण को झंकृत कर देता है, ऐसा प्रतीत होता है कि देह का बंधन छूट गया, मैं उठता, फैलता सा जाता हूं, एक अद्भुत आनन्द अपने में छा जाता है, रस का महोदधि उमड़ आता है। सामवेद के उद्गाता और वीणा के कुशल बजानेवाले अनाहत नाद से स्वर मिलाते हैं, नटवर की पायल ब्रह्मांडों के स्पन्दन को ताल देती है। ऐसे संगीत विशारद भी कम हैं जिनको ताल और स्वर मंडल पर इतना चमत्कारी अधिकार हो, ऐसे भाग्यवान् भी कम हैं जो संगीत से ऐसा रस पाते हों, परन्तु क्षण भर का भी ऐसा समाधिकल्प अनुभव मनुष्य को पवित्र कर देता है।

कभी कभी ऐसा अनुभव जिसका ऊपर उल्लेख किया गया है—प्राण का भीतर की ओर खींचना, सांस का रुक सा जाना, शरीर का शिथिल पड़ जाना, अपना ऊपर उठना या चारों ओर फैल सा जाना—ऐसे लोगों को भी हो जाता है जो न कला कलाकार हैं, न कला के विशेष प्रेमी। ऐसा प्रतीत होता है कि इस क्षण भर में विश्व का सारा रहस्य समझ में आ गया। बाद में इसकी कोई स्मृति नहीं रहती कि समझ में क्या आया था। ऐसे लोग या तो इस अनुभव की ओर उपेक्षा करते हैं या इसको ही समाधि की काष्ठा समझ लेते हैं। दोनों ही अवस्थाओं में वह ऐसे दुर्लभ अनुभव को आत्मसाक्षात्कार की सीढ़ी बनाने से वंचित रह जाते हैं। उनको वह पद भी प्राप्त नहीं होता जहां कलाकार पहुंचता है, क्योंकि योगी न होते हुए भी सच्चा कलाकार समाधि की निम्न भूमियों में बारम्बार प्रवेश कर सकता है।

जिस समय वैज्ञानिक प्रयोक्ता अपने शास्त्र की गूढ़ समस्याओं पर विचार करता है, उस समय थोड़ी देर के लिए उसकी वुद्धि के सामने से भी नानात्व के बादल हट जाते हैं और एकत्व की एक झलक देख पड़ जाती है। यह झलक अस्फुट भले ही हो, परन्तु उसमें अद्भुत स्फूर्ति होती है। जिन लोगों ने विज्ञान में नवयुग प्रवर्तित करने का श्रेय पाया है उन सवको ऐसा अनुभव कभी न कभी हुआ है। यह वह विन्दु है जहां विज्ञान और कला की रेखायें एक दूसरी को काटती हैं।

कुछ ऐसा ही अनुभव उस व्यक्ति को भी कभी हो सकता है जो दार्शनिक समस्याओं पर गम्भीर मनन करता है परन्तु यदि मनन के साथ साथ निदिध्यासन न हुआ तो व्यर्थ है। कोरे अनुमन्ता के सामने सत्य के स्वरूप के कोई नये पटल नहीं आते, वह वुद्धिनिर्माणो, विकल्पों और शब्दों के जंगल में भटकता रह जाता है। जो केवल पंडित है उसका पद विज्ञान के आचार्य और सच्चे कलाकार से वहुत नीचा है। यदि उसको कभी सत्य की झलक मिली भी तो उस प्रकाश में उसके भीतर का अंधेरा और प्रगाढ़ हो उठा होगा। कोरा शास्त्री जिसे विद्या समझता है वह अविद्या का ही भेद है।

आत्मबलि

एक और अवस्था है जिसमें मैं और तुम का भेद लुप्तप्राय हो जाता है। कभी कभी कोई मनुष्य किसी के प्रेम में या स्नेह में इतना डूव जाता है कि उसके लिए अपना सर्वस्व न्यौछावर करना सहज सी वात हो जाती है। उसके लिए त्याग त्याग नहीं प्रतीत होता। ऐसा व्यवहार माता अपनी संतति के लिए और कभी कभी पत्नी अपने पति के लिए कर वैठती है। दो मित्रों के वीच में भी कभी कभी ऐसा देखा जाता है। और भी उदाहरण कभी कभी मिल जाया करते हैं। जिस समय मां अपने वच्चे के लिए अपना प्राण तक उत्सर्ग कर देती है, उस समय उसे यह नहीं लगता कि मैं किसी दूसरे के लिए ऐसा कर रही हूं। उसको उस वच्चे से तादात्म्य हो जाता है। परन्तु उस तादात्म्य में एक कमी है। जहां एक प्राणी के साथ पूर्ण तादात्म्य है वहां दूसरों के साथ प्रायः उतना ही पूर्ण पार्थक्य है। मां के लिए वच्चा, पत्नी के लिए पति, एक ओर और समूचा विश्व दूसरी ओर होता है। परन्तु कभी कभी ऐसा होता है कि इस वंधन का भी अतिक्रमण हो जाता है। एक से तादात्म्य होता है परन्तु किसी दूसरे के साथ पार्थक्य नहीं होता। कभी कभी किसी भाग्यशाली के जीवन में ऐसा अवसर आता है। एक व्यक्ति गहरे पानी में डूव रहा है। उसको वचाने के लिए जिस समय कोई उस पानी में कूद पड़ता है उस समय भी यही अवस्था होती है। इस व्यक्ति के साथ तादात्म्य तो है परन्तु किसी दूसरे के साथ पार्थक्य की भावना नहीं होती। एक मकान जल रहा है

और उसमें कोई व्यक्ति अकेले फंस गया है। यह सुनते ही कोई मनुष्य उस उद्दीप्त घर में कूद पड़ता है। यह ध्यान भी नहीं आता कि उसको बचा सकूंगा या न बचा सकूंगा परन्तु आग मुझे भस्म कर देगी। अपना उस आग से घिरे हुए व्यक्ति के साथ पूरा तादात्म्य स्थापित हो जाता है। उसको बचाने के लिए वही काम किया जाता है जो अपने बचाने के लिए किया जाता। वह और मैं का भेदभाव उतनी देर के लिए तिरोहित हो जाता है और साथ ही उसका किसी और से पार्थक्य नहीं होता। होता भी कहां से ? उस क्षण में तो विश्व सिमिट कर उस आग से घिरे व्यक्ति तक रह जाता है। एसे काम सच्चे निष्काम कर्म हैं। जिस क्षण में कोई व्यक्ति ऐसे काम में रत होता है उसके लिए नानात्व का संकोच हो जाता है। आत्मबलि भी आत्मसाक्षात्कार का एक साधन है।

नानात्व का सम्पूर्ण तिरोधान भाव

यह सब जितनी बातें कही गयीं हैं यह सब ऐसी हैं कि एक तो सब को सुलभ नहीं हैं दूसरे क्षणिक और आकस्मिक हैं। हमको नानात्व के अपसरण का अनुभव हो इसलिए न तो लोग पानी में डूबते रहेंगे न आग में जलते रहेंगे। यदि कोई ऐसा अवसर आ गया तो यह कोई आवश्यक बात नहीं है कि हम उसका लाभ उठा सकेंगे। ऐसा करना न करना कई बातों पर निर्भर करता है। सब लोगों की प्रवृत्ति कला की ओर समान प्रकार की नहीं होती और न जीवन में कला में विभोर हो जाने के ऐसे अवसर सब को मिलते हैं जिनमें पूर्ण रूप से स्रोतापत्ति होकर रस की उत्कृष्ट अनुभूति हो। कला की अनुभूति के लिए भी कई ऐसी बातें चाहिये जिनका संयोग सदैव एकत्र नहीं होता।

और फिर सब से बड़ी बात यह है कि कला हो, गम्भीर विचार हो, या कोई दूसरी अनुभूति हो, वह प्रायः क्षणिक होती है। आजकल पश्चिम के देशों में कई ऐसी औषधियों का प्रयोग हो रहा है जिनके रस को पी लेने से एक बार थोड़ी देर के लिए एक विचित्र प्रकार की अनुभूति होती है। अपने स्व का विकास होता हुआ प्रतीत होता है। ऐसा लगता है कि पीनेवाला देश, काल की परिधि से बाहर हो गया है। वह चाहे शब्दों में व्यक्त न कर सके परन्तु ऐसा लगता है कि जैसे विश्व के सारे रहस्य की कुंजी अपने में आ गयी हो। ऐसे क्षण को सत्य का क्षण कहा करते हैं। यह उसी प्रकार का अनुभव है जो प्राचीन काल में ऋषि मुनियों को सोम पान करने से हुआ करता था। सोम का व्यवहार नशे के लिए नहीं होता था परन्तु इस प्रकार की अनुभूति के लिए। ऋग्वेद का एक मंत्र कहता है :

सोमम् मन्यते पपिवान् संपिबन्ति नवौषधिम्।
सोमं यं ब्रह्माणो विदुः न तदश्नाति पार्थिवः॥

सोम पीने के लिए लोग औषधि को पीसते हैं परन्तु जिस सोम को ब्राह्मण लोग जानते हैं उसको पार्थिव अर्थात् संसारी मनुष्य नहीं चख सकता। अस्तु, यह सब जितने भी उपाय हैं उनके सम्बन्ध में एक बात तो स्पष्ट है। यह सब पराधीन हैं और सर्वम् परवशं दुःखं सर्वम् आत्मवशं सुखं—जो अपने वश की वस्तु है उसमें ही सुख है। जिन परिस्थितियों में कुछ थोड़ी बहुत नानात्व से ऊपर उठने की अनुभूति होती है वह उत्पन्न हो या न हो अपने अधिकार की बात नहीं है। और फिर जो अनुभूति होती भी है तो क्षण भर के लिए और बस। इससे सन्तोष नहीं होता। ऐसा उपाय होना चाहिए कि वह अनुभूति स्वेच्छया लायी जा सके। उसका आना अनिवार्य हो और वह अनुभूति चिरस्थायी हो, कुछ ऐसी हो कि अपने ऊपर उसका स्थायी प्रभाव पड़े। जहां तक ज्ञात है ऐसा भी उपाय है और वह उपयोग योग्य है जिसका चर्चा आगे के अध्यायों में होगा। योगजन्य अनुभूति स्ववश है, अश्वयम्भावी है और अपने परिणाम की दृष्टि से स्थायी है।

टिप्पणी—तांत्रिक सम्प्रदायों में भी कई बहुत अच्छे योगी हो गये हैं। जैसा कि इस अध्याय में पहले लिखा जा चुका है उन्होंने भी सांख्ययोग की दार्शनिक मान्यताओं को स्वीकार नहीं किया है। यहां पर मैं बहुत संक्षेप में तांत्रिक विचार शैली की एक रूपरेखा देता हूं। यह मेरी पुस्तक "हिन्दू देव परिवार का विकास" उसे उद्धृत की गयी है।

"सिद्ध सिद्धान्त पद्धति" नाथ सम्प्रदाय का बहुत प्रामाणिक ग्रन्थ है। उसके रचयिता स्वयं गोरक्षनाथ थे। उसके अनुसार परम शिव अपने को जिस प्रकार अभिव्यक्त करते हैं वह यह है :

शिवाद् भैरवो, भैरवात् श्रीकण्ठः, श्रीकण्ठात् सदाशिवः।
सदाशिवात् ईश्वरः, ईश्वरात् रुद्रः, रुद्रात् विष्णुः, विष्णोः ब्रह्मा ॥

"शिव से भैरव, भैरव से श्रीकण्ठ, श्रीकण्ठ से सदाशिव, सदाशिव से ईश्वर, ईश्वर से रुद्र, रुद्र से विष्णु, विष्णु से ब्रह्मा।"

यह शिव की अष्टमूर्ति है। इस समुच्चय को महासाकार पिण्ड कहते हैं।

आत्मेति परमात्मेति, जीवात्मेति विचारणे।
त्रयाणामैक्य संभूतिः, आदेश इति कीर्तितः॥

"आत्मा, परमात्मा और जीवात्मा के सम्बन्ध में विचार करने पर तीनों एक हैं, यही आदेश (सिद्धान्त मत) है।"

शिव शक्ति के अभेद के सम्बन्ध में वह कहते हैं :

शिवस्याभ्यन्तरे शक्तिः, शक्तेरभ्यन्तरे शिवः।
अन्तरं नैव जानीयात्, चन्द्रचन्द्रिकयोरिव॥

"शिव के भीतर शक्ति है और शक्ति के भीतर शिव है। जिस प्रकार चन्द्रमा और चांदनी में भेद नहीं है, उसी प्रकार शिव और शक्ति में अन्तर नहीं है।

तंत्र ग्रंथों, विशेषतः शाक्त तंत्रों, में सृष्टिक्रम का बड़े विस्तार से विवेचन किया गया है।

"सिद्ध सिद्धान्त पद्धति" में तो यह क्रम इस प्रकार बताया गया है :

आद्यात् महाकाशः, महाकाशात् महावायुः, महावायोर्महातेजः, महातेजसो महासलिलम्, महासलिलात् महापृथिवी।

"आद्य पिण्ड (शिव) से महाकाश निकला, महाकाश से महावायु, महावायु से महातेज, महातेज से महासलिल, महासलिल से महापृथिवी।"

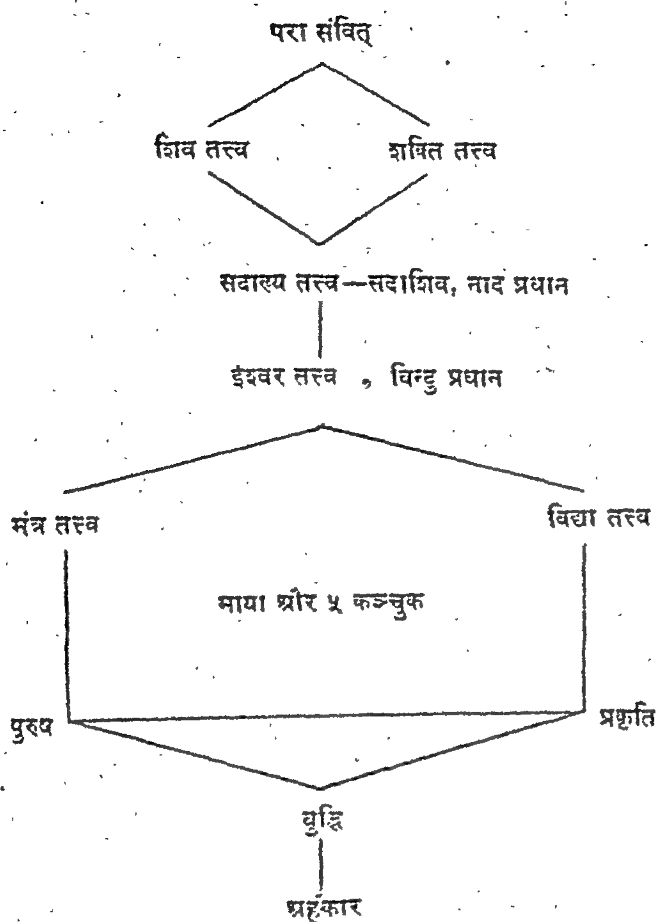
यह वर्णन तैत्तिरीय उपनिषद् के इस वाक्य से मिलता है :

एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः, आकाशाद् वायुः, वायोरग्निः, अग्नेरापः अद्भ्यः पृथिवी।

"इस आत्मा से आकाश उत्पन्न हुआ, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से अप्, अप् से पृथिवी।"

इन लोगों का विश्वास है कि जगत् सत्य है। परासंवित् अर्थात् परम शिव या ब्रह्म खेल की भांति अपने में से नानात्व का विस्तार और संकोच किया करते हैं। इसीलिए यह जगत् चिद्‌विलास है। माया को वह ब्रह्म की इच्छा शक्ति की अभिव्यक्ति मानते हैं। क्योंकि सिवाय परासंवित् के वस्तुतः किसी भी पदार्थ की सत्ता नहीं है, इसलिए सभी वस्तुओं के माध्यम से हमको परासंवित् का साक्षात्कार होता रहता है। जब कोई व्यक्ति मुमुक्षु होकर अन्तर्मुख होता है और क्रमशः एक के बाद दूसरे लोक में जाता है तो उसको उसी परासंवित् के स्थूल से सूक्ष्म और सूक्ष्म से सूक्ष्मतर रूप का अनुभव होता है। यह कहना अनावश्यक है कि परासंवित् के रूप वस्तुतः उस साधक के अपने ही रूप हैं।

शाक्त तंत्रों में अधिक विस्तार देख पड़ता है। उनके मंतव्य को संक्षेप में इस प्रकार चित्रित किया जा सकता है :



(इसके आगे सांख्यसम्मत क्रम से ५ महाभूत पर्य्यन्त)

काल, कला, नियति, राग और विद्या को पंच कंचुक कहते हैं। परासंवित वह मूल पदार्थ है जिसका विलास यह जगत् है। वही वेदान्त का ब्रह्म और शैवागम का परम शिव है। शिव और शक्ति उसके दो रूप हैं। सदाशिव और ईश्वर में यह अन्तर है कि सदाशिव में नाद, अहं तत्त्व, की प्रधानता है और ईश्वर में विन्दु, अनहम् तत्त्व, की।

अध्याय ५

पतंजलि का संकल्प सूत्र

यों तो अन्य विद्याओं की भांति योग विद्या के प्रवाह का मूल स्रोत भगवान् शंकर ही माने जाते हैं। वेद के शब्दों में वह "ईशानः सर्व विद्यानाम्"—सब विद्याओं के ईशान, स्वामी हैं। योगियों में उनको आदर्श योगी माना जाता है। सब विद्याओं के स्वामी होने के साथ साथ वह ईश्वरः सर्व भूतानाम्—सभी प्राणियों के ईश्वर हैं। इस सम्बन्ध से प्राणी मात्र उनकी कृपा और दया का पात्र है। परन्तु जिस प्रकार कोई भी गृह स्वामी अपने परिवार के दुर्बल व्यक्तियों के हितों की रक्षा पर विशेष ध्यान रखता है उसी प्रकार भगवान् शंकर भी उन मनुष्यों पर जिनकी बुद्धि बहुत अपरिपक्व है विशेष ध्यान रखते हैं। इसीलिए उनको पशुपति कहते हैं। जिस मनुष्य की बुद्धि अभी कच्ची है और जो इन्द्रियों के जाल में निरन्तर फंसा हुआ है, जिसका जीवन भौतिक व्यसनों के ऊपर अब तक नहीं उठ सका है, उसको पशु कहते हैं। यदि ऐसे प्राणियों की रक्षा न की जाय तो वह पतित से पतितर होते जायंगे। जैसे भेड़ अपनी रक्षा करने में असमर्थ है वैसे ही इस प्रकार के मनुष्य भी काम, क्रोध, और लोभ जैसे भयानक प्रलोभनों के गर्त में गिरने से बचने में असमर्थ हैं। यह तो भगवान् शंकर की कृपा है कि उनको भी संभालते रहते हैं। किसी न किसी रूप में उनके कानों में भी शिक्षा रूपी अमृत के दो चार बूंद पहुंचाते रहते हैं ताकि एक नहीं दो चार जन्मों के बाद सही वह धीरे धीरे कल्याण के मार्ग को पकड़ सकें।

अस्तु, शंकर ने तो विभिन्न प्रकार के मनुष्यों की बुद्धि के विकास को ध्यान में रखकर उनके आध्यात्मिक हित के उपाय प्रवर्तित किये ही हैं, और भी न जाने कितने आचार्य, ऋषि, मुनि, देव, ऐसे हो गये हैं जिन्होंने समय समय पर इस मार्ग को प्रशस्त किया है। यह जगत् आनदि और अनन्त है। इसके आदि की कल्पना करने से यह कठिनाई पैदा होगी कि आरम्भ में जो जीव हुए होंगे उनको बिना पहले किसी प्रकार के कर्म किये हुए सुख या दुःख की प्राप्ति हुई होगी। उनको न किसी पहले किये हुए सत्कर्म के पुरस्कार में सुख मिला होगा, न किसी पहले किये हुए दुष्कर्म से दुख। इस प्रकार के अन्याय को अकृताभ्यागम कहते हैं। इस दोष का परिहार इसी प्रकार हो सकता है कि यह मान लिया जाय कि जगत् का प्रवाह अनादि है। इसी प्रकार इसका

अन्त भी नहीं हो सकता। यदि अन्त होगा तो उस समय के जीव अपने अच्छे या बुरे कर्मों के फल को भोगने का अवसर न पा सकेंगे। यह भी अन्याय होगा। इस प्रकार के अन्याय को कृतहानि कहते हैं। जगत् के खंडों में रचना और ध्वंस होता रहता है। टुकड़े बनते हैं और बिगड़ते हैं परन्तु समूचा प्रवाह ज्यों का त्यों चला जा रहा है। इस विश्व में करोड़ों वर्षों में न जाने कितने महापुरुष अवतरित हुए होंगे जिन्होंने परम गुरु भगवान् आदि नाथ शंकर से मूल प्रेरणा लेकर अपने समय के जीवों को परम धर्म का उपदेश दिया होगा। हम न उनके रूपों की कल्पना कर सकते हैं न उनकी भाषाओं को जानते हैं। उसी काम को जीवों के हितों की कामना से प्रेरित होकर पतंजलि ने अपने योगदर्शन द्वारा करने का निश्चय किया।

पतंजलि के सम्बन्ध में हमको बहुत अधिक जानकारी नहीं है। लोक में एक अनुश्रुति है कि शेषनाग ने जीवों के शरीर, वाणी और चित्त के दोषों को दूर करने के लिए तीन ग्रन्थों की रचना की। शरीर के लिए चरक रूप से चरकसंहिता और वाणी तथा चित्त के लिए पतंजलि रूप से व्याकरण महाभाष्य की तथा योगदर्शन की। यह इतिहास के पंडित जानें कि इन तीनों ग्रंथों का रचयिता एक ही व्यक्ति था या अलग अलग। यह भी विवादास्पद माना जाता है कि पतंजलि कब हुए। इस सारे विवाद में पड़ने की इस जगह आवश्यकता नहीं है। हमारा काम योगदर्शन के रचयिता पतंजलि से है, उन्होंने किन्हीं और विषयों पर पुस्तकें लिखी हों या न लिखी हों। ऐसा लगता है कि वह गौतम बुद्ध के पीछे अवतरित हुए। योग पर उनके समय में भी सम्भवतः कुछ पुस्तकें रही होंगी। महाभारत के एक श्लोक में लिखा है :

हिरण्यगर्भो योगस्य वक्ता नान्यः पुरातनः।

अर्थात् हिरण्यगर्भ योग के सबसे प्राचीन वक्ता हैं। यदि इस श्लोक की बात मान ली जाय तो सबसे पुराने ग्रन्थ के रचयिता हिरण्यगर्भ रहे होंगे। कम से कम उस पुस्तक में हिरण्यगर्भ के मौखिक उपदेशों का संकलन रहा होगा। हिरण्यगर्भ के परवर्ती किन्हीं महात्माओं की भी रचनायें रही ही होंगी। परन्तु पतंजलि ने समय के अनुरूप योग के एक नये ग्रन्थ का निर्माण करना उचित समझा। बौद्ध धर्म का उदय हो चुका था। इससे वैदिक कर्म कांड पर से श्रद्धा तो कम हो गयी थी, यज्ञादि का अनुष्ठान बहुत कम होता था। परमात्मा की सत्ता पर से विश्वास उठ गया था। इस परिस्थिति में सम्भवतः पतंजलि को ऐसा लगा होगा कि वेदसम्मत योग की प्रतिष्ठा फिर से करना नितान्त आवश्यक है। योग दर्शन पर व्यास का भाष्य है और दो बहुत ही प्रामाणिक टीकाएं : एक तो वाचस्पति मिश्र की तत्त्ववैशारदी नाम की, दूसरी भोज की वृत्ति। यों तो सैकड़ों छोटी बड़ी और भी टीकाएं हैं। कुल मिलाकर १९५ सूत्र हैं।

उनकी पुस्तक का पहला सूत्र, जिसमें उन्होंने अपने संकल्प को व्यक्त किया है, इस प्रकार है :

अथ योगानुशासनम् । (१,१)

इसका अर्थ हुआ अथ योग का अनुशासन (किया जाता है अथवा मैं करने जा रहा हूं)

मैं इसमें से अन्तिम शब्द अर्थात् योगानुशासन को सबसे पहले लूंगा। योग शब्द की व्याख्या तो उन्होंने अगले सूत्र में की है। मैं भी इस विषय को नहीं छेड़ता। भाष्य में व्यास ने लिखा है कि योग का अर्थ, समाधि है। यदि यह बात हो भी तो यह "मथवा मूल विर्डाजा टीका" जैसी बात हो गयी। योग शब्द का अर्थ तो प्रचलित ढंग से लोग कुछ थोड़ा बहुत समझ भी लेते हैं। समाधि तो और भी दुर्बोध है। मैं समझता हूं कि पतंजलि का भी यही भाव रहा होगा, नहीं तो वह योग की परिभाषा को ही किसी किसी प्रकार प्रथम सूत्र में लाने का प्रयत्न करते। योग जो कुछ भी हो उसका अनुशासन उनको अभीष्ट है। वह उसका अनुशासन करेंगे यह उनका संकल्प है। किसी विषय पर शास्त्र की रचना करने, उसके स्वरूप को बतलाने, उसके उपायों को समझाने, उसके लाभों और अन्य परिणामों की ओर संकेत करने, का नाम शासन है। यह काम पुस्तक लिखकर नहीं तो मौखिक उपदेश द्वारा भी किया जा सकता है। प्रस्तुत पुस्तक में पतंजलि ने योग के सम्बन्ध में यही काम किया है। ग्रन्थ के चार खंड हैं जिनको चार पाद कहा गया है। क्रमशः उनके नाम हैं : समाधि पाद, साधन पाद, विभूति पाद और कैवल्य पाद। यहां अनुशासन की जगह शासन शब्द का व्यवहार करते तो भी उनका उद्देश्य पूर्णतया स्पष्ट हो सकता था। परन्तु उन्होंने सोच समझकर अनुशासन का प्रयोग किया है। किसी के पीछे चलकर जब कोई काम किया जाता है तब अनु उपसर्ग लगता है। अनुचर, अनुकरण आदि बहुत से शब्द इसके उदाहरण हैं। पुस्तक को आरम्भ करते समय पतंजलि के सामने वह बहुसंख्यक योगी, सिद्ध, देव, ऋषि थे जिन्होंने अपने अपने समय में जिज्ञासुओं को योग का उपदेश दिया था। यह वह लोग थे जिनकी ओर ऋग्वेद में पथिकृत् कहकर संकेत किया गया है। पथिकृत् का अर्थ हुआ मार्ग बनाने वाला। उनमें से अधिकांश के नाम भी कोई नहीं जानता। स्वयं ऋग्वेद में उनको पूर्व—पहले वाले, मात्र कह कर स्मरण किया गया है। पतंजलि इस बात को मानते हैं कि यह विद्या नयी नहीं है। वह किसी नये शास्त्र की रचना नहीं करने जा रहे हैं। उस सनातन विद्या को ही मनुष्यों के सामने रख रहे हैं जो आदि काल से मनुष्यों का कल्याण करती आयी है। इसीलिए उन्होंने अनुशासन शब्द का व्यवहार

किया है। इस अनु के द्वारा उन्होंने उन प्राचीन महाभाग लोगों के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट की और उनका अभिवादन किया। यह उनके चरित्र की महत्ता है। साथ ही इस शब्द के द्वारा पुस्तक के पढ़ने वाले के मन में योग का गौरव बढ़ता है। उसको इस बात का विश्वास होता है कि मैं उस पथ का पथिक होने जा रहा हूं जिसमें मेरे पहले न जाने कितने महापुरुष चल चुके हैं। इससे उसके मन में श्रद्धा बढ़ती है और उत्साह बढ़ता है।

अभी मैंने अथ शब्द के सम्बन्ध में कुछ नहीं कहा। अथ का व्यवहार तीन अर्थों में होता है। किसी ग्रंथ के आरम्भ में अथ लिखना एक शिष्टपरम्परा है। यहां से ग्रन्थ आरम्भ हुआ, यह बात इस शब्द के द्वारा सूचित होती है। दूसरी बात यह है कि यह मंगलवाची माना जाता है। ऐसा विश्वास है कि अथ ग्रन्थ के आरम्भ में व्यवहार करने से कई लाभ होते हैं। एक तो ग्रन्थ की निर्विघ्न समाप्ति होती है, दूसरे पढ़ने वाले का भी कल्याण होता है। ऐसा विश्वास तो है परन्तु इस विश्वास के लिए कोई पुष्ट आधार नहीं है। ऐसे बहुत से उदाहरण हैं कि अथ लिखने पर भी कोई न कोई बाधा पड़ गयी और पुस्तक समाप्त न हो सकी। इसके भी उदाहरण हैं कि जो लोग अथ नहीं लिखते उनके ग्रंथ भी समाप्त होते हैं। पढ़ने वाले का कोई कल्याण होता है या नहीं इसकी कोई परीक्षा नहीं हो सकती। मैं समझता हूं कि पतंजलि जैसे महापुरुष को अपने ग्रंथ की समाप्ति के लिए चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं थी। उनका संकल्प ही पर्याप्त था। उनका ग्रंथ उनके आशीर्वाद से पढ़ने वाले का कल्याण निश्चय ही करता। अतः मेरी समझ में अथ शब्द का तीसरा अर्थ लेना चाहिए: आनन्तर्य—अब। अथ शब्द इस बात की ओर संकेत करता है कि जिस काम के साथ वह जोड़ा गया है वह काम किसी और बात के अनन्तर किया गया, बाद में किया गया। "अब" अथ शब्द अपने स्वरूप से ही "कब" की अपेक्षा करता है। दर्शनों में अथ का इस अर्थ में प्रयुक्त किया जाना कोई नयी बात नहीं है। मीमांसा दर्शन का पहला सूत्र है: **अथातो धर्मजिज्ञासा** और वेदान्त दर्शन का पहला सूत्र कहता है:

"अथातो ब्रह्म जिज्ञासा"।

दोनों के प्रधान भाष्यकारों ने अथ का "अब" अर्थ किया है और यह दिखलाने का प्रयत्न किया है कि किस काम को करने के बाद तत् तत् पुस्तक में धर्म या ब्रह्म की जिज्ञासा आरम्भ होती है। मुझे खेद है कि योगदर्शन के व्याख्याताओं ने इस शैली को नहीं अपनाया।

मैं समझता हूं कि पतंजलि ने बहुत सोच समझ कर अथ शब्द का व्यवहार किया है। अपनी बुद्धि के अनुसार उसकी मीमांसा अगले अध्याय में करने का प्रयत्न करूंगा।

अध्याय ६

पुरुषार्थ चतुष्टय—योग के अधिकारी

प्रत्येक ग्रन्थकार के सामने ग्रन्थ का निर्माण करते समय पाठकों का कोई वर्ग लक्ष्य के रूप में उपस्थित रहता है। ग्रन्थकार के चित्त में यह इच्छा रहती है कि इसी प्रकार के पाठक के हाथ में मेरी पुस्तक पड़े और वह विश्वास रहता है कि ऐसे लोगों का अध्ययन से कल्याण होगा। इसी में पुस्तक की सार्थकता है। योग सम्बन्धी पुस्तक उपन्यास या कहानी नहीं है। उसके बहुत से पाठक नहीं हो सकते। वह काव्य ग्रन्थ भी नहीं है जो रस का उद्बोधन करके पाठक को पर निवृत्ति अर्थात् परम आनन्द का घूंट सद्यः पिला दे। वह उस प्रकार की पुस्तक भी नहीं है जिसमें ऐसी चमत्कारिक बातें लिखीं हों जो हमारे साधारण ज्ञान की वृद्धि करती हों। योग विषयक पुस्तक में साधारण अर्थों में ज्ञानवर्द्धक सामग्री कम मिलेगी और श्रमयुक्त साधना का पदे पदे प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से आदेश मिलेगा। साधारण मनुष्य या तो इधर प्रवृत्ति होगा ही नहीं, या चंचुप्रवेश करके छोड़ देगा। ऐसा व्यक्ति तो योगविषयक पुस्तक का पात्र नहीं हो सकता। न तो पतंजलि ने यह स्पष्ट कहा है कि वह किसके लिए पुस्तक लिख रहे हैं न उसके भाष्यकारों और टीकाकारों ने इस विषय पर प्रकाश डाला है। हमको योगियों के जीवनों पर दृष्टिपात करके इस बात का स्वयं निर्णय करना होगा।

कभी कभी ऐसा देखा गया है कि कोई व्यक्ति संसारी जीवन को छोड़कर एकाएक आध्यात्मिक जीवन की ओर प्रवृत्त हो गया है। प्रिय पुत्र या किसी ऐसे ही प्यारे आत्मीय की मृत्यु से कभी कभी ऐसा आकस्मिक परिवर्तन हो जाता है। संसार से एकाएक अनासक्ति हो जाती है। पर ऐसे लोग बहुत विरले ही होते हैं। उनका जीवन इतना असामान्य होता है कि उनसे शिक्षा ग्रहण करना प्रायः असम्भव होता है। ऐसा विश्वास होता है कि ऐसे व्यक्ति को लक्ष्य करके ग्रन्थ की रचना नहीं हुई होगी।

साधारणतया ऐसा देखा जाता है कि जो लोग आगे चलकर अच्छे साधक हुए हैं वह थोड़े वय से ही धार्मिक प्रवृत्ति के रहे हैं। उनका चित्त संध्या वन्दन और पूजा पाठ में लगता था। संध्या वन्दन शब्द देखकर चौंकना नहीं चाहिए। मेरे कहने का यह तात्पर्य नहीं है कि योग ऊंचे वर्ण वाले हिन्दुओं के लिए ही है। हिन्दू, मुसलमान,

ईसाई, पुरुष, स्त्री, उच्च वर्ण या हीन वर्ण इस विद्या के लिए सभी पात्र हो सकते हैं, उन गुणों की आवश्यकता चाहिए जिनकी ओर हम आगे चलकर संकेत करेंगे। परन्तु लोक में प्रचलित पूजा-पाठ करते हुए भी ऐसे लोगों की अतृप्ति बनी रहेगी। वह यह न जान सकेंगे कि उन्हें क्या चाहिए। परन्तु जो कुछ कर रहे होंगे उससे सन्तोष न होगा। व्रत हो, उपवास हो, तीर्थाटन हो, यह सब होते हुए भी चित्त क्षुब्ध रहेगा। किसी अज्ञात वस्तु की खोज बनी रहेगी।

पुरुषार्थ चतुष्टय—अर्थ और काम

पुरानी पुस्तकों में यह चर्चा मिलता है कि मनुष्य के लिए चार पुरुषार्थ हैं अर्थात् चार लक्ष्य या उद्देश्य हैं। चार ऐसी बातें हैं जिनके लिए उसे यत्न करना चाहिए। सब से पहले अर्थ और काम का नाम आता है। विज्ञानवेत्ता यह कहते हैं कि प्रत्येक प्राणी में, चाहे वह छोटा से छोटा कीड़ा ही क्यों न हो, दो सहज जन्मजात प्रवृत्तियां होती हैं—एक तो स्वरक्षा और दूसरी स्वजाति रक्षा। प्रत्येक प्राणी इस बात का बराबर प्रयत्न करता है कि मैं न मरूं, जैसे बन में पड़े अपनी रक्षा करूं। और उसकी दूसरी चेष्टा यह होती है कि सन्तान छोड़ जाऊं ताकि जिस जाति में मैं उत्पन्न हुआ उसकी रक्षा होती रहे। सब प्राणी जानबूझ कर और संकल्पपूर्वक ऐसा नहीं करते। परन्तु उनके जीवन को यह प्रवृत्तियां निरन्तर प्रेरित करती रहती हैं। यह उनके व्यवहार से स्पष्ट हो जाता है। ऐसा कोई भी जीवधारी नहीं देख पड़ता जो इन दोनों अभिनिवेशों से बचा हो। मनुष्य इस विषय में किसी कीट पतंग से भिन्न नहीं है। उसमें भी यह दोनों प्रवृत्तियां विद्यमान हैं। परन्तु वह इन बातों को समझता है और बहुधा उसकी चेष्टायें संकल्पमूलक होती हैं। उसने मनुष्य और मनुष्येतर प्राणियों को मरते देखा है और मृत्यु का कुछ कुछ अर्थ समझता है। उसके पास साधन भी बहुत हैं। इसलिए इस बात का पूरा यत्न करता है कि किसी प्रकार मृत्यु टली रहे। एक और बात है। वह इस बात का भी यत्न करता है कि यदि मृत्यु अनिवार्य है तब भी मृत्यु के पहले का जीवन यथासम्भव सुखी रहे। इस विषय में वह अदूरदर्शी इतर जीवों की अपेक्षा अधिक दूर तक सोच सकता है और सोचता है। इन इच्छाओं और प्रवृत्तियों का सम्मिलित नाम अर्थ है। यह मनुष्य का पहला पुरुषार्थ है। सन्तान छोड़ जाने के विषय में भी मनुष्य दूसरे प्राणियों के समान है। परन्तु इस दिशा में भी उसकी चेष्टायें संकल्पपूर्वक होती हैं क्योंकि वह दूरदर्शी है और साधनसम्पन्न है। सन्तान के साथ विशेष प्रकार का अपनापन होता है जो यावत जीवन बना रहता है और सन्तान के सुख में अपने सुख जैसा अनुभव होता है। इसलिए केवल सन्तान छोड़ जाने की प्रवृत्ति नहीं होती।

मनुष्य उन उपकरणों का भी संग्रह करता है जिनसे सन्तान रहे और सुखी रहे। मनुष्य की इस दूसरी प्रवृत्ति का नाम काम पुरुषार्थ है।

अर्थ और काम प्रायः सभी मनुष्यों को न्यूनाधिक प्रेरित करते हैं। सभी के जीवन में यह लक्ष्य रहते हैं। इसलिए यह सामान्य रूप से सबके लिए ही पुरुषार्थ हैं और सच तो यह है कि जब हम दूसरे जीवों पर दृष्टि डालते हैं तो इनको पुरुषार्थ न कहकर जीवार्थ कहना अधिक उचित प्रतीत होता है। इन पुरुषार्थों के रूप में थोड़ा सा भेद भले ही हो और इनको प्राप्त करने के साधनों में भी कुछ अन्तर हो परन्तु वस्तुतः मनुष्य और दूसरे प्राणियों में कोई विशेषता नहीं है।

धर्म

समझदार मनुष्य की समझ में यह बात बड़ी सुगमता से आ सकती है कि वह चाहे कितना ही, पराक्रमी क्यों न हो परन्तु उसके अर्थ और काम की सिद्धि अकेले उसके पौरुष पर निर्भर नहीं होती। इस बात को तो वह प्रत्यक्ष देखता है कि सैकड़ों वरन् हज़ारों दूसरे लोगों के सहयोग से ही वह परिस्थिति बनी रह सकती है जिसमें समाज की सम्यक् व्यवस्था हो सकती है और समाज के बिना अंगीभूत व्यक्तियों के अर्थ, काम की रक्षा नहीं हो सकती। यदि हर व्यक्ति केवल अपने अर्थ की बात सोचे तो समाज निरन्तर रक्तपात का क्षेत्र बन जाय। सबको अपना अर्थ, काम प्यारा है। कोई कारण नहीं है कि कोई भी व्यक्ति किसी दूसरे व्यक्ति का लिहाज़ करे। परन्तु ऐसा होता नहीं है। लोग दूसरों का लिहाज़ करते ही हैं। अपने अर्थ और काम की प्रवृत्तियों को दबाते हैं और समाज में यदि ऐसे व्यक्ति होते हैं जो अपने स्वार्थ में ही डूबे रहते हैं और दूसरों का ख्याल नहीं करते तो उनको हठात् दबाया जाता है। तभी समाज चल सकता है। यह तो प्रत्यक्ष अनुभव की बात है।। विचारशील मनुष्य इस बात को देख सकते हैं कि मनुष्य समाज के अलावा दूसरे प्राणी भी अपना सहयोग प्रदान करके मानव हित की सिद्धि करते हैं, प्रत्युत न जाने कितने कीड़े मकोड़े भूमि को कृषि योग्य बनाते हैं, न जाने कितने जीव हानिकारक वस्तुओं को नष्ट करके हमारे स्वास्थ्य को ठीक रखते हैं। भले ही उनका काम संकल्पपूर्वक न हो परन्तु हमको उनसे लाभ तो पहुंचता ही रहता है। यह तो ऐसी बातें हैं जिनका ज्ञान हमको अपने निजी अनुभव से या विज्ञान-वेत्ताओं के अन्वेषणों से होता है। और न जाने कितने ऐसे प्राणी होंगे जिनका ज्ञान हमको किन्हीं भौतिक उपायों से नहीं होता। परन्तु उनका जीवन हमारे जीवन से सम्बद्ध है और हम उनकी चेष्टाओं से लाभ उठा रहे हैं। इस देश के पुराने शास्त्रकारों ने इस प्रकार के विचार को बहुत महत्त्व दिया है। उन्होंने निरन्तर इस बात का उपदेश दिया कि हम दूसरों के ऋणी हैं, चाहे हमको इस ऋण का ज्ञान हो या न हो और यदि

हम इस ऋण को चुकाने का प्रयत्न नहीं करते हैं तो यह हमारी कृतघ्नता है। जो लोग कभी पितृतर्पण करते होंगे, उन्होंने देखा होगा कि इस कृत्य में देवगण, ऋषिगण, मनुष्यगण, के अतिरिक्त प्रेत, पिशाच, राक्षस से लेकर पशु पक्षियों तक का स्मरण किया जाता है और उनका हमारे ऊपर जो बोझ है उसको भी स्वीकार किया जाता है। विचारशील मनुष्य के हृदय में स्वभावतः यह प्रश्न उठते हैं कि आखिर वह कौन लोग हैं जिन जिन का मेरे ऊपर उपकार है? किन किन के प्रयत्नों के फलस्वरूप मैं आज आराम से दिन बिता रहा हूं? किस प्रकार उनसे उऋण हो सकता हूं। वह तो अपनी सहज या संकल्पपूर्वक की गयी चेष्टाओं के द्वारा मेरा हित साधन कर रहे हैं पर मैं उनके लिए क्या कर सकता हूं ? किसी का अहित न करूं यह तो एक बात हुई परन्तु हित कैसे किया जाय? शास्त्र कहते हैं कि हम सब छोटे और बड़े भगवान् के विराट् पुरुष रूप के उसी प्रकार अंग हैं जिस प्रकार मेरे छोटे से शरीर में करोड़ों कोश विद्यमान हैं। सब का सबके साथ सम्बन्ध है, एक के हित में सब का भला है और सबके हित में प्रत्येक का भला है। यदि शरीर का कोई अंग औरों की अपेक्षा अधिक पोषण पा जाय और फूल कर बहुत बड़ा हो जाय तो डाक्टर उसको काटकर फेंक देगा। एक-दूसरे के अन्योन्याश्रित हैं। इस जगत् में मेरे लिए क्या उचित मार्ग हो सकता है? इस बुद्धि का जागना धर्म बुद्धि का जागना कहलाता है। धर्म का मार्ग बहुत कठिन है। धर्म का लक्षण यह है कि धारयति—जो जगत् को धारण करे। कहीं कहीं ऐसा देख पड़ता है कि एक धर्म के पालन करने में किन्हीं दूसरे धर्मों से विरोध होता है। परन्तु मनु ने कहा है :

धर्म्मो यो बाधते धर्म्मं न स धर्म्मः कुधर्म्म तत्।

जो धर्म दूसरे धर्म को कटता है वह धर्म नहीं, कुधर्म है। जब मनुष्य में यह बुद्धि पुष्ट होती है तो अपने अर्थ और काम की ओर से विचार धीरे धीरे स्वतः हट जाता है। जब सबके कल्याण में सब का कल्याण है और अपना कल्याण दूसरों के सहयोग पर निर्भर है तो अपने क्षुद्र हितों के लिए पृथक् प्रयत्न क्यों किया जाय? जब लोक कल्याण होगा तो अपना कल्याण अपने आप ही हो जायगा। इस भावना के दृढ़ होने से मनुष्य का लक्ष्य लोक कल्याण हो जाता है।

धर्म मनुष्य का इस जगत् में सबसे बड़ा सहारा है। "धर्म्म एव हतो हन्ति धर्म्मो रक्षति रक्षितः" यदि धर्म की रक्षा की जाय तो वह मनुष्य की रक्षा करता है और यदि उसका हनन किया जाय तो वह भी हनन का साधन हो जाता है। यह सचमुच दुःख का विषय है कि पुरातन काल से ही लोग धर्म की उपेक्षा करते आये हैं। आज से कई सहस्र वर्ष पूर्व दुखी होकर महर्षि व्यास ने कहा था :

ऊर्ध्व बाहुर्विरौम्येष न च कश्चिच्छृणोति मे।
धर्म्मादर्थश्च कामश्च स धर्म्मः किन्न सेव्यते॥

मैं हाथ उठा उठा कर और पुकार पुकार कर कहता हूं कि धर्म से अर्थ और काम दोनों की प्राप्ति होती है। फिर धर्म का सेवन क्यों नहीं किया जाता। परन्तु कोई मेरी बात नहीं सुनता।

मोक्ष

धर्म से लोक कल्याण तो होता ही है धर्माचारी मनुष्य के चित्त की अपूर्व शुद्धि होती है। जो मनुष्य निरन्तर अपने अर्थ और काम के चिन्तन में लगा रहता है उसका हृदय राग, द्वेष का अखाड़ा सा बना होता है। जिन वस्तुओं को अपने अर्थ और काम का साधक समझता है उनकी रक्षा करने की धुन एक ओर और दूसरों से ऐसी वस्तुओं को, जैसे भी हो सके, प्राप्त करने ही धुन दूसरी ओर जो अपने लिए उपयोगी प्रतीत हों, ऐसा हृदय निश्चय ही संकीर्ण होगा और उसके लिए सारा विश्व सिमिट कर अपने हितों की इच्छा के विन्दु पर आ टिकेगा। परन्तु जो व्यक्ति धर्म साधना में लगा रहता है अपने अर्थ और काम की चिन्ता से ऊपर उठकर लोक संग्रह के कामों में रत रहता है, उसका हृदय विशाल होता है। जितना ही वह उस परिधि को बढ़ा सकता है जिसके भीतर वह लोगों से तादात्म्य उत्पन्न कर पाता है उतना ही उसके लिए तू और मैं की दीवारें टूटती हैं। ऐसा हृदय निश्चय ही शुद्ध और निर्मल होता है। उसमें कभी न कभी इस प्रकार के प्रश्न निश्चय ही उठते हैं। यह तो ठीक है कि मैं असंख्य प्राणियों का ऋणी हूं पर यह असंख्य प्राणी कौन हैं? उनका मुझ से क्या सम्बन्ध है? अनेक दार्शनिक विद्वान् इस सम्बन्ध में अनेक मत प्रकट करते हैं। आखिर इनमें से कौन सा मत ठीक है? यह पार्थक्य, जिसका मुझको अनुभव हो रहा है, कभी मिटेगा या सदैव ऐसा ही रहेगा? यह रहस्य कभी समझ में आ भी सकता है या सदैव छिपा रहेगा? ऐसा समझ में आता है कि मैंने और मेरे ही समान दूसरे लोगों ने असंख्य शरीर धारण किये हैं। ऐसा कहा जाता है कि जन्म लेते समय और मृत्यु के समय अपार पीड़ा होती है। वह होती हो या न होती हो, उसकी तो स्मृति रहती नहीं। परन्तु बार बार जन्म लेना और मरना और फिर से एक ही ढर्रे पर जीवन को बिताना, यह तो स्वयं कोई सुख देने वाली बात नहीं है। राजा हो या रंक, विद्वान् हो या मूर्ख, सब का जीवन एक सा है। यदि मैंने अनेक जन्म लिये हैं तो उन सब में प्रायः एक ही प्रकार से काल यापन किया होगा। प्रायः एक ही प्रकार के भोग भोगे गये होंगे। एक ही प्रकार के सुख दुख का अनुभव किया गया होगा, एक ही प्रकार की

वस्तुओं की प्राप्ति के लिए प्रयत्न किया गया होगा। अनेक कल्पों तक का जीवन हो फिर भी क्रम वही रहता है। रात में सोने के समय कुछ देर के लिए छुट्टी मिल जाती है। कुछ घंटों के वाद फिर वही जगत् सामने आता है और यही वात कल्पों के लम्बे महाप्रलय के वाद होती है। यह कोई हर्ष का विषय नहीं, गौरव का विषय नहीं, दुःख का ही विषय है। अब तक जो दुःख झेल लिया गया वह झेल लिया गया परन्तु क्या आगे के लिए इस दुःख की शृंखला काटी नहीं जा सकती ?

हेयं दुखमनागतम् (२,१६)

जो दुःख भविष्य में होने वाला है वह तो दूर करने के योग्य है। उससे वचना चाहिए। क्या उससे वचने का कोई उपाय नहीं ? धर्माचारी के चित्त में ऐसे प्रश्न स्वभावतः उठते हैं।

एक और वात होती है। उसको पदे पदे अपनी दुर्वलता का परिचय मिलता है। यह सव और इसी प्रकार के अन्य दूसरे प्रश्न उठते हैं। परन्तु उनका उत्तर नहीं मिलता। उत्तर पाने का कोई साधन भी नहीं देख पड़ता। अपने धर्माचरणों में भी वाधा पड़ती है। यदि किसी की सहायता करने की उत्कट इच्छा हो तो भी ऐसा करते नहीं वनता। साधन और शक्ति का अभाव खलता है। यह दुर्वलता की अनुभूति स्वयं वहुत वड़ा दुःख है।

क्षुव्ध होकर चित्त इधर उधर दौड़ता है। पूजा पाठ वताने वाले अनेक उपदेष्टा सामने आते हैं। पर उनके जीवन पर दृष्टि डालने से ऐसा पता लगता है कि वह वात चाहे जैसी भी करे पर स्वयं इस योग्य नहीं है कि हाथ पकड़ कर किसी को आगे वढ़ा सकें। उनका सहारा लेनेवाला मनुष्य अन्धेनेव नीयमानो यथान्धः होगा—अन्धे के नेतृत्व में चलने वाला अभागा होगा। वेद आर्य जाति का मूल ग्रन्थ माना जाता है। वेद का सभी आदर करते हैं। परन्तु ऐसा लगता है कि वैदिक कर्मकांड का अनुसरण करके भी कुंजी नहीं मिलने वाली है। वेद स्वयं कहता है :

प्लवा ह्येते अदृढ़ा यज्ञरूपा : ।

यह जो यज्ञ अर्थात् कर्मकांड रूपी नौकायें हैं यह सव अदृढ़ हैं। इनमें अज्ञान के उस पार ले जाने की क्षमता नहीं है। और भी स्पष्ट कहा है कि उनके द्वारा अधिक से अधिक देव लोक तग गति हो सकती है। परन्तु देवलोक तो नित्य नहीं है। भले ही देवगण की आयु मनुष्य की आयु से वहुत वड़ी होती हो और देव शरीर में मनुष्य शरीर की अपेक्षा प्रभूत सुख का अनुभव होता हो परन्तु एक दिन उस शरीर का भी अन्त होगा, ऐसा कहा गया है। तव फिर क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोके विशन्ति—पुण्य के

क्षीण होने पर फिर मर्त्यलोक में जन्म लेना पड़ता है। फिर तो उसी अज्ञानरूपी दुःख की परिधि में रहना होगा। यह वैदिक कर्मकांड रूपी उपाय भी मेरी चिन्ता का शमन नहीं कर सकता। इस प्रकार वह व्यक्ति घोर चिन्ता से क्षुब्ध रहने लगता है। जिस व्यक्ति की ऐसी अवस्था होती है, जिसमें इस प्रकार के प्रश्नों के उत्तर को जानने की रुचि जागती है, उसको मुमुक्षु कहते हैं। यह मनुष्य का चौथा पुरुषार्थ है। इसे मोक्ष कहते हैं। यह स्पष्ट ही है कि इस पुरुषार्थ का अनुसरण कोई विरला ही भाग्यशाली पुरुष करता है। इसीलिए इसको सब पुरुषार्थों में उत्तम माना गया है।

इस प्रकार से ऐसे व्यक्ति की बेबसी और चिन्ता बढ़ती जाती है। जिज्ञासा बढ़ती जाती है और ज्यों ज्यों उस जिज्ञासा का शमन आंखों से ओझल प्रतीत होता है त्यों त्यों चित्त की आकुलता बढ़ती जाती है। ऐसा लगता है कि जिस प्रकार न जाने कितने और जन्म नष्ट हुए उसी प्रकार यह जन्म भी नष्ट हो जायगा। फिर वही "पुनरपिजनम् पुनरपिमरणम्" "पुनरपिजननीजठरे शयनम्" का प्रवाह चलता रहेगा। काल भले ही नित्य हो पर मनुष्य का शरीर नित्य नहीं है। यह चिन्ता खाये डालती है। दूसरी ओर कहीं स्थिर आश्रय नहीं देख पड़ता। जितने भी ग्रन्थ पढ़े जाते हैं सभी अलग अलग राग अलापते हैं, अलग अलग उपास्यों की प्रशंसा के गीत गाते हैं। परन्तु रात जितनी ही अन्धेरी होती है उतना ही सवेरा भी निकट होता है। इस व्यग्रता और आकुलता के बीच में प्रकाश की टिमटिमाती हुई लौ देख पड़ती है। पुस्तकों में भले बहुत सी बातों में मतभेद देख पड़ते हों परन्तु ध्यान से देखने से एक बात सब में मिलती है। योग का समर्थन सब करते हैं। जो पुस्तकें इधर पिछली कुछ शताब्दियों में लिखी गयी हैं उनमें चाहे यह बात न हो परन्तु प्राचीन वाङ्मय में बिना किसी अपवाद के सब में ही यह बात देख पड़ती है। एक दूसरे के सिद्धान्त का खंडन किया गया हो परन्तु योग की निन्दा किसी ने नहीं की। उल्टे कहीं न कहीं उसकी प्रशंसा ही की गयी है। यह एक ऐसी बात है जिसकी ओर ध्यान अगत्या आकृष्ट होता है। जिस प्रक्रिया का सब समर्थन करते हैं, कोई भी निन्दा नहीं करता, वह निश्चय ही उपादेय और अनुसरणीय होनी चाहिए। डूबते को तिनके का सहारा बहुत प्रतीत होता है। मुमुक्षु को, जो यह समझ रहा था कि अब वह डूबनेवाला है, आश्रय मिला और उसको ऐसा लगा कि उसको किसी ऐसे व्यक्ति की शरण में जाना चाहिए जो योगी हो।

महर्षि पतंजलि ने वस्तुतः गागर में सागर भर कर "अथ" शब्द से इन सब बातों की ओर संकेत किया है। जो व्यक्ति इस प्रकार धर्म में रत हो और इसके बाद उसके हृदय में उन विषयों को जानने की इच्छा प्रकट हो जो अध्यात्म के सर्वस्व हैं, जो अज्ञान से छुटकारा पाने के लिए व्याकुल हो रहा हो और अन्त में जिसको ऐसा प्रतीत हो रहा हो कि योग ही वह मार्ग है जिसका अवलम्बन करने से उसके सब दुःखों

का अन्त होगा, वह मनुष्य निश्चय ही योग का, योगशास्त्र के अध्ययन और योग के अभ्यास का पात्र है। ऐसे अधिकारी के पास ही जाकर यह विद्या फलवती होगी। निश्चय ही ऐसे व्यक्ति को लक्ष्य में रखकर महर्षि पतंजलि ने योगसूत्रों की रचना की है।

अध्याय ७

योग की परिभाषा

जिज्ञासु को इस बात का तो दृढ़ विश्वास हुआ कि उसका कल्याण योग के पथ पर चलने से ही है, परन्तु योग किसे कहते हैं? जैसा कि हम इस पुस्तक के पहले दो अध्यायों में देख आये हैं, योग के सम्बन्ध में विद्वानों ने बहुत सी बातें कही हैं और लोक में भी बहुत से कथन और विश्वास प्रचलित हैं। इस प्रकार जो धारणायें बनी हैं वह सब एक दूसरे की विरोधी भले ही न हों परन्तु उनसे कोई स्पष्ट चित्र नहीं बन पाता। इसलिए महर्षि पतंजलि ने योग की परिभाषा देना उचित समझा। उनका कहना है कि:

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः। (१,२)

चित्त की वृत्ति के निरोध को योग कहते हैं। इस वाक्य में चित्त, वृत्ति और निरोध तीन ऐसे शब्द हैं जिनको समझे बिना वाक्य का अर्थ नहीं लग सकता।

चित्त और वृत्ति

अच्छेद्य चेतोव्यापार का ही नाम चित्त है। प्रज्ञानों के सतत प्रवाह से भिन्न चित्त की कोई सत्ता नहीं है। प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, स्मृति, राग, द्वेष, संकल्प आदि परिणामों की निरन्तर वर्तिनीमाला को चेतोव्यापार कहते हैं। वस्तुतः अन्तःकरण या चित्त एक है पर वह क्रमात् तीन प्रकार से काम करता रहता है इसलिए उसे तीन नाम दिये गये हैं। किसी क्षण विशेष में चित्त का जो रूप होता है उसे प्रज्ञान कहते हैं। चित्त के किसी रूप में ज्ञान प्रधान रहता है, किसी में इच्छा और किसी में क्रिया, परन्तु एक की प्रधानता के साथ साथ प्रत्येक अवस्था में शेष दोनों भी रहते हैं। नष्ट होने के पहले प्रत्येक प्रज्ञान अपना संस्कार परवर्ती प्रज्ञान को दे जाता है और यह बात भी ध्यान में रखनी चाहिए कि चित्त वासनाओं और योग्यताओं का भंडार है।

इन कथनों को मिलाने से चित्त का स्वरूप समझ में आ सकता है। पहले संस्कारों को लीजिए। जब प्रज्ञान, ज्ञान, इच्छा और संकल्प का समुदाय है तो एक प्रज्ञान से दूसरे में ज्ञान, इच्छा और संकल्प ही अन्तरित हो सकते हैं।

एक प्रज्ञान से दूसरे प्रज्ञान में संस्कार किस प्रकार जाता है कि इसका एक बहुत ही अच्छा भौतिक उदाहरण दिया जा सकता है। किसी प्रशान्त जल खंड में एक पत्थर फेंकिए। पत्थर जहां ही गिरेगा वहां से चारों ओर गोलाकार रूप में लहरें निकलेंगी और यह लहरें आगे को बढ़ती प्रतीत होती जायंगी। ज्यों ज्यों लहरें आगे बढ़ती जायंगी त्यों त्यों उनका आकार बड़ा होता जायगा। देखने में तो ऐसा प्रतीत होता है कि जहां पत्थर फेंका गया वहां से जल चला और चारों ओर किनारे की ओर बढ़ता गया। परन्तु वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है। पत्थर फेंकने के पहले जल में छोटे छोटे कार्क या किसी दूसरी तैरने वाली हल्की वस्तु के टुकड़े बिखेर दिये जायं। आप देखेंगे कि लकड़ी का प्रत्येक टुकड़ा अपनी जगह थोड़ा सा ऊपर नीचे हिलेगा और थोड़ा सा दाहिने बायें और फिर शान्त हो जायगा। इसके बाद उसके पार्श्व का टुकड़ा इसी प्रकार हिलेगा और इन हिलते हुए टुकड़ों से लहर की आकृति बन जायगी। यह तो स्पष्ट ही है कि टुकड़े इसलिए हिलते हैं कि उनके नीचे का जल हिल रहा है। इस दृग्विषय पर ध्यान देने से यह स्पष्ट हो जाता है कि जल का प्रत्येक बिन्दु अपनी जगह पर थोड़ा सा हिलता है, कहीं जाता नहीं परन्तु शान्त होने के पहले अपनी गति अपने पड़ोसी बिन्दु को दे जाता है। इस प्रकार जल नहीं जाता, जल के बिन्दु नहीं जाते, केवल गति यात्रा करती है। यदि जल में जगह जगह कोई रंगीन सा द्रव्य डाल दिया जाय तो यह बात और भी स्पष्ट हो जायगी। इसी प्रकार प्रज्ञान नहीं जाता, परन्तु प्रत्येक प्रज्ञान में जो पुराने संस्कार भरे हुए हैं वह आगे जाते हैं। प्रज्ञान क्षणभंगुर है। क्षण भर में नष्ट होता है। परन्तु नष्ट होने के पहले उसके उदर में संस्कारों की जो थाती है उसे परवर्ती संस्कार को सौंप जाता है। एक प्रश्न यहां पर उठ जाता है। जिस समय पहला संस्कार है उस समय दूसरा संस्कार नहीं है। फिर जल में तो जल के बिन्दु वर्तमान हैं। इसलिए पूर्ववर्ती बिन्दु परवर्ती को अपना गति रूपी संस्कार दे सकता है। पर यहां परवर्ती प्रज्ञान अविद्यमान है। परवर्ती उसको संस्कार कैसे देता है? क्या एक ही क्षण में पूर्ववर्ती और परवर्ती संस्कार दोनों मिलते हैं। यदि ऐसा होगा तो यह मानना पड़ेगा कि प्रज्ञान क्षणिक नहीं होता। यह आक्षेप बुद्धिजन्य प्रतीत होता है। पर इसमें घबराने की कोई बात नहीं है। एक ही क्षण में दो प्रज्ञान नहीं होते। परन्तु चेतना का वह सागर वर्तमान है जिसमें प्रज्ञान रूपी बुदबुद उठते रहते हैं। अतः प्रज्ञान नष्ट होने के पहले अपने संस्कारों को उस चेतना सागर को सौंप देते हैं और वहीं से नया प्रज्ञान उदित होता है।

योग्यता का अर्थ है अध्यवसाय करने की योग्यता। एतत्कालीन संविद्विशेष को समकालीन दूसरे संवितों से सम्बद्ध करना या उसको पिछले ज्ञानेच्छासंकल्पों के संस्कारों से सम्बद्ध करना या दो संस्कारों को सन्तुलित करना अध्यवसाय का रूप है

और यही ज्ञान की प्रक्रिया है। चेतोव्यापार का यही मुख्यांश है। इस विश्लेपण का सार यह निकला कि ज्ञान, इच्छा और संकल्प के समुच्चय का नाम चित्त है।

एक आक्षेप यह हो सकता है कि हमने चित्त के स्वरूप का वर्णन करने में सुख दुःख का उल्लेख नहीं किया। इसका कारण यह है कि सुख दुःख ज्ञानेच्छासंकल्प के बाहर नहीं हैं। इच्छा के दो रूप हैं, राग और द्वेप। क्रोध, लोभ, उत्साह, औत्सुक्य स्नेह, प्रेम, घृणा आदि जितने भी भाव हैं सब इन दोनों के अन्तर्गत हैं। जो संवित् या स्मृति या विचार सामने आता है वह या तो अच्छा लगता है, उपादेय प्रतीत होता है, उसके प्रति राग होता है या बुरा लगता है, हेय प्रतीत होता है, उसके प्रति द्वेप होता है। भोगसाधकता में उपादेयता, बाधकता में हेयता है। राग में चित्त उसको ज्ञान का विषय बनाये रखना चाहता है, द्वेष में उसको ज्ञान का अविषय बनाना चाहता है। इसके लिए जो आभ्यन्तर प्रयत्न होता है वह संकल्प है। यदि ज्ञान, इच्छा और संकल्प एक बिन्दु पर, एक वस्तु पर, एकत्र होते हैं तो चित्त में विशेष स्फूर्ति, तीव्रता, आ जाती है। इसका नाम सुख है।। यदि ज्ञान का विषय एक और इच्छा तथा संकल्प का दूसरा होता है तो एक प्रकार का तनाव सा होता है। उसका नाम दुःख है। यदि शक्कर अच्छी लगती है, शक्कर की प्राप्ति के लिए यत्न हुआ और शक्कर खायी गयी अर्थात् शक्कर का ही संवित् द्वारा ज्ञान हुआ तो सुख होगा, यदि शक्कर की जगह मिर्चा खाया गया, संवित् द्वारा मिर्चे का ज्ञान हुआ तो दुःख होगा। अतः सुख दुःख को ज्ञानेच्छासंकल्प से पृथक् करने की आवश्यकता नहीं है। हम फिर उसी जगह पहुंचते हैं कि ज्ञान, इच्छा और संकल्प के समुच्चय का नाम चित्त है।

हमने अभी देखा है कि इच्छा और संकल्प ज्ञान के आश्रित हैं। अतः विभिन्न चित्तों में मुख्य भेद ज्ञान का होगा। किसी का ज्ञान अधिक, किसी का कम होता होगा और इसी के अनुसार उनकी इच्छाएं और संकल्प होते होंगे। एक और भेद हो सकता है जिसको हम अध्यवसाय करने की योग्यता कह आये हैं। ज्ञान, इच्छा, संकल्प और अध्यवसाय की योग्यता चित्त के स्वरूप हैं।

ज्ञान, इच्छा और संकल्प का कोई न कोई विषय होता है। चित्त में अनेक प्रकार के विषय होते हैं, परन्तु इन सबकी जड़ में शब्दादि पांचों संवित् हैं। जब आत्मा की ज्ञातृत्व योग्यता सक्रिय होकर संवित् पर काम करती है तब ज्ञान होता है, जब भोक्तृत्व योग्यता सक्रिय होकर संवित् पर काम करती है तब इच्छा होती है और जब कर्तृत्व योग्यता सक्रिय होकर संवित् पर काम करती है तब संकल्प होता है। ज्ञातृत्व सामर्थ्य का ही नामान्तर अध्यवसाय की योग्यता है। इस विवेचन का मथितार्थ यह निकला कि संवित् के प्रति सक्रिय ज्ञातृत्व, भोक्तृत्व और कर्तृत्व शक्ति का नाम चित्त है। परन्तु ज्ञातृत्व, भोक्तृत्व और कर्तृत्व शक्ति का नाम ही आत्मा है। अतः

चित्त आत्मा की वह अवस्था है जिसमें वह संवितों के प्रति सक्रिय होता है, संवितों से प्रभावित होता है।[1]

ऊपर संवित् शब्द का व्यवहार आया है। उसे भी समझ लेना चाहिए। चित्त पर बाहरी वस्तुओं का जो प्रभाव तत्काल पड़ता है उसे संवित् कहते हैं। संवित् इन्द्रियों के द्वारा ही चित्त पर पड़ते हैं। परन्तु यह समझ लेना चाहिए कि संवित् और प्रज्ञान एक ही वस्तु नहीं हैं। दो व्यक्तियों को एक ही प्रकार का संवित् होते हुए भी प्रायः भिन्न प्रकार का ज्ञान होगा। किसी जगह एक रेडियो मशीन रखी हो और वहां पर एक ही समय दो व्यक्ति आ जायं, जिनमें से एक रेडियो के उपयोग को जानता हो और दूसरे ने इसके पहले उसको कभी न देखा हो। चक्षु इन्द्रिय के द्वारा दोनों को एक ही प्रकार का संवित् होगा। सम्भवतः यदि उस कमरे में कोई कुत्ता या ऐसा ही कोई बड़ा जीव हो तो उसको भी वैसा ही संवित् होगा। परन्तु प्रज्ञान में बड़ा अन्तर होगा। जो रेडियो से अपरिचित है उसको एक प्रकार का बक्स सा देख पड़ेगा और बस। परन्तु जिसने रेडियो बजाया है या बजाते सुना है उसको उस मशीन का प्रज्ञान दूसरे ही प्रकार का होगा।

मैं आशा करता हूं कि ऊपर जो कुछ लिखा गया है उससे चित्त और चित्तवृत्ति का स्वरूप तथा उनका सम्बन्ध स्पष्ट हो गया होगा। सच तो यह है कि चित्त शब्द साधारण बोलचाल में व्यवहार में आता है। सब लोगों ने मनोविज्ञान का नियमतः अध्ययन न किया हो परन्तु स्थूल रूप से चित्त का अर्थ समझते हैं और शब्द का व्यवहार भी प्रायः ठीक ही करते हैं। कभी कभी इस शब्द का कुछ दूसरे अर्थ में भी प्रयोग होता है। सांख्य और योग के आचार्य तो ऐसा ही मानते हैं कि अन्तःकरण के तीन भेद हैं: बुद्धि, अहंकार और मन। मूल प्रकृति से पुरुष की दृष्टि पड़ने पर किस प्रकार उनकी उत्पत्ति होती है हम चौथे अध्याय में बता चुके हैं। परन्तु वेदांत के आचार्य अन्तःकरण के चार भेद मानते हैं: बुद्धि, चित्त, अहंकार और मन। यह अनावश्यक प्रतीत होता है। साधारण बोलचाल में चित्त की जगह मन शब्द से भी कभी कभी काम लिया जाता है। न्यायशास्त्र में महर्षि गौतम ने भी ऐसा ही प्रयोग किया है। उन्होंने द्रव्यों का चर्चा करते हुए नौ द्रव्य गिनाये हैं—क्षिति, अप्, तेज, वायु, आकाश, काल, दिक्, आत्मा और मन। वहां वस्तुतः मन शब्द का प्रयोग चित्त के अर्थ में हुआ है।

चित्त और वृत्ति में जो सम्बन्ध है उसको देखते हुए यह स्पष्ट है कि वृत्ति के लिए चित्त के सिवाय और कोई आस्पद नहीं है और वृत्तियों के सिवाय चित्त का अस्तित्व नहीं

---

१. मेरी पुस्तक चिद्विलास से संक्षिप्त

रह सकता। वृत्तियों के समूह का नाम ही चित्त है। यदि किसी क्षण वृत्तियों का अभाव हो जाय तो फिर उस समय सद्यः चित्त का भी अभाव हो जायगा।

वृत्तियों का वर्गीकरण

यों तो वृत्तियां तो असंख्य हैं परन्तु वर्गीकरण करके विद्वानों ने उनको पांच विभागों में बांटा है : प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति। यह मनोविज्ञान की पुस्तक नहीं है इसलिए इस विषय पर वहुत विस्तार से लिखना अनावश्यक प्रतीत होता है। फिर भी थोड़े में इन विभागों के स्वरूप का चर्चा करना उचित प्रतीत होता है।

प्रमाण

ज्ञान को प्रमा कहते हैं और ज्ञान के सावन को प्रमाण। विभिन्न दर्शन शास्त्रों में प्रमाणों की विभिन्न संख्यायें दी हुयी हैं परन्तु सांख्य और योग के आचार्य तीन ही प्रमाण मानते हैं और मेरी समझ में उनका ऐसा कहना ठीक है। और सभी प्रमाण इन तीन के अन्तर्गत आ जाते हैं। प्रमाण के यह तीन भेद हैं : प्रत्यक्ष अनुमान और आगम। आगम का दूसरा नाम शब्द है। मेरा ऐसा विश्वास है कि चूंकि महर्षि पतंजलि ने बुद्धदेव के वाद जन्म लिया था इसलिए उन्होंने विशेष रूप से शब्द प्रमाण का चर्चा किया है। आप्त पुरुष के शब्द को आगम कहते हैं। जो पुरुष किसी विषय की पूरी जानकारी रखता है, सत्यवादी है और अपने ज्ञान को दूसरे तक पहुंचाना चाहता है उसको आप्त कहते हैं। ईश्वर सवसे वड़ा आप्त है और वेद उसका वाक्य माना जाता है। इसलिए वेद सवसे वड़ा आप्त वाक्य है, अतः सवसे वड़ा प्रमाण है। यों तो कोई भी प्रमाण प्रत्यक्ष के वरावर विश्वसनीय नहीं हो सकता परन्तु यह तो मानना ही होगा कि जगत् व्यवहार में वहुत सा काम शब्द प्रमाण के आधार पर चलता है।

विपर्यय

मिथ्या ज्ञान को विपर्यय कहते हैं। जो वस्तु जहां नहीं है उसकी वहां प्रतीति विपर्यय है जैसे रस्सी में सांप। वेदान्त में इसी को अध्यास कहते हैं।

विकल्प

जिस ज्ञान का आधार सिवाय शब्दों के और कुछ न हो उसको विकल्प कहते हैं। जैसे किसी के मुंह से "शशशृंग" यह शब्द सुन लिया जाय। शशश्रृंग का अर्थ हुआ

खरगोश का सींग। खरगोश के सींग नहीं होता। परन्तु यदि कोई इन शब्दों को सुन कर खरगोश के सींग की सत्ता मान बैठे तो यह विकल्प होगा।

निद्रा और स्मृति

इनको समझाने की विशेष आवश्यकता नहीं।

स्वप्न की उपेक्षा

यह आश्चर्य की बात है कि हमारे देश के दार्शनिकों ने प्रायः स्वप्नावस्था की उपेक्षा की है। यों इस देश में स्वप्न विज्ञान की पुस्तकें भी उपलब्ध हैं। परन्तु दार्शनिक विचार विमर्श में स्वप्न को यथार्थ स्थान नहीं दिया गया। ऐसा मान लिया गया कि जो कुछ जागृत अवस्था में अनुभव किया जाता है वही किसी न किसी रूप में स्वप्नावस्था में देख पड़ता है। उसकी कभी तो पुराने यथावत् रूप में अनुभूति होती है, जो घटना जैसी हुई वैसी ही देख पड़ जाती है। और कभी कुछ विकृत रूप में। किसी ने घोड़ा भी देखा है और सिंह भी। कभी कभी स्वप्न में ऐसा जन्तु देख पड़ जाता है जिसका सिर सिंह और शरीर घोड़े जैसा हो। यह सब स्वप्न तो स्मृति वृत्ति के अन्तर्गत आते हैं। परन्तु कुछ अन्य प्रकार के भी स्वप्न होते हैं। उनको हम अनागत सूचक स्वप्न कह सकते हैं। इन स्वप्नों का स्वरूप यह है कि सोये हुए मनुष्य को स्वप्न में ऐसी बातें देख पड़ जाती हैं जो अभी घटित हुई ही नहीं, भविष्य में होने वाली हैं। चूंकि वह अनागत काल में होंगी, इसलिए वह पहले से अनुभूत ही नहीं हुईं। आज पश्चिम में ऐसे स्वप्नों का बहुत अध्ययन हुआ है और उनकी सत्ता निर्विवाद रूप से मान ली गयी है। किसी का कोई सम्बन्धी सैंकड़ों कोस दूर देश में रोगशय्या पर पड़ा हुआ है। उस व्यक्ति की शय्या ज्यों की त्यों देख पड़ती है। यदि कोई चिकित्सक उपचार करने आया तो वह भी देख पड़ता है। यदि उसने शल्य क्रिया की और घाव पर नश्तर लगाया तो वह भी देख पड़ता है और यदि सम्बन्धी की मृत्यु हो गयी तो वह घटना भी देख पड़ती है। ऐसे एक नहीं अनेक उदाहरण हैं। पाश्चात्य विद्वान भी ऐसे स्वप्नों के कारणों के सम्बन्ध में कोई एक मत स्थिर नहीं कर पाये हैं। भारतीय विश्वासों के अनुसार सोये हुए व्यक्ति का स्थूल शरीर तो शय्या पर पड़ा होता है पर उसका लिंग शरीर[1] दूरदेशस्थ अपने

---

१. बुद्धि, अहंकार, मन, पांच ज्ञानेन्द्रियां, पांच कर्मेन्द्रियां, पांच तन्मात्रायें उनके समुच्चय को लिंग शरीर कहते हैं। यह शरीर जन्म से मृत्यु पर्यन्त प्राणी के साथ रहता है। मृत्यु के समय बाहरी शरीर को, जो पंचमहाभूत से बना हुआ है, छोड़कर पृथक् हो जाता है।

सम्बन्धी के पास पहुंच जाता है। यदि उस सम्बन्धी के विषय में अपने चित्त में गहरी चिन्ता हो तभी प्रायः ऐसा होता है। एक और बात है। यदि वह व्यक्ति भी उसी समय स्वप्न देखने वाले के सम्बन्ध में सोच रहा हो—रुग्णामाता अपने लड़के के सम्बन्ध में, पत्नी या पति, पति या पत्नी के सम्बन्ध में—तो खिंचाव और बढ़ जाता है और फलतः ऐसे स्वप्न के देखे जाने की सम्भावना भी बढ़ जाती है। वस्तुतः ऐसे स्वप्न में जो कुछ होता है उससे किसी अननुभूत, सर्वथा नये विषय का ज्ञान प्राप्त होता है। इसलिए ऐसे स्वप्न को स्वप्न स्मृति नहीं, वरन् प्रमाण के अन्तर्गत मानना चाहिए। वस्तुतः यह दूरविषय प्रत्यक्ष प्रमाण का ही निदर्शन है।

चित्त की पांच अवस्थायें

चित्त की पांच अवस्थायें मानी जाती हैं : अर्थात् वह पांच स्तरों पर काम करता है। उनके नाम हैं : मूढ़, क्षिप्त, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध।

मूढ़

मूढ़ वह अवस्था है जिसमें तमोगुण की प्रबलता रहती है। मूढ़ चित्त केवल इन्द्रियों की सेवा में लगा रहता है। उसे और किसी बात में अभिरुचि नहीं होती। एक कहानी है कि किसी नगर में एक महात्मा रहते थे। उनका कहना था कि प्रत्येक मनुष्य ऊंचे आध्यात्मिक जीवन का अधिकारी है। उसी नगर में एक ऐसा व्यक्ति रहता था जिसका खाने पीने और इन्द्रियों के दूसरे धंधों के सिवाय और कोई काम नहीं था। किसी ने महात्मा जी से उसका नाम लेकर पूछा कि क्या आप उसको भी अध्यात्म के मार्ग पर चला सकते हैं? उन्होंने उत्तर दिया, हां। परन्तु पहले तो उसको झूठ बोलना सिखला दो। अभी तो उसका चित्त इतना भी प्रयास नहीं करता जितना कि झूठ बोलने के लिए आवश्यक है।

क्षिप्त

क्षिप्त का अर्थ है फेंका हुआ। क्षिप्त चित्त में रजोगुण का बाहुल्य होता है। वह एक जगह टिकता ही नहीं। कुछ न कुछ करते रहना यही उसकी चर्या है। ऐसा मनुष्य बैठकर अपने अच्छे बुरे कामों के परिणामों को भी सोच नहीं सकता।

विक्षिप्त

विक्षिप्त चित्त में रजोगुण के साथ साथ सत्त्वगुण का भी मिश्रण होता है। ऐसा चित्त बहुत सी बातों में लगा तो रहता है परन्तु कभी कभी किसी एक विषय

पर अधिक देर तक केन्द्रीभूत भी हो जाता है और इसके साथ साथ अपने कामों के परिणामों की ओर भी ध्यान देने का प्रयत्न करता है।

एकाग्र

यह शब्द तो सामान्य बोलचाल में भी आता है। एकाग्र का अर्थ है किसी एक विन्दु पर केन्द्रीभूत होना। एकाग्र चित्त में सत्त्वगुण की प्रधानता रहती है। वह किसी एक विषय पर बहुत देर तक टिकता है और प्रायः काम करने के पहले बुद्धि को उसके सम्बन्ध में विचार करने का अवसर देता है। साधारणतः इस शब्द का व्यवहार आध्यात्मिक जीवन के सम्बन्ध में किया जाता है। परन्तु एकाग्रता केवल आध्यात्मिक जीवन तक सीमित नहीं है। जिस समय गणित या विज्ञान का विद्वान् किसी गम्भीर समस्या पर विचार करता है उस समय उसका चित्त भी पूर्णतया एकाग्र होता है।

निरुद्ध

निरुद्ध का अर्थ है रोक दिया गया। जिसकी गति बन्द कर दी गयी हो वह निरुद्ध कहलायेगा। यदि किसी के चित्त की गति वन्द हो जाय अर्थात् उसमें वृत्तियों का उठना वन्द हो जाय, प्रज्ञानों का प्रवाह रुक जाय, तो वह चित्त निरुद्ध कहलायेगा। हम ऊपर चित्त के सम्बन्ध में जो लिख आये हैं उससे यह स्पष्ट है कि यदि क्षण भर के लिए भी चित्त का प्रवाह रुका तो फिर वह सदा के लिए रुक जायगा। जब तक संस्कार वचे हुए हैं तव तक नष्ट होनेवाला प्रज्ञान अपने संस्कार अपने परवर्ती को दे जायगा। जव तक संस्कार वचे हुए हैं तव तक प्रज्ञानों की धारा वहती रहेगी। जव हस्तांतरित करने को संस्कार वचेगा ही नहीं तव यह धारा रुकेगी। निरुद्ध शब्द के अर्थ को गहिराई के विना समझे सूत्र का अर्थ स्पष्ट नहीं होता।

अव हमने सूत्र के तीन मुख्य शब्दों के अर्थ पर पर्याप्त विचार किया और इस विमर्श का यह अर्थ निकला कि चित्त की वृत्तियों के प्रवाह के रोकने की प्रक्रिया को योग कहते हैं। एक अर्थ और हो सकता है। चित्त की वृत्तियों के रुक जाने की अवस्था को योग कहते हैं।

जिस जिज्ञासु की हमने कल्पना की थी उसने अपने मन में यह निश्चय किया था कि योग के द्वारा ही उसका कल्याण होगा। अब योग की परिभाषा भी उसने देख ली। इस परिभाषा को देखने के वाद यह प्रश्न चित्त में उठ सकता है कि क्या सचमुच योग के द्वारा उसके अभीष्ट की सिद्धि होगी? इस सम्बन्ध में जिज्ञासु को तोष देने के लिए महर्षि सूत्रकार ने दो सूत्र कहे हैं :

६

तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् । (१,३)
वृत्तिसारूप्यमितरत्र । (१,४)

निरुद्ध अवस्था में द्रष्टा अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है।
अन्यथा उसको वृत्तियों का सारूप्य रहता है।

पहले हम पिछले सूत्र को लेते हैं। इसका अनुभव तो सबको ही है। जैसी वृत्ति होती है वैसा ही पुरुष अपने को समझता है। भले ही दर्शन शास्त्र अपने तर्कों से उसको समझा दे कि वह शुद्ध चैतन्य है, अन्तःकरण और शरीर से पृथक् है तथा अपरिणामी है, परन्तु साधारणतः किसी को ऐसा अनुभव नहीं होता। जैसे स्वप्न में थोड़ी देर के लिए कोई राजा होकर प्रसन्न होता है और रंक होकर दुखी होता है, उसी प्रकार हम इस जीवन में चित्त की वृत्तियों के अनुसार अपने को सुखी या दुखी मानते रहते हैं। कभी एक वृत्ति के रंग में रंग जाते हैं, कभी दूसरी वृत्ति काया पलट देती है। अपने असली स्वरूप को जानने का कभी अवसर मिलता ही नहीं और जब स्वयं हमारा स्वरूप हमसे छिपा हुआ है तो जगत् के स्वरूप को पहचानना तो हमारे लिए बहुत कठिन बात है। पहला सूत्र यह कहता है कि जब चित्त निरुद्ध हो जायगा तब द्रष्टा, जिसे पुरुष या आत्मा भी कहते हैं, अपने स्वरूप में स्थित हो जायगा। मैं पहले भी यह उदाहरण दे चुका हूं कि यदि किसी कटोरे में धातु का एक रुपया डाल दिया जाय और वह कटोरा बराबर हिलता रहे तो रुपये की आकृति यथावत् नहीं देख पड़ सकती! जब पानी का हिलना बन्द होगा तभी वह अपने स्वरूप में स्थित हो सकेगी। अपने को जब तक हम चंचल चित्त के माध्यम से पहचानना चाहेंगे तब तक हमको उसका विकृत ज्ञान ही होगा। इन दोनों सूत्रों से निष्कर्ष के रूप में जो आश्वासन निकलता है उसमें श्रद्धा रखने से जिज्ञासु का उत्साह बढ़ेगा।

क्या चित्त का निरुद्ध होना सम्भव है?

यहां पर एक शंका उत्पन्न होती है। जैसा कि हम देख आये हैं, चित्त का स्वभाव ही है गतिमत्ता। उसका स्थिर हो जाने अर्थात् उसकी चंचलता के नष्ट हो जाने का अर्थ है उसमें वृत्ति रूपी तरंगों का न उठना। परन्तु दूसरे शब्दों में इसका अर्थ हो जाता है चित्त का अभाव, चित्त का नष्ट हो जाना, क्योंकि वृत्तियों के समूह को ही तो चित्त कहते हैं। यदि चित्त का निरोध किसी प्रक्रिया के द्वारा हुआ तो इसका यह अर्थ हुआ कि उस प्रक्रिया के द्वारा चित्त का अस्तित्व समाप्त कर दिया गया। जिस क्षण में यह बात होगी उसी क्षण में प्रज्ञानों का प्रवाह रुक जायगा। क्योंकि एक प्रज्ञान से दूसरे प्रज्ञान में जाने के लिए कोई संस्कार बचे न ही होंगे। फिर तो साधक व्युत्थान

अवस्था में अर्थात् समाधि से नीचे उतरने की अवस्था में आ ही न सकेगा। चाहे लाख वर्ष तक कोई योगाभ्यास करता रहे, परन्तु जब तक चित्त में थोड़ा सा भी संस्कार बचा हुआ है तब तक अतीत, वर्तमान और अनागत के बीच में सम्बन्ध की डोर बनी ही है। संस्कारों के नष्ट होने पर यह डोर नष्ट हो जायगी। इसका अर्थ यह भी हुआ कि तत्काल उस साधक की मृत्यु हो जायगी। विदेह होकर वह पूर्णतया मुक्त होगा, अन्यथा जब तक शरीर बना हुआ है और साधक समाधि से साधारण अवस्था में आता है तब तक यह मानना चाहिए कि उससे चित्त निरोध की अवस्था को प्राप्त नहीं किया।

पूर्ण निरोध की अवस्था को असंप्रज्ञात समाधि कहते हैं। वेदान्त के आचार्यों की भाषा में उसका नाम निर्विकल्प समाधि है। असम्प्रज्ञात से नीचे की अवस्था को सम्प्रज्ञात समाधि कहते हैं। यों तो समाधि के विषय पर आगे चलकर विचार होगा परन्तु प्रसंगवशात् कुछ लिखना आवश्यक है। ऐसा माना जाता है कि सम्प्रज्ञात समाधि की उच्चतम भूमि में पहुंचकर साधक को विवेक ख्याति की प्राप्ति होती है अर्थात् उसको इस बात का पूर्ण रूप से ज्ञान हो जाता है कि मैं प्रकृति से सर्वथा भिन्न हूं, उसका मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है। यह अवस्था बहुत ऊंची है, इसमें कोई सन्देह नहीं है। फिर भी यह पूर्ण मोक्ष या कैवल्य से तो नीची है ही। अपने और प्रकृति में भेद की अनुभूति बुद्धि के द्वारा ही हो सकती है। बुद्धि स्वयं प्रकृति से उत्पन्न हुई है। अतः विवेकख्याति प्रकृति की सीमा के भीतर की अवस्था है। वेदान्त की दृष्टि से यह आपत्ति भी हो सकती है कि भले ही भेद का अनुभव हो परन्तु इस अनुभव का अर्थ यह है कि अपने साथ साथ प्रकृति का भी अनुभव हो रहा है अर्थात् "द्वैत बुद्धि" दूर नहीं हुई। अतः सम्प्रज्ञात समाधि तो मोक्ष के स्तर से नीचे की अवस्था है,यह स्पष्ट है। अब रही असम्प्रज्ञात समाधि। उसको पतंजलि ने निर्बीज समाधि भी कहा है। यदि सचमुच उसमें से नये संस्कार फूट कर न निकलते हों तो उसको निर्बीज कहना सर्वथा उचित है। परन्तु स्वयं पतंजलि ने एक दूसरे सूत्र में उसके सम्बन्ध में कहा है :

विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वः संस्कारशेषोऽन्यः। (१,१८)

इस सूत्र में और जितने शब्द आये हैं उनके सम्बन्ध में तो आगे चलकर यथा स्थान विचार होगा। यहां पर मैं केवल "संस्कार शेषः" की ओर ध्यान दिलाता हूं। पतंजलि के अनुसार समाधि की इस अवस्था में कोई न कोई संस्कार बचा रहता है। यदि ऐसा न मानते तो पतंजलि के सामने वही कठिनाई होती कि चित्त के निरुद्ध होने के बाद साधक का शरीर तत्काल छूट जाना चाहिए। तब फिर कौन से संस्कार रह जाते हैं? अभाव नआत्मक है और उसका प्रवाह नहीं हो सकता। ऐसा कहा जाता है कि गुणों के प्रति पूर्ण वितृष्णा होने से यह अवस्था प्राप्त होती है। वितृष्णा तृष्णा का

अभाव है। शुद्ध अभाव, शुद्ध "नहीं" का प्रवाह नहीं हो सकता। उस "नहीं" की तह में कहीं कोई वस्तु छिपी है। जिसके अभाव की धारा बह रही है, वह भी उस धारा के नीचे गुप्त रूप से विद्यमान है। नहीं तो पतंजलि का यह संस्कार शेष शब्द जो सर्वथा बुद्धिसंगत है निरर्थक हो जायगा। इन सब सूत्रों को मिलाने के बाद मुझको ऐसा लगता है कि साधारणतः साधक सम्प्रज्ञात समाधि के ऊपर उठ सकता है और वहां जाता है जहां कि संस्कार बहुत झीना पड़ जाता है। ऐसा साधक तो फिर जगत् में लौट आ सकता है। परन्तु जिस दिन, जिस क्षण, पूर्ण निरोध की अनुभूति होगी उस दिन उसके सभी संस्कार नष्ट हो जायंगे। जगत् उसके लिए विलीन हो जायगा और वह सच्चे अर्थों में विदेह मुक्ति पा जायगा।

अध्याय ८

गुरुतत्त्व

योग उन शास्त्रों में नहीं जिनमें तर्क के द्वारा किसी विषय को बुद्धिनिष्ठ किया जाता है। यह विद्या तो क्रिया प्रधान है। जब जिज्ञासु को यह निश्चय हो गया कि उसका कल्याण योग मार्ग पर चलने से है और उसको यह भी विदित हो गया कि चित्त की वृत्तियों के निरोध का नाम योग है तो सहज ही वह क्रिया में प्रवृत्त होना चाहता है। उसको शास्त्रकारों ने यह विश्वास दिलाया है कि चित्त के निरुद्ध होने पर आत्मा अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है। महर्षि कपिल के शब्दों में

तन्निवृत्तावुपशान्तोपरागः स्वस्थः।

अर्थात् वृत्तियों के निवृत्त हो जाने पर विषयों के प्रति उपराग शान्त हो जाता है। उस समय आत्मा स्वस्थ अर्थात् अपने में स्थित हो जाती है।

अब इस बात की खोज होनी स्वाभाविक है कि निरोध क्या है? इस सम्बन्ध में शास्त्रकारों ने जो कुछ कहा है वह बहुत थोड़ा है। श्रीकृष्ण गीता में कहते हैं :

असंशयं महाबाहो, मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय, वैराग्येण च गृह्यते ॥

हे महाबाहु अर्जुन, निश्चय ही चित्त चंचल है और बड़ी कठिनाई से बस में आता है। हे कौन्तेय, वह अभ्यास और वैराग्य के द्वारा पकड़ में आ सकता है। इस बात को पतंजलि इन शब्दों में सूत्रित करते हैं :

अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः। (१,१२)

अभ्यास और वैराग्य के द्वारा चित्त का निरोध होता है।

यहां दो शब्द आये हैं। वैराग्य का अर्थ तो कुछ समझ में आता है। विषयों के प्रति आसक्ति, तृष्णा, का न होना वैराग्य है। ऐसा लगता है कि वैराग्य अपने बस की बात है। उसमें किसी के उपदेश, आदेश की आवश्यकता नहीं है। परन्तु अभ्यास कैसे हो? पतंजलि ने कहा है :

तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः। (१.१३)

स्थिति के लिए जो यत्न किया जाय उसको अभ्यास कहते हैं। स्थिति का अर्थ पतंजलि के भाष्यकारों ने कहा है : प्रशान्तवाहिता। इसका तात्पर्य यह हुआ कि चित्त में वृत्तियां तो उठती रहेंगी ही, परन्तु जहां तक हो सके तामसिक और राजसिक वृत्तियों का शमन करके केवल सात्विक वृत्तियों के उदय और अस्त होने से चित्त के प्रवाह को प्रशान्त धारा के रूप में बहाने के लिए जो उपाय किया जाय वह अभ्यास है। उद्देश्य यह है कि चित्त की गति इस प्रकार होते होते स्वतः निरोध की ओर झुक जायगी। परन्तु इतने से भी मार्ग खुला नहीं। चित्त को प्रशान्तवाही बनाने के लिए क्या यत्न किया जाय और कैसे? यहीं पर गुरु की आवश्यकता प्रतीत होती है।

साधारणतः ऐसा माना जाता है कि विद्या प्राप्त करने के तीन प्रकार हैं :

गुरुशुश्रूषया विद्या, विपुलेन धनेन वा।
अथवा विद्यया विद्या, चतुर्थी नैव विद्यते॥

या तो गुरु की सेवा करने से विद्या आती है या तो धन का व्यय करके या विद्या के बदले विद्या प्राप्त की जाती है। कोई चौथा मार्ग नहीं है।

परन्तु योग ब्रह्म विद्या, परा विद्या है । परा विद्या का स्वरूप मुण्डकोपनिषद् में इस प्रकार बतलाया गया है :

तस्मै स होवाच। द्वे विद्ये वेदितव्ये इति ह स्म यद् ब्रह्मविदो वदन्ति परा चैवापरा च॥४॥
तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति। अथ परा यया तदक्षर-मधिगम्यते॥५॥

अंगिरा ने शौनक से कहा कि दो विद्यायें हैं जिनको ब्रह्मज्ञानी लोग परा और अपरा (ऊंची और नीची) कहते हैं। उनमें ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, ज्योतिष, अर्थात् सभी लौकिक शास्त्र अपरा विद्या (नीचे की विद्या) में परिगणित हैं। स्वयं वेद पढ़ना भी नीचे की विद्या का अभ्यास करना है। परा विद्या वह है जिससे वह अक्षर ब्रह्म जाना जाता है। इस परा विद्या को जानने का केवल एक उपाय है। न यह धन देकर प्राप्त की जा सकती है, न कोई

और विद्या इसकी तुलना में ठहर सकती है जिसके बदले यह प्राप्त की जाय। सिवाय गुरु सेवा के इसको सीखने का और कोई उपाय नहीं है। उपनिषद् ने मुमुक्षु को उपदेश दिया है।

स गुरुमेवाभिगच्छेत् श्रोत्रियम् ब्रह्मनिष्ठं समित्पाणिः।

वह श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरु के पास जाय, हाथ में समित् लेकर। श्रोत्रिय उस व्यक्ति को कहते हैं जो सुपठित, जिसने शास्त्रों का अध्ययन किया है, उनके कथनों पर मनन किया है वह शिष्य की शंकाओं का समाधान कर सकेगा। योगाभ्यास करने के पहले और योगाभ्यास काल में भी अनेक प्रकार की शंकायें उठती हैं जो कभी कभी बुद्धि को बुरी तरह उलझा देती हैं। कभी कभी तो अश्रद्धा उत्पन्न कर देती हैं। ऐसी शंकाओं को निवृत्त करना उस गुरु का काम है जो श्रोत्रिय है। हां, एक बार समाधि की ऊंची भूमिकाओं में पहुंच जाने के बाद फिर किसी श्रोत्रिय की आवश्यकता नहीं है। जैसा कि उपनिषद् में कहा है :

भिद्यते हृदयग्रंथिः, छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्म्माणि, तस्मिन् दृष्टे परावरे॥

अर्थात्, हृदय की गांठ खुल जाती है। सब संशयों का आप से छेदन हो जाता है तथा सारे कर्मों का क्षय हो जाता है, जब उस पर ब्रह्म का साक्षात्कार हो जाता है।

ब्रह्मनिष्ठ उस व्यक्ति को कहते हैं जो योग के द्वारा समाधि की ऊंची भूमिका में पहुंच कर ब्रह्म का साक्षात्कार कर चुका है।

ऐसा हो सकता है कि पूर्ण ब्रह्मनिष्ठ गुरु उपलब्ध न हो सके। फिर भी ऐसा गुरु तो होना ही चाहिए जो योगाभ्यास में रत हो और जिसकी ऊंची भूमियों में गति हो। वह साधक को कुछ दूर तक तो आगे ले ही जा सकता है और उसके लिए जो द्वार अवरुद्ध है उसे खोल सकता है। केवल श्रोत्रिय गुरु निरर्थक है। जो पंडित मात्र है वह अन्न के कणों की भूसी का संग्रह करता है और उससे दूसरों की भूख मिटाना चाहता है। स्वयं अन्धेरे में है और दूसरों का मार्ग दर्शक बनना चाहता है। ऐसा गुरु शिष्य का लाभ तो नहीं ही कर सकता, अपनी हानि निश्चय ही करता है।
तुलसीदास जी के शब्दों में :

हरै शिष्यधन शोक न हरई, सो गुरु घोर नरक महं परई।

अस्तु, गुरु के पास हाथ में समित् लेकर जाने का उपदेश दिया गया है। "हाथ में समित् लेकर जाना" उपलक्षण मात्र है। प्राचीन काल में प्रायः योगी लोग जंगलों में

वानप्रस्थी के रूप में रहा करते थे। उनको नित्य अग्निहोत्र के लिए लकड़ियों की आवश्यकता होती थी। हवन के योग्य लकड़ियों को चुनकर गुरु के पास पहुंचाना शिष्यों के प्रतिदिन के कर्त्तव्यों में था। गुरु के पास हाथ में समित् लेकर जाने का अर्थ है सर्व-भावेन गुरु की सेवा करना, अपने को गुरु की शरण में डाल देना। गुरु सेवा किस प्रकार की होनी चाहिए इसके सम्बन्ध में श्वेताश्वतर उपनिषद् में कहा गया है :

यस्य देवे परा भक्तिः, यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः, प्रकाशन्ते महात्मनः॥

जिसको ईश्वर में परा भक्ति हो और जैसी ईश्वर में हो वैसी ही गुरु में, उस महात्मा पर यह सब कहे हुए अर्थ प्रकाशित हो जाते हैं अर्थात् उसको ही इन सब रहस्यों का आप से आप ज्ञान हो जाता है।

गुरु की महत्ता के सम्बन्ध में लोक में एक श्लोक बहुत प्रचलित है।

गुरुर्ब्रह्मा गुर्रुविष्णुः, गुरुर्देवो महेश्वरः।
गुरुः साक्षात् परब्रह्म, तस्मै श्रीगुरवे नमः॥

गुरु ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर हैं, गुरु साक्षात् परब्रह्म हैं, उन गुरु को प्रणाम है।

शारदा तिलक तंत्र में कहा है :

संसारसिन्धोस्तरणैकहेतून्
दधे गुरून् मूर्ध्नि शिवस्वरूपान्।
रजांसि येषां पदपंकजानां
तीर्थाभिषेकश्रियमावहन्ति॥

इस ग्रन्थ में तंत्रान्तर से उद्धृत करके यह श्लोक भी दिया हुआ है :

गुरुं न मर्त्यं बुध्येत, यदि बुध्येत तस्य तु।
कदापि न भवेत् सिद्धिर्न मंत्रैर्देवपूजनैः॥

अर्थात् जो संसार सिन्धु के पार जाने के एकमात्र हेतु हैं, उन शिव स्वरूप गुरु को अपने सिर पर धारण करता हूं। उनके पद पंकज की धूलि सब तीर्थों से श्रेष्ठ है। (इस श्लोक में आदरार्थ गुरु के लिए बहुवचन का प्रयोग हुआ है)

गुरु को मनुष्य नहीं मानना चाहिए। जो उनको मनुष्य मानता है यह मंत्र और देवपूजन आदि के द्वारा सिद्धि को प्राप्त नहीं कर सकता।

योगियों के वाङ्मय में गुरु की इतनी महिमा देखकर कभी कभी लोगों को आश्चर्य होता है। आजकल तो ऐसा समझा जाने लगा है कि यह भी लोगों की वंचना करने का एक प्रकार का व्यापार है। ऐसी धारणा कुछ तो वर्तमान काल के श्रद्धा विहीन होने का प्रसाद है।इसके साथ ही कुछ और भी कारण हैं। एक तो यह कि संस्कृत में गुरु और आचार्य प्रायः एक दूसरे के पर्याय के रूप में व्यवहार में आते हैं। परन्तु कोई पंडित कितना बड़ा विद्वान् क्यों न हो वह ईश्वरतुल्य नहीं माना जा सकता। अर्थसाम्य के कारण यह दोष गुरु शब्द पर भी आ जाता है। इसके अतिरिक्त यह भी देखा गया है कि कुछ योगियों के गुरुओं का चर्चा नहीं मिलता जिससे यह अनुमान होता है कि योग में गुरु की नितान्त आवश्यकता नहीं है। इस आपत्ति के सम्वन्व में पहली बात तो यह है कि वहुत सम्भव है कि उन महापुरुषों के गुरुओं के नाम काल पाकर विस्मृत हो गये हों। जैसा कि हम आगे किसी आगामी अध्याय में देखेंगे। किन्हीं लोगों को तो सिद्धों से भी प्रत्यक्ष उपदेश मिल जाया करता है जो सामान्यतः अदृश्य रहते हैं। ऐसे लोग थोड़े ही होते हैं। पर वह वहुत ही भाग्यशाली हैं। उन लोगों की ओर श्रीकृष्ण ने गीता के छठें अध्याय में संकेत किया है। अर्जुन ने पूछा :

अयतिः श्रद्धयोपेतो, योगाच्चलितमानसः।
अप्राप्य योगसंसिद्धिं, कां गतिं कृष्ण गच्छति॥

कोई व्यक्ति ऐसा हो जिसमें श्रद्धा हो, उसने योगाभ्यास भी किया हो परन्तु अस्थिर चित्त होने के कारण योग में सिद्धि प्राप्त न कर सका हो। ऐसे मनुष्य की क्या गति होगी ?

उत्तर में श्रीकृष्ण ने कहा :

पार्थ नैवेह नामुत्र, विनाशस्तस्य विद्यते।
न हि कल्याणकृत्कश्चिद् दुर्गतिं तात गच्छति॥
प्राप्य पुण्यकृतांल्लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः।
शुचीनां श्रीमतां गेहे, योगभ्रष्टोऽभिजायते॥
अथवा योगिनामेव, कुले भवति धीमताम्।
एतद्धि दुर्लभतरं, लोके जन्म यदीदृशम्॥
तत्र तं वुद्धिसंयोगं, लभते पौर्वदेहिकम्।
यतते च ततो भूयः, संसिद्धौ कुरुनन्दन॥
पूर्वाभ्यासेन तेनैव, ह्रियते ह्यवशोऽपि सः।
जिज्ञासुरपि योगस्य, शब्दब्रह्मातिवर्तते॥

हे अर्जुन, कल्याणकारी पुरुष की दुर्गति कभी नहीं होती। न उसका विनाश इस लोक में होता है, न परलोक में। बहुत दिनों तक पुण्यात्माओं के लोकों को, अर्थात् विभिन्न स्वर्गों को, भोगकर योगभ्रष्ट सज्जन लोगों तथा श्रीमानों के घर में जन्म लेता है या बुद्धिमान योगियों के कुल में जन्म लेता है। ऐसा जन्म बहुत ही दुर्लभ है। वहां उसको पिछले जन्म की बुद्धि का संयोग फिर से प्राप्त होता है और वह सिद्धि के लिए पुनः यत्न करता है। जहां से अभ्यास छूटा था वहां से वह फिर से अभ्यास आरम्भ करता है। योग का जिज्ञासु भी उस पद से ऊपर जाता है जिस पद तक शब्द ब्रह्म अर्थात् वैदिक कर्मकांडों की गति होती है।

ऐसे ही पिछले जन्म के किसी योगभ्रष्ट व्यक्ति को किसी महापुरुष से बातचीत में भी यदि कोई संकेत मिल गया तो वह योग में सिद्धि को प्राप्त कर सकता है। परन्तु यह नियम सबके लिए लागू नहीं हो सकता। जिन लोगों ने सद्गुरु से अपने आध्यात्मिक जीवन में वैसी सहायता पायी है जो अन्य कहीं प्राप्त नहीं हो सकती थी वही इस विषय के साक्षी हो सकते हैं। मैं यहां नमूने की भांति कुछ ऐसे वाक्य उद्धृत करता हूं। विभिन्न लोगों ने जैसी भाषा में अपने विचारों को व्यक्त किया है वह स्वयं बहुत रोचक है :

गुरु गोविंद दोऊ खड़े, का के लागूं पांय।
बलिहारी गुरु आपने, जिन गोविंद दियो बताय॥
कबीर ते नर अंध हैं, गुरु को कहते और।
हरि रूठे गुरु ठौर हैं, गुरु रूठे नहीं ठौर।

(कबीर)

गुरु परसादी दुरमति खोई। जहं देखा तहं एको सोई॥
जिनी आतम चीनिआ परमातमु सोई॥

(नानक)

दादू उस गुरुदेव की, मैं बलिहारी जाउं।
जहं आसन अमर अलेख था, ले राखे उस ठाउं॥

(दादू)

परमातम गुरु आतमा, उपज्या यह अविवेक।
सुंदर भ्रम ते दोय थे, सतगुरु की एक एक।

(सुन्दरदास)

सतगुरु के ढिग जायके, सनमुख खावे चोट।
चकमक लगि पथरी झड़ें, सकल जलावै खोट॥

(चरनदास)

चिउटी जहां न चलि सकै, सरसों न ठहराय।
सहजो कूं वा देस में, सतगुरु दई बसाय॥
गुरु चरनन पर तन मन वारूं। गुरु न तजूं हरि को तजि डारूं॥
(चरनदास जी की शिष्या सहजोबाई)

ऐसा सतगुरु हम मिला, सुन्न विदेसी आप।
रोम रोम परकास है, देहीं अजपा जाप॥
ऐसा सतगुरु हम मिला बेपरवाह अबंध।
परम हंस पूरन पुरुष, रोम रोम रवि चंद॥
(गरीबदास)

ऐन इश्क नहीं घर खालाका जो फपसेती घुस जाओगे।
बिन पूछे जांचे खोल कमर आंगन में खाट बिछाओगे।
जब पहिले मानमनीखोकर मुर्शिद को ठोकर खाओगे।
तब रामसहाय मिटाय खुदी महबूब महल को पाओगे।
(रामसहाय)

मुर्शिद—गुरु (रामसहाय जी उर्दू वर्णमाला की अखरावत लिख रहे थे "ऐन" अक्षर पर यह शब्द बना है)

धरती से आकाश लों धावा, बिन सदगुरु कोउ भेद न पावा।
(बजहन)

गुरु महिमा में लिखी सहस्रों रचनायें दी जा सकती हैं। परन्तु उदाहरण के लिए इतनी पर्याप्त हैं।

गुरु ब्रह्मनिष्ठ होना चाहिए। इसके सम्बन्ध में कई लोगों ने अपना मत स्पष्ट किया है।

पोथी पढ़ि पढ़ि जग मुआ, पंडित हुआ न कोय।
ढाई अक्षर प्रेम का, पढ़ै सो पंडित होय॥
धुन लावै जो गगन की, सो मेरा गुरुदेवा।
(कबीर)
जो जाने यहि पद कर भेवा, आदि अन्त सोई गुरुदेवा॥
(बाबा रामलाल)

शिष्य को गुरु की सेवा जिस लगन से करनी चाहिए उसके सम्बन्ध में कबीर का एक दोहा है :

पहिले दाता शिष भया, जिन तन मन अरपा शीश।
पीछे दाता गुरु भया, जिन नाम किया बखशीश।।

इसी विषय पर दया बाई कहती हैं :

मनसा वाचा करि दया, गुरु चरनों चित लाव।
जग समुद्र के तरनकूं, नाहिन आन उपाव।।

और दरिया साहब का यह उपदेश है :

गुरु होने योग्य व्यक्ति को पहचानना सरल काम नहीं है। ऐसे लोग पुरुष और स्त्री शरीर में, वृद्ध और युवा शरीर में, गृहस्थ और साधु शरीर में मिलते हैं, अनेक धर्मों के अनुयाइयों में पाये जाते हैं। सच्चे महात्माओं का अनुकरण करने वाले झूठों की भी कोई कमी नहीं है। परन्तु इससे हतोत्साह होने की कोई आवश्यकता नहीं है। जीवन में दो चार वार धोखा भी हो सकता है परन्तु जो सच्चा खोजी है उसकी खोज पूरी होकर रहती है। परमात्मा स्वयं उसको गुरुरूप से मिलता है और जब तक ऐसा नहीं होता तब तक उसके चित्त को तृप्ति भी नहीं होती। कभी कभी तो कुछ सच्चे महात्मा ऐसा आचरण करते प्रतीत होते हैं कि लोग दुखी होकर उनके पास आना छोड़ दें। और यह भी एक परीक्षा है, जो इसमें उत्तीर्ण होता है वह भाग्यवान् है और वह इस योग्य है कि गुरु उस पर कृपा करे। सच्चे ब्रह्मज्ञानी पुरुष अपना विज्ञापन नहीं किया करते। कबीर ने एक जगह कहा है :

पानी प्यावत क्या फिरै, घर घर सायर बार।
जो कोई प्यासा होयगा, पीवेगा झख मार।।

जब कोई ब्रह्मनिष्ठ किसी को शिष्य रूप में स्वीकार कर लेता है तो फिर यह सारे जीवन पर्यन्त का सम्बन्ध हो जाता है। कोई व्यवधान इसमें बाधक नहीं हो सकता। कबीर ने कहा है :

जो गुरु होयं बनारसी, शिष्य समुन्दर तीर।
आठ पहर लागी रहै, जो गुन होई सरीर।।

एक दिन किसी प्रकार का मंत्र कान में फूंक देने से काम नहीं चलता। शिष्य के सारे जीवन को सुधारना है। यह ठीक है कि प्रत्येक शिष्य की योग्यता एक सी नहीं

हो सकती, परन्तु जिसकी जितनी योग्यता है उसको उतना आगे तो ले ही जाना है। उसके इस जन्म को सुधारना है और इसके साथ ही दूसरे जन्म को सुधारना है। शिष्य को ऐसा बना देना है कि यदि उसमें कोई कमी रह गयी, यदि वह योगभ्रष्ट रह गया, तो वह कमी अगले जन्म में पूरी हो जाय। नैतिक, बौद्धिक और आध्यात्मिक इन सभी स्तरों पर शिष्य को ऊपर उठाना है और यह बड़ा कठिन काम है। योग या अन्य उपासना के क्षेत्र में गुरु शिष्य को क्या उपदेश देता है यह तो वही दोनों जान सकते हैं। इतना स्पष्ट है कि जो कुछ उपदेश दिया जायगा वह बहुत सोच समझकर दिया जायगा परन्तु वह उपदेश गोप्य ही होगा गुरु और शिष्य दोनों ही उसे गुप्त रखेंगे। इसलिए पुस्तकों में इस सम्बन्ध की बातें बहुत ब्यौरे से खोलकर नहीं कही जातीं। मौलाना रूम ने कहा है :

आरिफ़ां के जामे हक नोशीदः अंद,
राजहां दानिस्तः वो पोशीदः अंद॥
हर किरा इस्रारे हक आमोख्तन्द,
मुहु कर्दन्दो दहानश दोख्तन्द॥

जिन योगियों ने ब्रह्मानन्द का प्याला पिया है वह रहस्यों को जानते हैं परन्तु उनको छिपाते हैं। जिस किसी को सत्य पदार्थ का भेद सिखाते हैं उसके होंठ को सीकर उस पर मुहर लगा देते हैं।

शिष्य के उतावलेपन से प्रेरित होकर नहीं वरन् उसकी क्षमता को देखकर ही गुरु उसे अपना उपदेश देता है। एक ओर तो शिष्य की व्यग्रता और झूठे दर्प को दबाना होता है, दूसरी ओर उसके उत्साह को बढ़ाना होता है। कोई शिष्य अपने अभिमान में यह समझ सकता है कि मुझे मार्ग बतलाया जाय, मैं बात की बात में इसको तय करूंगा। उसके सामने यह बात रखनी पड़ती है :

रण का चढ़ना सहज है मुश्किल करना योग।

(पलटू)

पतंजलि के शब्दों में :

स तु दीर्घकालनैरंतर्यसत्कारासेवितो दृढभूमिः। (१,१४)

अर्थात् यह जो योग का अभ्यास है वह एक दिन में सिद्ध करने की वस्तु नहीं है। जब इसे दीर्घकाल तक निरन्तर श्रद्धा और पूरे श्रम के साथ किया जाय तब इसमें दृढ़ स्थिति प्राप्त होती है।

इसके साथ ही इस वात को भी ध्यान में रखना पड़ता है कि उसका साहस टूट न जाय। उसको यह भी समझाया जाता है कि :

तीव्रसंवेगानामासन्नः । (१,२१)
तथा मृदुमध्याधिमात्रत्वात् ततोऽपि विशेषः । (१,२२)

अर्थात् वह लोग जिनको संवेग तीव्र होता है, योग के प्रति जिनका उत्साह तीव्र होता है, उनको समाधि बहुत शीघ्र प्राप्त होती है। इतना ही नहीं, तीव्र संवेग वालों के भी तीन भेद होते हैं : मृदु, मध्य और अधिमात्र । यह तीनों तीव्रताएं उत्तरोत्तर हैं और इसलिए उत्तरोत्तर फल देने वाली हैं। इसका तात्पर्य यह हुआ कि गुरु शिष्य को वरावर यह उपदेश देता रहता है तुम अपने संवेग को, योग में सफलता प्राप्त करने की इच्छा को, तीव्र वनाओ, और तीव्र ही नहीं अधिमात्र तीव्र वनाओ। तुमको निश्चय ही सफलता मिलेगी। भावी जीवन की वात सोचकर हाथ पर हाथ रखकर वैठने की आवश्यतका नहीं। सफलता की कुंजी तुम्हारे हाथ में है।

सूत्रकार ने सफलता के लिए केवल संवेग का नाम लिया है और किसी वात का नहीं। इसका तात्पर्य यह है कि इस सम्वन्ध में किसी अन्य वात की अपेक्षा नहीं है। यह इसलिए कहा जाता है कि कभी कभी लोगों को ऐसा समझा दिया जाता है कि योग का अभ्यास कलिकाल के लिए नहीं है। और दूसरी वात यह है कि योग केवल युवा पुरुषों के लिए है। यह ठीक है कि युवा अवस्था में शरीर प्रायः स्वभावतः स्वस्थ रहता है। संकल्प शक्ति भी वलवती होती है। इसलिए जहां इन्द्रियां प्रवल होती हैं वहां उनका दमन करना भी अपेक्षतया सुगम होता है। परन्तु योग शारीरिक व्यायाम नहीं है। चित्त का खेल है और इसलिए वय का योगाभ्यास के लिए विशेष महत्त्व नहीं है। वृद्ध पुरुष का भी संवेग तीव्र हो सकता है। इतना ही नहीं, यदि उसके हृदय में यह वात वैठ जाय कि अव जीवन थोड़ा है, अपने अवशिष्ट दिनों का पूर्ण प्रयोग करना चाहिए तो वह युवा पुरुषों से किसी दृष्टि में पीछे नहीं रह सकता। रही कलिकाल की वात। यह निरर्थक है। आज यदि कलिकाल है तो आजकल का मनुष्य उन सभी कामों को कर रहा है जो पहले युगों के मनुष्य करते थे। वह उन सभी पुस्तकों को पढ़ रहा है जिनको वह लिख गये हैं और उनके अतिरिक्त अन्य सहस्रों नयी पुस्तकों को पढ़ रहा है। विज्ञान के द्वारा ऐसे काम कर रहा है जिनको पहले के लोग नहीं कर सके थे। इस वात को मानने का कोई कारण नहीं है कि वह पहले के युगों के मनुष्यों से किसी वात में हीन है। आज का मनुष्य योग के विषय में उतना ही अच्छा अधिकारी हो सकता है जितना पहले का कोई व्यक्ति हो गया है। और इतना ही नहीं, यह भी ध्यान में रखने की वात है कि

हमारे देश में जितने लोगों के नाम योगियों की सूची में लिये जाते हैं उनमें से बहुतों ने इसी कलियुग में शरीर धारण किया था। पहले सतयुग आदि में मंत्रद्रष्टा भले ही रहे हों परन्तु आत्मद्रष्टाओं की संख्या कलियुग में किसी अन्य युग से कम नहीं रही है। योग के पथ पर चलने वाले को हतोत्साह होने का कोई कारण नहीं है।

सद्गुरु का सत्संग एक ऐसी वस्तु है जिसका मूल्यांकन शब्दों में नहीं हो सकता। उठते बैठते गुरुमुख से प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से जो भी शब्द निकलते हैं वह शिष्य के लिए परम हितकारी हैं। बिना प्रयास के ही उसकी बहुत सी शंकाओं का उच्छेदन हो जाता है, बिना पूछे ही बहुत से प्रश्नों के उत्तर मिल जाते हैं, जीवन की बहुत सी समस्यायें सुलझ जाती हैं। प्राचीन आचार्यों ने सत्संग को बहुत ऊंचा स्थान दिया है।

तुलसीदास जी के शब्दों में :

मति गति कीरति भूति भलाई, जो जन जबहिं जहां ते पाई।
सो जानब सत्संग प्रभाऊ; लोकहु वेद न आन उपाऊ।

(तुलसीदास)

इस सम्बन्ध में एक पुरानी कथा का स्मरण हो आता है। कहते हैं कि एक बार वशिष्ठ और विश्वामित्र में इस बात पर विवाद छिड़ा कि तप बड़ा है कि सत्संग। यह निश्चय हुआ कि शेषनाग को मध्यस्थ माना जाय। दोनों महर्षि उनके पास गये। उन्होंने कहा मेरे सिर पर पृथ्वी का इतना भारी बोझ है। इसको थोड़ी देर के लिए हल्का कर दीजिए फिर मैं उत्तर दूंगा। विश्वामित्र ने कहा मैंने जो कुछ तप किया है उसमें से एक सहस्र वर्ष के तप से प्राप्त शक्ति को इस काम के लिए लगाता हूं। उस शक्ति के लगाने पर भी पृथ्वी अपने स्थान से न हिली। तब वशिष्ठ ने कहा कि यदि मैंने अपने जीवन में कुछ सत्संग किया हो तो उसमें से घड़ी भर के सत्संग के फल से प्राप्त पुण्य को अर्पित करता हूं। उनके ऐसा कहते ही पृथ्वी शेषनाग के सिर पर से उछल कर ऊपर उठ गयी। विश्वामित्र जी ने कहा कि अब आप निर्णय कीजिए। शेषनाग ने कहा कि निर्णय तो हो गया। जो काम एक हज़ार वर्ष का तप न कर सका वह एक घड़ी के सत्संग ने कर दिया। यह तो कहानी है। परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि :

एक घड़ी आधी घड़ी, आधिहुं की पुनि आध।
तुलसी संगत साध की, हरै कोटि अपराध॥

ब्रह्मवेत्ता सभी महात्मा बराबर हैं और समान रूप से पूज्य हैं, ऐसी भावना मनुष्य को रखनी चाहिए। कहा गया है :

यत्र तत्र समये यथा तथा, योऽसि सोऽस्यभिधया यया तया।
वीतरागकलुषश्च चेद् भवान्, एक एव भगवन् नमोऽस्तु ते॥

चाहे जिस जगह और जिस समय में उन्होंने शरीर धारण किया हो और चाहे जिस नाम से पुकारे जाते हों, जो लोग राग और द्वेष से परे हों वह सब एक हैं और उनको प्रणाम।

फिर भी अपने गुरु को सर्वाधिक आदर और पूजा का पात्र मानना ही चाहिए। इस बात को दादूदयाल जी के शिष्य सुन्दरदास जी ने बड़े उत्तम ढंग से निबाहा है :

और तो संत सबै सिर ऊपर सुन्दर के गुरु हैं गुरु दादू।

अध्याय ९

चित्त प्रसाद— कर्मयोग

किसी को अपने शिष्य के रूप में स्वीकार करना अपने ऊपर बहुत बड़ा दायित्व लेना है। गुरु उस व्यक्ति के सारे जीवन और जीवन के हर पहलू को सुधारने का भार अपने ऊपर लेता है। परन्तु यदि शिष्य उन गुणों से सम्पन्न है जिनका संकेत पिछले अध्यायों में किया गया है और गुरु के आदेश, उपदेश और परामर्श के अनुसार चलता है तो इसमें सन्देह नहीं कि उसका कल्याण होगा। एक बात सदैव ध्यान में रखनी चाहिए। कोई व्यक्ति कितना बड़ा महात्मा क्यों न हो शरीरधारी होने के नाते उससे भी भूलें हो सकती हैं इसलिए सत्पुरुष शिष्य को यह चेतावनी दे दिया करते हैं :

यान्यस्माकं सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि नो इतराणि।

जो हमारे सुचरित हैं, तुम उनका ही पालन करना, दूसरों का नहीं। बोलचाल की भाषा में इसे यों कहते हैं :

गुरु जो कहे वह करना चाहिए। जो करे उसका अनुसरण नहीं करना चाहिए।

मुमुक्षु के सामने यह बहुत बड़ी समस्या होती है कि गृहस्थ आश्रम में बना रहे या उसका परित्याग कर दे। अन्त में इसका निर्णय गुरु को ही करना पड़ता है। उसके दीक्षा लेने के पहले तक के रहने सहने के ढंग, उसकी प्रवृत्तियों, उसके भविष्य के सम्बन्ध में अनुमान, इन सब बातों को तौल कर ही गुरु कोई उत्तर दे सकता है। सब के लिए एक ही उत्तर नहीं हो सकता। परन्तु एक बात स्मरण रखने की है। आजकल कुछ ऐसी धारणा सी हो गयी है कि आध्यात्मिक उन्नति के लिए गृहस्थ आश्रम छोड़ देना नितान्त आवश्यक है। यह धारणा यथार्थ नहीं है। बुद्धदेव के पहले के इतिहास में विरले ही किसी सन्यासी का नाम मिलेगा : कुछ नैष्ठिक ब्रह्मचारी, कुछ गृहस्थ, कुछ वानप्रस्थ। बुद्धदेव को जनता के सामने बहुत सी पुरानी बातों को हटाकर नयी बातें रखनी थीं। उनको इस बात की आवश्यकता थी कि ऐसे स्थायी कार्यकर्त्ता मिलें जिनके पास नये धर्म के प्रचार के सिवाय कोई दूसरा काम न हो। इसलिए उन्होंने श्रमण के संघ की स्थापना की। उनके कई सौ वर्ष बाद श्री आदि शंकराचार्य को भी

कुछ ऐसी ही आवश्यकता प्रतीत हुई और उन्होंने वुद्धदेव का अनुकरण करके सन्यासियों के संघ स्थापित किये। सन्यासी, यों कहिए कि सभी प्रकार के साधु, आदरणीय हैं इसमें कोई सन्देह नहीं है। इस वात में भी कोई सन्देह नहीं कि काषाय वस्त्र का धारण करना या चतुर्थ आश्रम में प्रवेश करना आध्यात्मिक जीवन के लिए कदापि अनिवार्य नहीं है। उपनिषदों में, जिनको श्री शंकराचार्य ने प्रस्थान ग्रन्थों में प्रथम स्थान दिया है, ऐसे कई लोगों का चर्चा है जो सन्यासी नहीं थे। काशिराज अजातशत्रु गृहस्थ थे और उन्होंने दृप्तवालाकि और उनके पिता को ब्रह्मज्ञान का उपदेश दिया था। विदेह राजा थे। सन्यासी नहीं। स्वयं याज्ञवल्क्य ब्रह्मज्ञान प्राप्ति के पहले सन्यासी नहीं थे। श्री शंकराचार्य का दूसरा प्रस्थान ग्रन्थ भगवद्गीता है। इसके प्रणेता श्रीकृष्ण गृहस्थ थे और उन्होंने अपने शिष्य अर्जुन को गृहस्थ आश्रम छोड़ने का उपदेश नहीं दिया। योगवासिष्ठ के अनुसार रामचन्द्र जी को लड़कपन में ही वैराग्य हुआ। परन्तु वशिष्ठ से आत्मज्ञान का उपदेश पाने के वाद वह भी गृहस्थ आश्रम में रह गये। ऐसे भी उदाहरण हैं जव कि गुरु के उपदेश से मुमुक्षु ने भैक्षचर्या अंगीकार कर लिया है। भर्तृहरि और गोपीचन्द देशविख्यात उदाहरण हैं। परन्तु दूसरी ओर कवीर और नानक जैसे गृहस्थ महात्माओं के नाम भी मिलते हैं। विचित्र वात तो यह है कि स्वयं श्री शंकराचार्य की गुरु परम्परा में गृहस्थों के नाम हैं। आज भी उनके मठों में वशिष्ठ, उनके पुत्र शक्ति और शक्ति के पुत्र पराशर और पराशर के पुत्र व्यास के नाम आदर से गिनाये जाते हैं। अतः इस सम्वन्ध में इतना ही कहा जा सकता है कि शिष्य गृहस्थ आश्रम में रहेगा या न रहेगा यह उसके गुरु की आज्ञा पर निर्भर करता है और गुरु जो भी आज्ञा देगा उसकी परिस्थितियों पर सम्यक् विचार करने के वाद ही देगा।

सन्यासी का मार्ग कठिन है, इसमें भी कोई सन्देह नहीं। उसके लिए खाने, पीने, उठने, वैठने, सोने, जागने, के वड़े वड़े वन्धन हैं। इन नियमों पर यहां विस्तार से विचार करने की आवश्यकता नहीं है। तत् तत् सम्प्रदाय के अपने आचार ग्रन्थ हैं जिनका पालन उनके यहां होता ही होगा। पतंजलि ने भी इस सम्वन्ध में विशद रूप से कुछ कहना आवश्यक नहीं समझा।

गृहस्थ आश्रम का भी वहुत वड़ा महत्त्व है। जगत् में धर्म की मर्यादा को वनाये रखना गृहस्थ पर ही निर्भर है। जैसा कि मनु ने कहा है :

यथा नदीनदाः सर्वे, समुद्रे यान्ति संस्थितिम् ।
तथैवाश्रमिणः सर्वे, गृहस्थे यान्ति संस्थितिम् ॥

जैसे छोटी वड़ी सभी नदियां समुद्र में आश्रय पाती हैं, उसी प्रकार तीनों आश्रम वाले गृहस्थ आश्रम में आश्रय पाते हैं। इसके सिवाय एक और वहुत वड़ी वात है। जो

लोग गृहस्थ आश्रम को छोड़ चुके हैं उनके सम्वन्ध में ऐसा कहा और समझा जाता है कि उन्होंने संसार को छोड़ दिया है। परन्तु संसार हमारे बाहर ईंट पत्थर में, वृक्ष और वनस्पति में, मनुष्यों की भीड़ में, नहीं है। वह हमारे भीतर है। मनुष्य जहां जाता है अपना संसार अपने साथ ले जाता है। संसार तो काम, क्रोध, राग, और द्वेष से वना हुआ है। कपड़े को वदल लेने से संसार का त्याग नहीं होता। घर छोड़कर मठ में जाकर रहने पर भी संसार साथ जाता है। यह इतनी प्रत्यक्ष बात है कि हमको इसका नित्य अनुभव होता रहता है। न तो इसके उदाहरण देने की आवश्यकता है और न कुछ विस्तार से कहने की।

एक इससे भी महत्त्व की वात है। मनुष्य के चरित्र को सुधारने का, मनुष्य की दुर्बलताओं के ऊपर उठने का, अवसर संसार में रहकर ही मिलता है। जो आदमी जंगल में चला गया, मनुष्य समाज से अलग हो गया, वह किसके ऊपर क्रोध करेगा? उसकी काम वासना के लिए भी उत्तेजक सामग्री स्यात् ही कभी मिलेगी। किस वस्तु का लोभ होगा? परिणाम प्रायः यह होगा कि वह प्रवृत्तियां जो मनुष्यों में सहज रूप से पायी जाती हैं दव सी जायंगी। परन्तु दब जाने का यह अर्थ नहीं है कि वह निर्मूल हो जायंगी। उनकी तृप्ति का अवसर सामने आया कि सुप्तप्राय प्रवृत्तियां फिर जाग उठेंगी अपने चित्त से लड़कर विजय प्राप्त करने का अभ्यास न होने से वह मनुष्य वह जायगा। ऐसे काम कर वैठेगा जिनसे वाद को उसे पश्चात्ताप होगा। उसे लज्जा होगी परन्तु अनुचित आचरण तो हो चुका होगा। पुराणों में ऐसे तपस्वियों की वहुत सी कथायें मिलती हैं। वर्षों की तपस्या काम नहीं आती और वात की वात में कोई ऐसा आचरण हो जाता है जिसके संस्कार को जल्दी कोई पश्चात्ताप धो नहीं सकता। गृहस्थ आश्रम में प्रलोभन आते हैं। उनसे लड़ने का यत्न भी किया जा सकता है। यत्न कभी सफल होगा और कभी असफल। परन्तु क्रमशः उनके ऊपर अंकुश रखने की शक्ति उत्पन्न होती है। इसके साथ ही भोग स्वयं अरुचि उत्पन्न कर देता है, इसलिए स्खलन का डर कम हो जाता है।

अर्थ और काम की प्रवृत्ति तो जैसा कि पहले हम दिखला आये हैं प्राणीमात्र में होती है। जंगल में रहने वाला यती भी इनके ऊपर नहीं उठ सकता। परन्तु धर्म का आचरण उसके लिए सम्भव नहीं है क्योंकि इसके लिए पात्र चाहिए। उदारता, दया, त्याग, मैत्री, क्षमा आदि सद्गुण धर्माचरण के अंग हैं। परन्तु जो अकेले रहता है, मनुष्य समाज को छोड़ चुका है, वह किसके ऊपर क्षमा या दया का अभ्यास करेगा किसके साथ मैत्री दिखलायेगा? किसके साथ उदारता वरतेगा? स्वभावतः उसके चरित्र में इन गुणों के विकसित होने का अवसर मिलता ही नहीं। बहुधा ऐसे लोग बड़ी कड़ाई के साथ धार्मिक नियमों के वरतने की बात करते हैं। जिन मनुष्यों से उनको कभी काम

पड़ जाता है उनसे कड़ी कठोरता से सत्य आदि नियमों के पालन की आशा करते हैं। परन्तु समाज से पृथक् रहने के कारण वह धर्म के व्यावहारिक रूप को नहीं जानते हैं। मनुष्य चरित्र की दुर्बलता को नहीं पहचानते और यह नहीं जानते कि जो दुर्बल है उसको किस प्रकार अपने हाथ का सहारा देकर ऊपर उठना होता है।

श्रीकृष्ण ने गीता में कहा है :

न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् ।

कोई मनुष्य थोड़ी देर के लिए भी बेकार नहीं बैठ सकता। जब तक कोई संज्ञाहीन न हो जाय तब तक वह कुछ न कुछ करता रहता है। यदि देखने में शरीर निश्चल भी प्रतीत हो तो चित्त न जाने कहां कहां दौड़ता फिरता है। जब चंचल रहना ही है, कुछ न कुछ करते ही रहना है, तो ऐसा काम क्यों न किया जाय जो हानिकर होने के बदले लाभदायक हो। जंगल में रहने वाला यती भी दिन-रात समाधिस्थ नहीं रहता। जो इतनी आध्यात्मिक उन्नति कर चुका हो उसकी तो बात न्यारी है परन्तु जो अभी इस स्थिति तक नहीं पहुंचा है उसका चित्त भी कुछ न कुछ सोचता रहता होगा। उसको भी अपने चित्त पर अंकुश रखना होगा और बुरी दिशा में जाने की अपेक्षा अच्छा अंकुश यही है कि अच्छी दिशा में ले जाया जाय। ऐसे अवसर गृहस्थ को बड़ी सुकरता से प्राप्त होते हैं। प्राचीन आचार्यों ने उचित ढंग से काम करके जीवन यापन करने का बहुत विस्तार से वर्णन किया है। ईशावास्य उपनिषद् ने कहा है :

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः ।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ।।

कर्म करता हुआ पूर्ण आयु भर जीने की इच्छा करे। तुम मनुष्यों के लिए यही मार्ग है, इस पर चलने से कर्म से मनुष्य लिप्त नहीं होता। यह अन्तिम वाक्य बड़े महत्त्व का है। कर्म में बहुत बड़ा दोष यह है कि वह अनन्त चक्र को जन्म देता है, कर्म से फल होता है और फलस्वरूप वासनायें होती हैं। वासनाओं से फिर कर्म होते हैं। यह तांता कभी टूटता ही नहीं। मनुष्य सदा कर्म से लिप्त रह जाता है। परन्तु इस प्रकार भी कर्म किया जा सकता है कि कर्म हो परन्तु उससे लिप्त न होना पड़े। उसके संस्कार चिपके न रहें। यह कैसे होगा? इसका रहस्य इसके पहले के मंत्र में बतलाया गया है: "त्यक्तेन भुंजीथाः" त्याग के द्वारा योग करे। जैसा कि धर्म के विषय पर विचार करते हुए हमने देखा है मनुष्य सहस्रों दूसरे प्राणियों का ऋणी है। यदि वह इस बात का निरन्तर प्रयत्न करता है कि दूसरों का ऋण चुकाता रहे, दूसरों की सेवा करता

रहे तो वह कर्म से लिप्त न होगा। इसी को निष्काम कर्म कहा गया है और ऐसे कर्म में लगे रहने को कर्मयोग कहते हैं। इसी को गांधीजी ने अनासक्ति का नाम दिया है। कर्मयोग का मूल सिद्धान्त यह है कि मनुष्य कर्म के फल में आसक्ति न रखे। कर्म करे परन्तु उसके फल की ओर आकृष्ट न हो। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि कर्मयोगी पागलों की भांति जो कोई काम सामने आ गया उसको कर बैठता है।

जब कोई काम सामने आता है तो उसके परिणामों के ऊपर पूरा विचार करता है। देखना है कि उससे क्या लाभ होगा? लाभ और अलाभ का सन्तुलन करते हुए अपने हितों की बात नहीं लोकहित की बात प्रधान रूप से सामने रखता है। जो काम उपयोगी प्रतीत होता है उसको यत्नपूर्वक करता है और काम करते समय इस बात का प्रयास करता है कि काम में सफलता हो। परन्तु लक्ष्य यह होना चाहिए कि काम में सफलता हो मेरी सफलता हो या न हो। प्रस्तावित कर्म के प्रसंग में 'मैं' की भावना न आनी चाहिए। इसका परिणाम यह होगा कि यदि काम सफल हुआ तो लोकहित होगा। यह तो प्रसन्नता की बात है परन्तु साधारण कर्म करने पर भी जैसा कि सामान्य मनुष्य को गर्व और हर्ष की अनुभूति होती है वह कर्मयोगी को नहीं होगी। और यदि सफलता हुई तो वैयक्तिक स्तर पर विषाद भी न होगा। यह कर्म लोकहित की दृष्टि से करणीय है। इसको करना मेरा कर्त्तव्य है। इस भावना से कर्म में हाथ डाला जायगा। इस सम्बन्ध में श्रीकृष्ण ने यह उपदेश दिया है :

कर्मण्येवाधिकारस्ते, मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूः, मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि ॥

तुमको कर्म करने मात्र का अधिकार है, फलों का अन्वेषण करने का नहीं। न तो कर्मफल के पीछे पड़ना है और न कर्म का त्याग करना चाहिए। यदि कोई कृषक बीज डालने के बाद उसको दूसरे चौथे खोदकर देखता रहे कि बीज में जड़ निकली या नहीं और जड़ पुष्ट हो रही है या नहीं तथा उस बीज से अच्छे फल होने की सम्भावना है या नहीं तो उसको फल तो बहुत दूर की बात है वृक्ष के भी दर्शन नहीं होंगे। बीज भूमि में डाला जाता है। उसकी सिंचाई की जाती है और खाद देते हैं, फिर इस भरोसे पर बैठ जाते हैं कि प्राकृतिक नियम अपना काम करेंगे और बीज से वृक्ष होगा और वृक्ष से फल मिलेगा। कर्मयोगी को भी ऋत और सत्य के भरोसे कर्म करना चाहिए। मैं कर्म करता हूं, दैवी नियम भी काम करेंगे ही। आजकल ऋत और सत्य का व्यवहार में प्रायः एक ही अर्थ हो गया है। ऋत भी सत्य का पर्याय हो गया है। वैदिक वाङमय में ऐसा नहीं था। ऋग्वेद में स्पष्ट लिखा है :

ऋतं च सत्यं चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत।

जब सृष्टि के आरम्भ में हिरण्यगर्भ ने तप किया तो उस तप से ऋत और सत्य का जन्म हुआ। ऋत भौतिक नियमों के समुच्चय का नाम है, जिनका अध्ययन मुख्य रूप से भौतिक विज्ञान, रसायन, गणित इत्यादि शास्त्रों में होता है। सत्य उन नियमों का नाम है जिनके अनुसार कर्मों के फल मिलते हैं। अमुक प्रकार के कर्म का अमुक प्रकार का फल मिलेगा ही, यह सत्य ऋत है। ऋत और सत्य के अनुसार यह जगत् चल रहा है।

इस प्रकार कर्म करने से एक और बड़ा लाभ होता है। जिन कृत्रिम दीवारों ने हमको संकीर्ण कोठरियों में बन्द कर रखा है वह आपसे आप ध्वस्त होने लगती हैं। इस समय हमारा जीवन बहुत सी कल्पित पृथकताओं का समुच्चय है। मैं समझता हूं कि मनुष्य होने के कारण मैं अन्य सब प्राणियों से पृथक् हूं और मेरे हित उन सबों के हितों से पृथक् हैं। यदि कहीं मुझको ऐसा प्रतीत हुआ कि मनुष्यहितों पर कोई आघात पहुंचने की सम्भावना है तो मैं अन्य समस्त प्राणियों के हितों पर प्रहार करने के लिए तैयार हो जाऊंगा। फिर मनुष्य भी सब एक नहीं हैं। मजहब, रंग, राष्ट्र, राजनीतिक दल आदि बातों ने उनको एक दूसरे से पृथक् कर रखा है। जिस कोटि या वर्ग से मेरा सम्बन्ध है वह सबसे श्रेष्ठ है और उसके हितों की सबके ऊपर प्राथमिकता है और आगे चलकर मेरा परिवार है और सबसे ऊपर स्वयं मैं हूं। मैं वह इकाई हूं जो सबसे पृथक् है। जो अन्य सब इकाइयों का माप है। मैं स्पष्ट शब्दों में न कहूं परन्तु मुझको ऐसा लगता है कि सारा जगत् मेरे चारों ओर परिक्रमा करता है और मेरे हित के साधन के लिए अन्य सब की सृष्टि हुई है। विचार और अनुभव इन सब भेदभावों को तोड़ सकता है परन्तु इनका सबसे प्रबल शत्रु कर्मयोग है। कर्म, निष्काम कर्म, हमको दूसरों के निकट लाता है और निकट आने पर भेदभाव झीना पड़ जाता है। अपने और पराये की विषमतायें क्षीण होने लगती हैं और समतायें दृढ़ता के साथ सामने आने लगती हैं।

मुमुक्षु भी मनुष्य ही होता है। प्रारम्भिक अवस्था में उसमें और दूसरे मनुष्यों में कम ही अन्तर होता है। उसकी चित्तवृत्ति अन्तर्मुख होती रहती है। वह इन्द्रियों के दमन का बराबर उपाय करता रहता है। फिर भी अपनी दुर्बलताओं पर विजय पाना बड़ा कठिन काम है। कभी कभी किसी के अभ्युदय को देखकर ईर्ष्या का भाव जाग उठता है। कभी किसी को ऐसा व्यवहार करते देख जो अपनी समझ में अनुचित हो, क्रोध आ जाता है और उस क्रोध को दबाने पर तो बहुत देर तक अन्तर्दाह बना रहता है। इन सब बातों से चित्त को एकाग्र करने में बाधा पड़ती है और जो प्रशान्तवाहिता अभीप्सित है वह नहीं मिल पाती। चित्त में एक प्रकार का तनाव और विषाद बना रहता है। महर्षि

पतंजलि इस बात को समझते थे। उनकी यह इच्छा थी कि प्रत्येक अभ्यासी के दिल से विषाद दूर हो और तनाव दूर हो और उसके चित्त में ऐसा प्रसादगुण स्थापित हो जिसमें कि वह समाधि की ओर सहज ही झुक सके। इसीलिए उन्होंने अभ्यासी के लिए कर्म मार्ग का उपदेश दिया और संकेत से यह भी बतलाया है कि उसको किस प्रकार के कामों में प्रवृत्त होना चाहिए। उनके शब्द ये हैं :

मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयेषु भावनातश्चित्तप्रसादनम्। (१,३३)

सुख, दुख, पुण्य, अपुण्य विषयों में क्रमशः मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा की भावना करने से चित्त को प्रसाद प्राप्त होता है। मुझे इस बात का दुःख है कि इस सूत्र की यथार्थ रूप में मीमांसा नहीं की गयी। सारी बात इस पर निर्भर है कि सूत्र में भावना शब्द का क्या अर्थ है? भाष्यकार और दूसरे टीकाकारों ने भी भावना का अर्थ लिया है चित्त में सोचना। परन्तु मेरा ऐसा दृढ़ विश्वास है कि भगवान् भाष्यकार का अर्थ इतना ही नहीं था। वह इसके आगे भी सोचते थे। उन्होंने अपने सामने वही बात रखी थी जिसको श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा था। वह साधक को निष्काम कर्म करने में प्रवृत्त करना चाहते थे। उनका भी यही विश्वास था कि :

उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम्।

यह लोक उत्सन्न हो जायगा, इसमें उथल पुथल मच जायगा, यदि मैं कर्म न करूंगा।

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत् प्रमाणं कुरुते, लोकस्तदनुवर्तते॥

श्रेष्ठ पुरुष जिस मार्ग पर चलते हैं दूसरे लोग भी उसी का अनुगमन करते हैं। वह जो लीक डाल जाता है उसी पर और लोग भी चलते हैं। यदि अच्छे लोग केवल चित्त में मैत्री आदि की बात सोचकर बैठे रहें तो दूसरे लोग भी ऐसा ही करेंगे और लोगों के सामने यह प्रसिद्ध करेंगे कि हम भी मैत्री आदि से प्रेरित हैं। तब केवल दम्भ को प्रोत्साहन मिलेगा।

सुख के विषय में मैत्री की भावना रखने का तात्पर्य केवल इतना नहीं हो सकता था कि मन से मनाया जाय कि लोग सुखी रहें। आज लाखों मनुष्य इस श्लोक का पाठ करते हैं :

सर्वे भवन्तु सुखिनः, सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु, मा कश्चिद् दुःखभाग्भवेत् ॥

सब लोग सुखी रहें। सब लोग निरोग रहें। सब लोगों का कल्याण हो, कोई दुःखी न हो। श्लोक पढ़ते हैं और पाठ समाप्त करके राग, द्वेष से प्रेरित होकर कलह और द्वेषमय काम में रत हो जाते हैं। सूत्रकार का अर्थ यह है कि इस बात के लिए सक्रिय प्रयत्न किया जाय कि संसार में सुख की वृद्धि हो। जो व्यक्ति निरन्तर ऐसे प्रयत्न में लगा रहता है वही चित्त से भी दूसरों का भला चाह सकता है। करुणा के सम्बन्ध में भी यही बात कही जा सकती है। कोई दुःखी न हो इतना सोच लेना पर्याप्त नहीं है। सड़क पर कोई रोगी या कोढ़ी पड़ा होता है। अपने को धर्मात्मा मानने वाले तो सड़क से निकल जाते हैं और मुंह से शिव शिव कहकर करुणा धर्म का पालन कर लेते हैं। कोई डोम या भंगी गिरकर चोट खा गया है, धर्मात्मा लोग उसे छूते नहीं परन्तु उनके हृदय में करुणा का समुद्र इस प्रकार उद्वेलित होता रहता है कि चींटियों को नित्य प्रति आटा या शक्कर बांटते हैं, यह करुणा नहीं है। जब तक सक्रिय प्रयत्न न किया जाय, दूसरे के दुःख को टालने के लिए अपने को कष्ट में न डाला जाय तब तक करुणा का नाम लेना आत्मवंचना और प्रवंचना है। ऐसे ही आचरण को दम्भ कहते हैं।

रन्तिदेव ने कहा था :

कामये दुःखतप्तानां, प्राणिनामार्तिनाशनम्।

मैं यह चाहता हूं कि संसार में जो भी दुःखी प्राणी हैं उनके कष्ट को दूर कर सकूं। उनकी यह भावना सच्ची थी क्योंकि इस बात को कहने के थोड़ी ही देर पहले वह दूसरों के लिए प्राणोत्सर्ग कर चुका था। ऐसा कहा जाता है कि देवगण भी करुणा से प्रेरित होकर ही विश्व का संचालन करते हैं। बहुत ऊंचे तपस्वी और योगी ही इन्द्रादि आजान देवों के पद को ग्रहण करते हैं। वह इतर जीवों पर दया करके ही समाधि सुख का सुख नहीं भोगते। हाथ पकड़ कर उसी पथ पर जीवों को आगे बढ़ाते हैं, जैसे बड़ा भाई छोटे भाई को। बौद्ध विद्वान् ऐसा मानते हैं कि जो कोई प्राणी समाधि के उच्चतम स्तर तक पहुंच जाता है तो यह उसकी इच्छा पर है कि निर्वाण में प्रवेश कर जाय। परन्तु कुछ महापुरुष जीवों पर दया करके ऐसा नहीं करते, वरन् एक शरीर और धारण करते हैं और मानव शरीर के जो सुख दुःख हैं उनको एक बार और झेलते हैं। ऐसे महापुरुषों को बोधिसत्त्व कहते हैं। यह लोग अपनी इच्छा से ग्रहण किये हुए शरीर में बुद्ध कहलाते हैं।

मुदिता को भी सक्रिय होना चाहिए। लोग पुण्य करें इतना सोचना मात्र पर्याप्त नहीं है। संसार में पुण्य के विचारों को फैलाना भी आवश्यक है। इसी भावना से प्रेरित होकर साधु महात्मा धर्म का प्रवचन करते हैं। अच्छे लोग जानते हैं कि मनुष्य सामान्यतः प्रलोभनों को देखकर फिसल पड़ता है। उसको पदे पदे सम्भालना पड़ता है।

अन्त में उपेक्षा का नाम आया है। इसके सम्बन्ध में स्यात् सबसे अधिक भूल हुई है। उपेक्षा का अर्थ हुआ उदासीनता। जो अपुण्य करने वाले हैं अर्थात् जो पाप में रत हैं, जो दुश्चरित्र हैं, उनके कामों की ओर से आंख बन्द कर लेना।

मेरा ऐसा दृढ़विश्वास है कि धर्मशास्त्र के आचार्यों ने कहा है कि दुष्कर्म केवल कृत ही नहीं प्रत्युत कारित और अनुमोदित भी होता है। बुरा काम बुरा है चाहे उसे मैं स्वयं करूं चाहे किसी दूसरे से कराऊं और चाहे उसको होते देखकर चुप रह जाऊं। जो मनुष्य किसी धर्मस्थान को नष्ट होते चुपचाप देखता रहता है, किसी स्त्री के अपमान को रोकने का प्रयत्न नहीं करता, किसी दुष्ट राजा के प्रजापीड़न के कामों की ओर से उदासीन हो जाता है, वह कदापि योग का अधिकारी नहीं हो सकता। अपने चित्त में वह चाहे अपुण्य को बुरा समझे, पर जो अपुण्य को बुरा समझता है उसको उसे दूर करने का प्रयास भी करना चाहिए, चाहे इस प्रयास का जो कुछ भी मूल्य देना पड़े।

उपेक्षा शब्द कहने का यह अर्थ नहीं है कि सच और झूठ, न्याय और अन्याय, दोनों में समबुद्धि रखना आवश्यक है। यह शब्द तो एक विशेष अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। किसी ने कहा है कि हमको पाप से द्वेष होना चाहिए परन्तु पापी से प्रेम। उपेक्षा शब्द के भीतर यही उपदेश निहित है। कुमार्गगामी का विरोध करना ही होगा, परन्तु विरोध करने में उससे द्वेष-भाव न होना चाहिए। भाव यह होना चाहिए कि संसार का कल्याण हो और इसके साथ ही उसका भी सुधार हो।

इन चारों उपदेशों के द्वारा पतंजलि ने योगाभ्यासी के लिए पूरी आचारसंहिता बना दी है। इनके पालन करने वाले को निश्चय ही चित्त प्रसाद प्राप्त होगा और उसका चित्त सहज ही एकाग्रता की ओर झुकेगा।

अध्याय १०

वैराग्य

वैराग्य के सम्बन्ध में पतंजलि ने कहा है :

दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम्। (१,१५)

दृष्ट और आनुश्रविक विषयों के प्रति वितृष्णा की वशीकार भावना को वैराग्य कहते हैं। वैराग्य का अर्थ है राग अर्थात् आसक्ति, खिंचाव का अभाव। इसके चार भेद हैं या यों कहना चाहिए कि चार स्तर हैं। सबसे नीचे के स्तर का नाम यतमान है। उसके ऊपर क्रमशः व्यतिरेक, एकेन्द्रिय और वशीकार आते हैं।

यतमान का अर्थ ही है यत्न करता हुआ। इन्द्रियों के विषयों में जो दोष हैं उनके ऊपर बराबर चिन्तन करके इन्द्रियों को तथा चित्त को उनकी ओर से हटाने के प्रयत्न को यतमान कहते हैं। यह यतमान जब आगे बढ़कर सफलता प्राप्त करता है तो उसको व्यतिरेक कहते हैं और इसी का विकसित रूप एकेन्द्रिय है। जब देखने में चित्त विषयों से हट गया हो, इन्द्रियां खींचकर विषयों की प्राप्ति की ओर प्रवृत्त करने में असमर्थ देख पड़ें परन्तु फिर भी भीतर में झुकाव बना हो और विषयों के सान्निध्य में स्खलित हो जाने की सम्भावना वर्तमान हो उसको एकेन्द्रिय कहते हैं। प्रयत्न की पूर्ण सफलता का नाम वशीकार है।

इस अवस्था को वशीकार नाम इसलिए दिया गया है कि यहां पहुंचकर साधक को स्वयं ऐसी प्रतीति होने लगती है कि यह विषय मुझे अपनी ओर खींच नहीं सकते, अब मैं यह खेल बहुत देख चुका। विषयों को दो विभागों में वर्गीकृत किया गया है: एक तो वह विषय जो दृश्य हैं अर्थात् जो इस लोक में इस शरीर से भोगे जा सकते हैं और दूसरे वह जो आनुश्रविक हैं, जो इस लोक में प्रायः नहीं देखे जाते परन्तु जिनके सम्बन्ध में अनुश्रुति से ज्ञान होता है। इस विभाग में देवलोक आदि में भोग्य आनन्द तथा योगजन्य सिद्धियों की गणना होती है। इन सब से जब पूर्ण रूप से वितृष्ण हो जाय तब वैराग्य पूर्ण होता है।

ऐसा कभी निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि आज वैराग्य पूरा हो गया।

ज्यों ज्यों अभ्यास में सफलता होती है त्यों त्यों वैराग्य पूर्ण होता है और ज्यों ज्यों वैराग्य दृढ़ होता है त्यों त्यों अभ्यास में सफलता प्राप्त होती है।

विषयों के प्रति मनुष्य में जो राग है वह अपने को अनेक रूपों में प्रकट करता है। प्रत्यक्ष रूपों को दवाना अपेक्षतया सुकर है। परन्तु केवल भोग का अभाव ही वैराग्य का प्रमाण नहीं है। हठात् अपने को भोगों से दूर रखा जा सकता है। परन्तु राग तो हृदय के भीतर होता है। उसका स्थान तो बुद्धि है। उसको वहां से निकालना बड़ा कठिन है और वह कई रूपों में अपने को व्यक्त करता है जिनका प्रायः दूसरों को पता भी नहीं चलता। एक रूप तो स्वप्न है। बहुत से ऐसे स्वप्न हैं जिनको वासना सूचक संज्ञा दी जा सकती है। जो वासनायें और लिप्सायें बुद्धि में कहीं दबी पड़ी रहती हैं, जिनका मनुष्य को कभी स्वयं पता भी नहीं होता, वह स्वप्न में प्रकट हो जाती हैं और उस अवस्था में मनुष्य ऐसे ऐसे काम कर बैठता है जिनको पीछे सोचकर उसको आश्चर्य होता है और अपने ऊपर ग्लानि होती है। कभी कभी चित्त की दुर्बलता पर-वंचना, दूसरों को धोखा देने, का साधन बन जाती है। परन्तु इसके पहिले आत्म वंचना होती है। व्यक्ति स्वयं अपने को धोखा दे लेता है। यह बात कुछ लोगों के व्यवहार पर ध्यान देने से देखी जा सकती है। उदाहरण के लिए, कोई कोई मनुष्य ऐसे होते हैं कि उन्हें धन की बड़ी चाह होती है परन्तु किसी कारण से धन की प्राप्ति नहीं हो सकती या किसी ऐसी स्थिति में हैं जिसमें धन का संग्रह नहीं कर सकते। इसके साथ अपने चित्त से धन का मोह निकाल नहीं सकते। प्रायः ऐसा देखा जाता है कि ऐसा मनुष्य बहुधा धन की निन्दा किया करता है। मैं धन की परवाह नहीं करता, लखपतियों, करोड़पतियों की परवाह नहीं करता, इस प्रकार के वाक्य उसके मुंह से निकलते रहते हैं और इसी बहाने लाख करोड़ का चर्चा होता रहता है। वस्तुतः यह वैराग्य नहीं है। निन्दा के रूप में धन की स्तुति हो रही है। इसी प्रकार कुछ लोग ऐसे मिलेंगे जो किन्हीं कारणों से गृहस्थ जैसा जीवन नहीं बिता सकते परन्तु जिनमें कामासक्ति प्रबल है उनके मुंह से और लेखनी से स्त्रियों की निन्दा निकला करती है। स्त्रियों की निन्दा करते हैं और निन्दा करने में स्त्रियों के शरीर के नखशिख का वर्णन कर जाते हैं। यह भी वैराग्य नहीं है,अपनी दुर्बलता का ज्ञापन है। यह इस बात का प्रमाण है कि स्त्री और स्त्री शरीर उनके निरन्तर विचार का विषय है। एक कवि की प्रसिद्ध रचना है :

संसार तव निस्तार, पदवी न दवीयसी ।
अन्तरा दुस्तरा न स्यु, यदि रे मदिरेक्षणाः॥

हे संसार, तुझको पार कर जाना कठिन बात न होती यदि बीच में बाधा डालने वाली मदिरा जैसी मस्त आंखों वाली स्त्रियां न होतीं।

ऐसी वात वही कवि कह सकता है जो निरन्तर स्त्रियों की वात सोचता रहता है। दूसरे सावकों को कभी ऐसी अनुभूति नहीं होती और फिर इस प्रश्न का क्या उत्तर होगा कि स्त्रियों के मार्ग में कौन वाधा डालता है ?

वैराग्य का वहुत वड़ा सावन यह है कि चित्त को इन्द्रियों के विषयों की ओर से हटाकर दूसरी वातों में लगाया जाय। ज्यों ज्यों चित्त निष्काम कर्मों में लगता है और योगाभ्यास के द्वारा ऊर्ध्व लोकों में चढ़ाया जाता है त्यों त्यों इन्द्रियविषयों की ओर से आपसे आप प्रवृत्ति हटती जाती है। उनमें रस नहीं रह जाता। उनके भोग में जिस आनन्द की प्राप्ति हो सकती है उससे कई गुना अविक आनन्द अभ्यास के द्वारा प्राप्त होता है।

यदि मनुष्य को इस वात का विश्वास हो जाय कि संसार में भोग के पीछे दौड़ना दुःख मोल लेना है तो स्वतः उसको उस ओर से विरक्ति हो जाय। इस सम्वन्ध में पतंजलि का निम्नलिखित वाक्य वहुत ही महत्त्वपूर्ण है :

परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च सर्वं दुःखमेव विवेकिनः। (२,१५)

परिणाम ताप और संस्कार दुःखों के कारण तथा गुण और वृत्ति के विरोध के कारण विवेकी पुरुष के लिए सव दुःख ही है।

इन्द्रियों के विषयों का उपभोग तो अच्छा लगता है। इसलिए मनुष्य उवर खिचकर जाता है। इस वात को भी भूल जाता है कि भोगों के पीछे पड़ने में वह अपनी मानवोचित मर्यादा को छोड़कर पशुओं की कोटि में गिरता है। परन्तु जहां विषयों के उपभोग में सुख मिलता है वहां उनके साथ अनेक दुःख भी लगे हुए हैं। पहला तो परिणाम दुःख है। भोग शरीर को क्षीण करता है और वुद्धि को नीचे स्तर के कामों में लगाकर उसको अच्छे कामों में लगने से रोकता है। जैस किसी कवि ने कहा है :

भोगा न भुक्ता वयमेव भुक्ताः ।

भोग तो नहीं भोगे गये हम ही भोगे गये। भोग शरीर और संकल्प को दुर्वल वनाकर छोड़ जाता है। इतना ही नही, कभी कभी भोग के पीछे वहुत से शत्रु वन जाते हैं। भोग तो आया और गया परन्तु यह परिणाम यावत् जीवन रहता है। कभी कभी भोग काल में ही भीतर भीतर कोई चिन्ता सताती रहती है। भोग के पीछे पश्चात्ताप भी होता है। भोक्ता के चित्त पर कभी कभी स्थायी संस्कार पड़ जाते हैं और फिर मनुष्य का चित्त सदा एक सा नहीं रहता। कभी सत्त्वगुण, कभी

रजोगुण और कभी तमोगुण का उत्कर्ष होता है। यों तो तीनों गुण सदा एक साथ रहने वाले हैं परन्तु सब के सब एक साथ और एक ही समय में प्रायः कम ही उद्दीप्त होते हैं। कोई गुण प्रसुप्त, सोया सा, देख पड़ता है। कभी जागा तो बहुत हल्के रूप में। यदि उसकी तीव्रता बढ़ी तब भी ऐसा हो सकता है कि उसके और साथ साथ और गुण भी उस समय रहें। और कभी वह अन्य सब गुणों को दबाकर चित्त पर छा जाता है। गुणों की इन चार अवस्थाओं को प्रसुप्त, तनु, विच्छिन्न और उदार कहते हैं। जो गुण एक समय में उदार है दूसरे समय में प्रसुप्त हो सकता है। ऐसी अवस्था में चित्त की वृत्ति सदैव एक सी नहीं रह सकती। फलतः जो वस्तु एक समय आकर्षक लगेगी वही दूसरे समय बुरी लगने लगेगी। अच्छी अच्छी भोग सामग्री से भी चित्त उचट जाता है। इसी को गुण वृत्ति विरोध कहते हैं। बहुत परिश्रम करके संग्रह किये हुए भोग से भी चित्त खिन्न हो सकता है। इन सब बातों को यदि ध्यान में रखा जाय तो किसी भी भोग में सुख की अपेक्षा दुःख की मात्रा कहीं अधिक होगी। इसीलिए कहा है कि विवेकशील पुरुष के लिए सब कुछ दुःखमय है। सब लोगों को विषयों में दुःख की अनुभूति क्यों नहीं होती, इसके सम्बन्ध में भाष्यकार व्यास ने एक बड़ा सुन्दर उदाहरण दिया है। मकड़ी का जाला बड़ा नरम होता है। वह शरीर में कहीं भी स्पर्श कराया जाय तो पता भी न लगेगा। परन्तु यदि आंख की पुतली से छू जाय तो उसके रुक्षपन का पता लग जायगा और वह गड़ने लगेगी। निर्मल आंख के परदे के लिए मकड़ी का सूक्ष्म जाला भी रुक्ष होता है। इसी प्रकार विवेकशील मनुष्य को वह बातें भी दुःखमय प्रतीत होती हैं जो दूसरे मनुष्यों के लिए सुखमय हैं। सुख के सम्बन्ध में किसी ने कहा है :

स्कंधात् स्कंधं नयन् भारम्
विश्रामं मन्यते यथा।
दुःखाद् दुखान्तरम् तद्वत्,
सुखं मत्वाऽनुभूयते ॥

किसी मनुष्य पर बहुत बोझ लदा हो तो जैसे उसे एक कन्धे से दूसरे कन्धे पर रख लेने से उसको विश्राम की अनुभूति होता है यद्यपि बोझ में कोई कमी नहीं होती इसी प्रकार एक दुःख से दूसरे दुःख पर जाने में सुख की अनुभूति होती है। पूर्ववर्ती दुःख के स्थान पर परवर्ती दुःख सुख जैसा लगता है।

यद्यपि यह सर्वथा सत्य है कि :

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव, भूय एवाभिवर्धते ॥

आग में चाहे हवन की कितनी भी सामग्री डाली जाय आग की तृप्ति नहीं होती वह और उद्दीप्त हो जाती है, उसी प्रकार भोग जितने भी भोगे जायं भोगेच्छा की तृप्ति नहीं होती। वह और बढ़ती ही जाती है।

परन्तु कभी कभी ऐसा भी होता है कि किसी छोटी सी बात के पीछे चित्त से लड़ने के स्थान में इच्छा की पूर्ति कर देना अधिक लाभदायक होता है। शिष्य को गुरु मुख से ही इस बात का ज्ञान होगा कि किन वस्तुओं में भोगेच्छा को तृप्त होने देना वैध है।

अध्याय ११

योग के अंग—यम

योगशास्त्र के आचार्यों ने भी आयुर्वेद की प्रणाली को अपनाया है। वैद्यक ग्रन्थों में रोग के सम्बन्ध में चार बातों को जानना आवश्यक माना है। पहली बात तो रोग है। रोग के लक्षणों का ज्ञान होना चाहिए। यदि कोई व्यक्ति अपने में रोग का लक्षण पाता ही नहीं तो फिर उसके उपचार का नाम लेना व्यर्थ है। इसके बाद दूसरी बात है रोग के कारणों का निदान। जब तक रोग के गुप्त से गुप्त कारणों की जानकारी न प्राप्त कर ली जाय तब तक उसका उपचार नहीं हो सकता। तीसरी बात है रोग से मुक्ति का स्वरूप। यह जान लेना परमावश्यक है कि रोग से छुटकारा पाने पर उस व्यक्ति की क्या अवस्था होगी जो अब तक रोगी था। और फिर अन्तिम बात यह है कि रोग को दूर करने का साधन क्या है, योग का यह चतुर्व्यूह है। योग के आचार्यों का यह कहना है कि इसी प्रकार की चार बातें उस शास्त्र के सम्बन्ध में भी ज्ञातव्य हैं जिनको वह हेय, हेयहेतु, हान अर्थात् हेयनाश और हानोपाय अर्थात् हेयनाश साधन कहते हैं। जो मुमुक्षु है वह इस बात को समझता है कि बारंबार जन्म लेना और मरना और प्रत्येक शरीर में प्रायः एक ही प्रकार से जीवन बिताना, अशक्त, छोटा और इस जगत् के रहस्यों से अनभिज्ञ होना, यह सबसे बड़ा हेय है। इसको ही दूर करना है। इस हेय के तात्कालिक कारण तो अनेक हो सकते हैं परन्तु उन सब कारणों का मूल अविद्या है। अविद्या के कारण वह अपने को जीव तथा ब्रह्म से भिन्न पदार्थ समझता है। हेय का यही प्रधान हेतु है। इस हेतु रूपी अविद्या के दूर होने पर आत्मसाक्षात्कार हो जाता है अर्थात् द्रष्टा अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है। यही हेय हान है और इस हेय हान का प्रधान, प्रधान ही क्या, एकमात्र साधन वह ज्ञान है जो योग के द्वारा उत्पन्न होता है। इसीलिए वह योग की ओर प्रवृत्त होता है।

युक्त व्यवहार

यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि गुरु के सत्संग से अनेक बातों का ज्ञान अनायास ही हो जाता है। उनके मुख से यदाकदा निकली हुई बात भी आदेश का

काम करती है। उदाहरण के लिए, खाने पीने के सम्बन्ध में कई ऐसी बातें हैं जिन पर योगी को ध्यान रखना पड़ता है। सत्संग में बैठने वाले को उनका ज्ञान सहज में ही हो जाता है। इन नियमों को श्रीकृष्ण ने गीता में भी खोलकर बतलाया है। एक ओर तो उन्होंने यह कहा है कि जो सात्त्विक आहार है उसे ही खाना चाहिए :

आयुःसत्त्वबलारोग्य, सुखप्रीति विवर्धनाः ।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या, आहाराः सात्त्विकप्रियाः ॥

और दूसरी ओर यह भी कहा है कि राजसिक और तामसिक भोजन नहीं करना चाहिए। उनके लक्षण यों बतलाये हैं :

कट्वम्ललवणात्युष्ण, तीक्ष्णरूक्षविदाहिनः ।
आहारा राजसस्येष्टा, दुःखशोकामयप्रदाः ॥
यातयामं गतरसं, पूति पर्युषितं च यत् ।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं, भोजनं तामसप्रियम् ॥

थोड़े में, ऐसा भोजन करना चाहिए जो आयु, बुद्धि, आरोग्य को बढ़ाने वाला हो। घी और दूध से युक्त हो, खाने में सुस्वाद हो और इसके साथ ही, मांस, मदिरा, या अन्य मादक वस्तु, कड़ुवा, खट्टा, बहुत नमकीन, तीखा, रूखा, बासी, जूठा, तीता, ऐसे भोजनों से दूर रहना चाहिए। परन्तु एक बात सदैव ध्यान में रखने की है : आचार को अतिआचार बनाने से कोई लाभ नहीं। इस देश में ऐसे भी लोग हैं जो मांस खाते हैं लेकिन प्याज़ या लहसुन जैसी चीज़ नहीं छूते। प्याज़ या लहसुन उत्तेजक वस्तुयें हैं। उनका सेवन सामान्यतः नहीं करना चाहिए परन्तु यह मांस से बुरी नहीं हो सकतीं। इन सब बातों के सम्बन्ध में श्रीकृष्ण का बतलाया हुआ यह नियम बहुत उपयोगी है :

युक्ताहारविहारस्य, युक्त चेष्टस्य कर्मसु ।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥

जो मनुष्य आहार और विहार में युक्त है, श्रम करने न करने में युक्त है, सोने और जागने में युक्त है, उसके दुःखों को योग नाश कर देता है। युक्त से उनका तात्पर्य ऐसे व्यक्ति से है जो अति नहीं करता वरन् मध्यम मार्ग का सेवन करता है।

संगीत का महत्त्व

एक परामर्श मैं अपनी ओर से देना चाहता हूं। यह सम्भवतः योग की अन्य पुस्तकों में इस रूप में न मिलेगा। मेरा ऐसा विश्वास है कि प्रायः सभी योगाभ्यासी साधु महात्मा संगीत के प्रेमी होते हैं। उनके सत्संग में किसी न किसी रूप में शास्त्रीय संगीत का चर्चा अवश्य होता है और उनके दरबार में बैठने वाला व्यक्ति यदि पहले से संगीत का प्रेमी न भी रहा हो तो उसको क्रमशः संगीत में रस आने लगता है। कम से कम मेरा ऐसा विश्वास है कि आध्यात्मिक जीवन में अच्छे संगीत से बड़ी सहायता मिलती है। याज्ञवल्क्य स्मृति के ये शब्द मेरी समझ में सत्य को व्यक्त करते हैं :

वीणावादनतत्त्वज्ञः, श्रुतिजातिविशारदः।
तालज्ञश्चाप्रयासेन, मोक्षमार्गं नियच्छति॥

जो मनुष्य वीणा बजाने की विद्या जानता है, श्रुति और जाति का भेद पहिचानता है, और ताल के तत्त्व से परिचित है, वह बिना प्रयास के ही मोक्ष मार्ग को प्राप्त कर लेता है।

मंत्रों का जप

इस बीच में सम्भव है साधक को उसके गुरु ने चित्त शुद्धि के लिए किसी मंत्र के जप का अभ्यास कराया हो। मंत्र के जपसे चित्त में एकाग्रता लानेमें सहायता मिलती है। खेद की बात यह है कि लोक में मंत्रों के जप का रिवाज तो बहुत है परन्तु यह काम विधिपूर्वक नहीं होता। मंत्र अनेक प्रकार के होते हैं। विशेषतः वैदिक मंत्रों में तो केवल मंत्रों के व्याकरण और कोश द्वारा प्राप्त अर्थ से ही काम नहीं चलता। परन्तु शुद्ध उच्चारण का बहुत बड़ा महत्त्व है। ऐसा कहा जाता है कि मंत्र के उच्चारण में यदि वर्ण या स्वर का कोई दोष आ जाय तो वह मंत्र घातक हो जाता है। परन्तु आजकल जिस प्रकार मंत्र जप की दीक्षा दी जाती है उसमें तो इस बात का सर्वथा उल्लंघन होता है। यदि मंत्र का उपदेश देने वाला ही उच्चारण नहीं जानता तो शिष्य को क्या उपदेश देगा? जहां तक अर्थ की बात है उसकी ओर भी कोई ध्यान नहीं दिया जाता। गायत्री मंत्र स्पष्ट शब्दों में कहता है कि :

तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि।

(मैं देव सविता के उस श्रेष्ठ तेज का ध्यान करता हूं) परन्तु गायत्री जप करने वाले ध्यान नहीं किया करते। उनके लिए केवल संख्या प्रधान है। अमुक ने एक लाख

गायत्री का जप किया या दस लाख गायत्री का जप किया। यदि सचमुच ध्यान किया जाय तो इतनी बड़ी संख्या की आवश्यकता नहीं है। किसी सद्गुरु से दीक्षित व्यक्ति के लिए गायत्री या अन्य मंत्रों का जप योग की महत्त्वपूर्ण सीढ़ी है।

योग के आठ अंग

योग को अष्ठांग कहा करते हैं, इसलिए कि उसके आठ अंग माने जाते हैं : यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि।

यम और नियम का अभ्यास वह दृढ़ पीठिका है जिसके ऊपर योग का दुर्ग खड़ा किया जा सकता है। मैं जानता हूं कि बहुधा जिन गोष्ठियों में योग का चर्चा होता है उनमें यम और नियम के नाम कम ही लिये जाते हैं। परन्तु प्राचीन आचार्यों की सम्मति में इन दोनों अंगों का स्थान अनिवार्य है।

यम

पतंजलि ने पांच यम गिनाये हैं : अहिंसा, सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य। अहिंसा, सत्य और ब्रह्मचर्य के सम्बन्ध में बहुत बड़ा साहित्य भरा पड़ा है और साधारणतः इन शब्दों के अर्थ को लोग जानते हैं। पिछली अर्द्धशती में महात्मा गांधी ने उनके, विशेषतः सत्य और अहिंसा के सम्बन्ध में बहुत कुछ लिखा पढ़ा है। इसलिए इस विषय में बहुत विस्तार से लिखना अनावश्यक प्रतीत होता है। एक बात ध्यान में रखने की है। इन सद्गुणों का अभ्यास करते समय भी बुद्धि से काम लेना होता है। जो मनुष्य आंख बन्द करके लकीर का फकीर बनकर आचरण करता है वह ऐसे आचरण के फल से वंचित रह जाता है। मनु का एक श्लोक है :

सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात्, न ब्रूयात् सत्यमप्रियम्।
प्रियं च नानृतम् ब्रूयात्, एष धर्मः सनातनः॥

यह सनातन धर्म है कि सत्य बोले, परन्तु प्रिय सत्य बोले, अप्रिय सत्य न बोले और प्रिय होते हुए भी असत्य न बोले।

इस श्लोक के सम्बन्ध में लोगों के मन में बहुधा शंका उठा करती है और मेरे मन में भी शंका होती थी। प्रिय सत्य का क्या अर्थ है? अप्रिय सत्य क्यों न बोला जाय? परन्तु पीछे से यह बात समझ में आयी कि जो सत्य लोक में अहितकर है वह सत्य होते हुए भी वचनीय नहीं है। यदि मैंने किसी की किसी की निन्दा करते सुन लिया तो यह अच्छा नहीं है कि जिसकी निन्दा की गयी उसके सामने सब बातें दोहरा दूं। मैं तो अपनी समझ में सच बोलने के पुण्य का भागी बनूं और मेरे आचरण से चारों ओर कलह,

द्वेष और संघर्ष फैल जाय। मैंने प्रथम महायुद्ध के सम्बन्ध में एक घटना का वर्णन पढ़ा था। वैसा हुआ या नहीं, मैं नहीं जानता परन्तु वर्णन रोचक और शिक्षाप्रद था। फ्रांस के किसी गांव की दो स्त्रियों के लड़के लड़ाई में भर्ती हुए। उनमें से एक की माता बहुत रुग्णा हुई और उसकी दोनों आंखें चली गयीं। पर उसको बराबर यह आशा लगी हुई थी कि अब मेरा लड़का युद्ध से लौटता होगा। लड़का युद्ध में मारा गया परन्तु किसी ने उस वृद्धा को यह कुसमाचार देने का साहस नहीं किया। कुछ दिनों के बाद दूसरी स्त्री भी रुग्णा हुई। दोनों स्त्रियां अस्पताल के एक ही वार्ड में पास पास की चारपाइयों पर रखी गयीं। युद्ध बन्द हुआ और सिपाही छुट्टी लेकर घर लौटने लगे। जो वृद्धा अस्पताल में थी उसका लड़का भी आया। वार्ड के द्वार पर आते ही पैर की आहट सबसे पहले उस अन्धी स्त्री को लगी जिसका लड़का मर चुका था। वह बोल उठी, "आखिर मेरा लड़का आ गया। मैं जानती थी कि वह आने वाला है" और उसके चेहरे पर प्रसन्नता की आभा दौड़ गयी। सिपाही वार्ड के द्वार पर खड़ा हो गया। उसकी मां ने उसको देखा पर उससे उंगली से संकेत किया कि तुम इसके पास जाओ। लड़का भी समझ गया और वह उस अन्धी स्त्री के पास चला गया। उसने उसे गोद में ले लिया। उसका मुंह चूमने लगी और अपने लड़के के नाम से ही उसको पुकारने लगी। दो चार मिनट के भीतर उसका दुर्बल हृदय आनन्द के आघात को सह न सका और उसकी मृत्यु हो गयी। अब यह सोचने की बात है। यद्यपि सिपाही और उसकी माता ने असत्य आचरण किया परन्तु उस अन्धी वृद्धा के अन्तिम समय को उनके इस आचरण ने सुखमय बना दिया। उसको मरना तो था ही पर सुख से मरी। उनका ऐसा करना अच्छा था या बुरा इसके विषय में बहुत सा विवाद किया जा सकता है। परन्तु मैं समझता हूं कि मनु का आदेश ऐसे ही अवसर के लिए है और वह आदेश सत्य आचरण के विरुद्ध नहीं है। मेरी राय में इस स्थल पर मां और बेटे ने सर्वथा उचित व्यवहार किया।

महात्मा जी अहिंसा के परम पुजारी थे। परन्तु यह तो उन्होंने भी कहा कि कायर की अहिंसा से हिंसा अच्छी है। श्रीकृष्ण ने अर्जुन को अहिंसा में प्रवृत्त कराया था। यहां भी यही कहा जा सकता है कि हिंसा और अहिंसा का विवेचन परिस्थितियों पर तथा कर्त्ता के उद्देश्य पर निर्भर करता है। डाक्टर किसी के फोड़े पर शल्य क्रिया करना चाहता है और उस व्यक्ति की मृत्यु हो जाती है। फिर भी डाक्टर को कोई हिंसा के लिए दोषी नहीं ठहरा सकता। शास्त्रों ने यती और गृहस्थ दोनों के लिए ब्रह्मचर्य के पृथक्, पृथक् नियम बतलाये हैं। जो व्यक्ति योग में प्रवृत्त होना चाहता है उसको ब्रह्मचर्य का पालन केवल शरीर से ही नहीं प्रत्युत मनसा भी करना ही होगा।

अस्तेय का अर्थ है चोरी न करना। यह सुनने में बड़ी स्थूल सी बात लगती है। परन्तु इस प्रसंग में अस्तेय का अर्थ है दूसरे के धन को लेने की इच्छा न करना।

अपरिग्रह का अर्थ है धन का संग्रह न करना। जो व्यक्ति भिक्षा वृत्ति से शरीर का पालन करता है उसकी तो बात दूसरी है, परन्तु जो गृहस्थाश्रमी है उसको तो धन चाहिये ही। इस सम्बन्ध का जो समीचीन सिद्धान्त है वह कबीर के इस दोहे से स्पष्ट होता है :

साईं एता दीजिये, जामें कुटुम समाय।
मैं भी भूखा न रहूं, साधु न भूखा जाय॥

आचार के लिए यह जो शैली बतायी गई है वह गृही और सन्यासी दोनो ही के लिए समान रूप से लागू है।

याज्ञवल्क्य ने अपनी स्मृति में कहा है :

न्यायागतधनः सत्त्वज्ञाननिष्ठोऽतिथिप्रियः।
श्राद्धकृत् सत्यवादी च, गृहस्थोऽपि हि मुच्यते॥

अर्थात् न्याय से प्राप्त धन से जीवन को बिताने वाला, तत्त्वज्ञाननिष्ठ, अतिथियों की सेवा करने वाला, श्रद्धा कर्त्ता और सत्यवादी गृहस्थ भी मोक्ष को प्राप्त होता है।

योग के कुछ ग्रन्थों में पांच के स्थान पर दस यम बताये गये हैं। उदाहरण के लिए गोरक्ष ने कहा है :

अहिंसा सत्यमस्तेयं, ब्रह्मचर्यं दयार्जवम्।
क्षमा धृतिर्मिताहारः, शौचं चेति यमा दश॥

अर्थात् अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य, दया, आर्जव, क्षमा, धृति, मिताहार, शौच ये दस यम हैं।

यम शब्द का व्यवहार न करते हुए ऐसे ही प्रसंग में योगी याज्ञवल्क्य ने अपनी स्मृति में इन नौ बातों का चर्चा किया है :

अहिंसा सत्यमस्तेयं, शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
दानं दया दमः शान्तिः, सर्वेषां धर्म्मसाधनम्॥

अर्थात् अहिंसा, सत्य, अस्तेय, शौच, इन्द्रिय निग्रह, दान, दया, दम, चित्त की वृत्तियों का दमन करना और शान्ति सभी लोगों के लिए धर्म के साधन हैं।

यमों के सम्बन्ध में पतंजलि का यह स्पष्ट आदेश है :

जातिदेशकालसमयानवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम्। (२,३१)

यह यम जाति, देश, काल और समय से अनवच्छिन्न सार्वभौम महाव्रत हैं। कोई मनुष्य अपने मन में यह निश्चय करता है कि मैं ब्राह्मणों के साथ या भारतीयों के साथ तो अहिंसा का पालन करूंगा, अन्यत्र मेरे जो में जैसा आयेगा वैसा आचरण करूंगा, या कोई मछुवाहा यह तय कर लेता है कि मैं मछली को तो मारूंगा अन्य जीव को नहीं, तो इन दोनों अवस्थाओं में अहिंसा के नियम को जाति से अवच्छिन्न कर दिया गया। अतः यह सच्चे अर्थों में अहिंसा नहीं है। इसी प्रकार यह निश्चय करना कि मैं तीर्थ स्थान में जीव वध नहीं करूंगा या एकादशी के दिन या प्रदोष के समय या शिवरात्रि में असत्य नहीं बोलूंगा, सत्य और अहिंसा को देश तथा काल से अवच्छिन्न करना हुआ। यह भी उनका यथार्थ पालन नहीं है। आजकल व्यवहार में समय का प्रायः वही अर्थ हो गया है जो काल का है। परन्तु संस्कृत में समय का अर्थ है समझौता। दो व्यक्ति यदि किसी कागज पर व्यापार आदि के सम्बन्ध आपस के व्यवहारके लिए कुछ बातें निश्चय करते हैं तो उस कागज को समय पत्र कहा जाता है। बिना समय पत्र के लिखे भी समय हो सकता है। यदि कोई ऐसा निश्चय करता है कि जो मेरे साथ ईमानदारी से वर्ताव करेगा मैं भी उसके साथ वैसा ही आचरण करूंगा तो यह सत्य को समय से अवच्छिन्न करना हुआ। यह भी सत्य का समुचित पालन नहीं है। कहने का तात्पर्य यह है कि सत्य आदि पांच यमों का बिना किसी शर्त के हर अवस्था में पालन करना चाहिए। उनके लिए दो विशेषण और प्रयुक्त हुए हैं। एक तो सार्वभौम और दूसरा महाव्रत। सार्वभौम का अर्थ यह है कि उनका पालन किसी संम्प्रदाय, राष्ट्र या देश विशेष के लोगों के लिए नहीं है, प्रत्युत मनुष्य मात्र का कर्तव्य है। जो लोग ब्राह्मण आदि ऊंचे वर्णों के माने जाते हैं वह उनका पालन करें या उनका पालना करना विद्वानों के लिए ही अनिवार्य हो, ऐसा नहीं है। स्त्री पुरुष, ब्राह्मण और शुद्र, पंडित और अशिक्षित, यम सब के लिए हैं। तथा इसके साथ ही महाव्रत हैं। इसका तात्पर्य यह है कि चाहे और व्रत या नियम माने जायं या नहीं परन्तु इनका पालन करना अनिवार्य और सर्वोपरि है।

अध्याय १२

योग के अंग—नियम—भक्तियोग

यमों के बाद नियमों का स्थान आता है। कई दृष्टियों से नियमों का महत्त्व कम नहीं है परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि उनके सम्बन्ध में वह अनिवार्यता नहीं है जो यमों के लिए मानी गयी है। इसीलिए उनको यमों से कुछ हीन स्थान दिया गया है। पतंजलि ने नियमों की संख्या भी पांच बतायी है : शौच, सन्तोष, तप स्वाध्याय, और ईश्वर प्रणिधान। नाम से प्रथम चार शब्द तो प्रायः सब को परिचित हैं।

शौच

शौच का अर्थ स्वच्छता होता है। स्वच्छता अच्छी चीज़ है इसमें कोई सन्देह नहीं परन्तु इस विषय में अति आचार की भी बहुत सम्भावना है। शौच के नाम पर ऐसा आचरण किया जा सकता है जिसकी गणना दम्भ में हो सकती है, किसी पुराण में एक कथा है कि एक बार ब्रह्मा जी के पास यह शिकायत गई कि आजकल धर्म का आचरण इतना बढ़ गया है कि कोई दुराचार करता ही नहीं और यम लोक प्रायः खाली पड़ा हुआ है। वह थोड़ी देर ध्यान मग्न रहे। इसके बाद जब उन्होंने आंख खोली तो अपने सामने एक बालक को देखा ब्रह्मचारी के वेष और हाथ में कुश और जलपात्र लिए हुए। ब्रह्मा को बालक प्यारा लगा। उन्होंने उसे अपनी गोद में आकर बैठने को कहा। उसने मंत्र पढ़कर कुश से उनके शरीर पर जल छिड़कना आरम्भ किया। उन्होंने कहा यह क्या? उसने कहा आपका शरीर अपवित्र है उसको पवित्र करता हूं। ब्रह्मा जी ने कहा कि ठीक है आज से तुम्हारा नाम दम्भ हुआ। अब तुम्हारे सहारे यम लोक बहुत जल्दी भर जायगा। दम्भ से प्रेरित होकर शौच का आचरण करना पागलपन का नाटक है जिसके फलस्वरूप दूसरों के मन में द्वेष भाव और अपने मन में अभिमान का भाव उत्पन्न होता है। अतिशौची सब को अपनी अपेक्षा अपवित्र समझता है। जितना लाभ शौचाचार से होता है उससे अधिक हानि दुरभिमान से होती है।

सन्तोष

सन्तोष के सम्बन्ध में भी कुछ विशेष कहने की आवश्यकता नहीं है। परन्तु कभी कभी सन्तोष का आचरण भी अनाचार की कोटि तक पहुंच जाता है। इतना स्मरण रखना चाहिए कि सन्तोष का अर्थ जहां यदृच्छालाभ से परितोष करना है वहां उसका अर्थ आलसी की भांति बैठे रहना नहीं है। झूठे सन्तोष का आश्रय लेकर लोग न केवल मार्जन करने योग दुःखों और अपमानों को चुपचाप स्वयं सह लेते हैं वरन् सामर्थ्य होते हुए भी दूसरों की सहायता करने के लिए हाथ नहीं बढ़ाते। इसीलिए यह कुप्रसिद्धि हो गई है कि भारतीय दर्शन मनुष्य को आलसी बना देता है। सन्तोष और अनुत्साहपूर्ण आलस्य का अन्तर सत्संग और गम्भीर विचार से दूर होता है।

तप

मुख्यतः तो चित्त का निग्रह, कुप्रवृत्तियों का दमन तथा विषयों से परांगमुख होना तप है। परन्तु इसके साथ कुछ शारीरिक तप भी आवश्यक है। तप का नाम लेने वाले हमारे देश में बहुत हैं और इस नाम से शरीर को बहुत कष्ट भी दिया जाता है। परन्तु इसका बहुत सा अंश श्रीकृष्ण के शब्दों में, तामस है। लोग बर्फ में बैठने का अभ्यास करते हैं, नदियों के जल में घंटों खड़े रहते हैं, घंटों पंचाग्नि तापते हैं, महीनों तक केवल जल पीकर उपवास करते हैं। इन सब बातों से भी कुछ न कुछ लाभ होता होगा परन्तु जहां मानस तप योगी के लिए सर्वथा करणीय है वहां इस प्रकार का शारीरिक तप प्रायः वर्जित है। नाड़ियों का चर्चा आगे होगा। यहां इतना ही समझना पर्याप्त है कि योगाभ्यास में उनका बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है। इस प्रकार के आघातों से नाड़ियों की बहुत क्षति होती है परन्तु सर्दी, गर्मी, भूख, प्यास और नींद को सहन करने की शक्ति का संचय करना ही चाहिए। यह आवश्यकता है। ज्यों ज्यों अभ्यास में सफलता होती है शक्ति धीरे धीरे अपने आप बढ़ जाती है। फिर भी अपनी ओर से प्रयास करना ही है।

स्वाध्याय

अभ्यासी के लिए स्वाध्याय भी बहुत आवश्यक है। स्वाध्याय का अर्थ है वेद, दर्शन, ग्रन्थ, महात्माओं की रचनाओं को पढ़ना और उन पर विचार करना। वस्तुतः स्वाध्याय सत्संग का प्रकारान्तर है। इससे शंकाओं के उच्छेदन में सहायता मिलती है।

ईश्वरप्रणिधान

इस शब्द का अर्थ भाष्यकार के अनुसार है:

तस्मिन् परमगुरौ सर्वकर्म्मार्पणम्।

उस परम गुरु को सब कर्मों को अर्पण कर देना है। परन्तु इस सम्बन्ध में इतना ही कह देना आवश्यक नहीं है। पहली बात तो यह है कि ईश्वर की सत्ता स्वीकार की जाय और यह बात मानी जाय कि वह परम गुरु है तथा इस योग्य है कि सब कर्म उसको अर्पित किये जायं। जैसा कि हम देख आये हैं बौद्ध मतावलम्बी ईश्वर की सत्ता को स्वीकार नहीं करते परन्तु उनमें कई बहुत ख्यातनामा योगी हो गये हैं। ऐसी ही बातों को देखकर नियमों को वह अनिवार्यता नहीं दी गई है जो यमों को प्राप्त है।

ईश्वर

ईश्वर के सम्बन्ध में हम थोड़ा सा विचार पहले कर चुके हैं। योगदर्शन में पतंजलि ने तो उसको पुरुष विशेष माना है, ऐसा पुरुष जो और सब बातों में दूसरे सब पुरुषों से भिन्न है। वह अविद्या आदि क्लेशों के वशीभूत नहीं होता। इस कारण न उसका कर्मों से अवलेपन होता है न उस पर कर्म का कोई प्रभाव पड़ता है। मैंने वहीं दिखलाया था कि ऐसे पुरुष विशेष को मानने में कई कठिनाइयां पड़ती हैं। इस मान्यता में गौरव का बोझ भी है। यह पुरुष विशेष न तो किसी का कोई उपकार कर सकता है और न अपकार। इसके होने न होने का किसी पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। जहां दूसरों के लिए आदर्श होने की बात है तो ऐसा आदर्श तो कैवल्य प्राप्त पुरुष भी उपस्थित करते हैं। इसीलिए ईश्वर को असिद्ध ठहराते हुए कपिल ने कैवल्य प्राप्त पुरुषों के सम्बन्ध में कहा है :

ईदृशेश्वरसिद्धिः सिद्धा।

ऐसे ईश्वर का अस्तित्व सिद्ध है। उनकी दृष्टि में ईश्वर किसी व्यक्ति विशेष का नाम नहीं प्रत्युत कैवल्य प्राप्त पुरुषों के वर्ग का नाम है। वह पतंजलि से आगे बढ़कर ईश्वर वर्ग के पुरुषों के सम्बन्ध में कहते हैं :

स हि सर्ववित् सर्वकर्त्ता।

अर्थात् वह सर्वज्ञ है और सर्वकर्त्ता है। इस विषय में वह वेदान्त के आचार्यों के भी आगे जाते हैं। वेदान्त के आचार्य कहते हैं कि आत्मज्ञान प्राप्त करने के बाद मुक्त

पुरुष परमात्मा से हर बात में अभिन्न हो जाता है परन्तु उसकी शक्ति पर एक रुकावट है। वह सृष्टि आदि के अधिकार से वंचित रहता है अर्थात् उसको जगत् के उत्पादन और संहार की शक्ति नहीं होती। इसके पक्ष में कोई तर्क नहीं दिया जा सकता। या तो तादात्म्य की अनुभूति होती नहीं या फिर सभी शक्तियां प्राप्त होती हैं। सांख्य के आचार्यों ने कैवल्य प्राप्त पुरुष के लिए सर्वकर्त्ता शब्द का व्यवहार करके इस दोष का परिहार कर दिया है। उनका कहना यह है कि शक्ति होते हुए भी ऐसे पुरुष भिन्न भिन्न प्रकार की सृष्टियां नहीं करते। इसका कारण यह है कि इतने ऊंचे पहुंच जाने पर उनमें ऐसी प्रवृत्ति नहीं होती।

कुछ लोगों ने ईश्वर को आरम्भक माना है। वह स्वयं कुछ करता नहीं। परन्तु उसके सान्निध्य के कारण काम सहज ही हो जाया करते हैं। जिस सामग्री से जगत् का निर्माण हुआ है वह ईश्वर की ही भांति अनादि है और उसका कभी अन्त भी नहीं होगा। जीव भी अनादि है। अनादि काल से जीव कर्म करते आये हैं। उन कर्मों के भोग के लिए अनुकूल परिस्थिति चाहिए ही। थोड़ी देर के लिए भले ही महाप्रलय हो जाय और उसमें सब जीव एक प्रकार की सुषुप्ति में अपनी संज्ञा खो बैठें परन्तु इस प्रकार खो जाने से कर्मों का नाश तो होता नहीं। कर्मों के संस्कार फिर जागते हैं। क्योंकि कर्मों के फलों की प्राप्ति किये विना वह अतृप्त रहते हैं। ऐसी दशा में फल प्राप्ति के लिए उपयुक्त जगत् बनेगा ही। जैसा कि ऋग्वेद ने कहा है :

सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्।

इस जगत् के कर्त्ता ने सूर्य चन्द्र आदि को जीवों के अपूर्व अर्थात् कर्म फलों के समुच्चय के अनुसार बनाया। अब जब कि अपूर्व के अनुसार नये लोक को बनाना है तो फिर आरम्भक की क्या आवश्यकता है? यदि ऐसा माना जाय कि ईश्वर को इस बात का अधिकार है कि जगत् की रचना करे या न करे या रचना इस ढंग से करे कि जीवों को कर्म फल के भोगने में अड़चन पड़े तब तो उसकी सत्ता की कोई आवश्यकता प्रतीत होती। जब जगत् की रचना किन्हीं निश्चित नियमों के अनुसार होनी ही है तो फिर किसी ईश्वर की कल्पना करना गौरवमय है। इतना मानना पर्याप्त है कि जिस नियम के अनुसार जगत् की रचना की सामग्री अपने को जगत् रूप में संवार लेती है वही विधाता, वही रचना करने वाला, वही पालन करने वाला, वही संहार करने वाला है। इसीलिए मीमांसक कर्म सिद्धान्त के सिवाय किसी दूसरे ईश्वर की कल्पना करना अनावश्यक समझता है। न तो योग दर्शन का ईश्वर और न नैयायिक का ईश्वर ऐसा व्यक्तित्व रखता है कि उनके सम्बन्ध में यह कहा जाय कि वह कर्तु-

मकर्तुमन्यथाकर्तुं समर्थः है अर्थात् उसमें यह सामर्थ्य है कि चाहे करे, चाहे न करे, चाहे अन्यथा करे।

ईश्वर के सम्वन्व में एक विचार वह भी है जिसको तंत्र का चर्चा करते हुए संकेत किया गया है। केवल वेद वाह्य तंत्र ही नहीं वरन् कई वेदमूलक सम्प्रदाय भी मानते हैं कि यह जगत् परमात्मा से अभिन्न है और उसकी लीला है। इस सम्वन्व में यह वात मेरी समझ में नहीं आती कि परमात्मा में लीला की प्रवृत्ति क्यों होती है? लीला एक प्रकार का कर्म है। कर्म किसी अपूर्ति को दूर करने के लिए किया जाता है। ईश्वर को अपने में किसी अपूर्ति की अनुभूति हो रही थी जिसके कारण उसने जगत् रूप में अपना प्रसार और विस्तार किया? अपूर्ति की वात छोड़ भी दी जाय फिर भी जैसा कि कहा गया है :

प्रयोजनमनुद्दिश्य न मूढोऽपि प्रवर्तते ।

प्रयोजन के विना पागल भी काम में प्रवृत्त नहीं होता। आखिर ईश्वर का जगत् की रचना में क्या प्रयोजन था? लीला को प्रयोजन नहीं कहा जा सकता। यों तो छोटा वालक जो लीला में प्रवृत्त होता है उस समय उसका भी कोई न कोई प्रयोजन होता है, यद्यपि वड़े वय वालों को वह प्रयोजन हास्यास्पद प्रतीत होता है। हास्यास्पद होने का कारण यह है कि वच्चे का प्रयोजन उसकी अपरिपक्व वुद्धि का द्योतक प्रतीत होता है। क्या ईश्वरीय लीला के सम्वन्व में भी इस प्रकार की कोई वात कही जा सकती है? यदि नहीं तो यह निष्प्रयोजन लीला कैसी है?

मैंने चौथे अध्याय में जो थोड़ा सा दार्शनिक विवरण यह कह कर दिया था कि उसमें मुझको स्वारस्य है उसमें भी ईश्वर के सम्वन्व में कुछ कहा गया है। मैं समझता हूं कि पतंजलि के ईश्वर प्रणिधान के प्रसंग में ईश्वर का वही वर्णन उपयुक्त है। वह ईश्वर न तो पतंजलि का पुरुष विशेष है न नैयायिक का आरम्भक और न जगत् रूपी नाटक का सूत्रधार। वह ब्रह्म का सक्रिय रूप है, वह रूप जिसमें ब्रह्म को अपना ज्ञान होता है। यह विश्व ब्रह्म का विलास है। किसी भी अवस्था में ब्रह्म के सिवाय और कुछ नहीं है। परन्तु अज्ञान के कारण जगत् की प्रतीति होती है और यह जगत् असंख्य चेतन, अचेतन पदार्थों से परिपूर्ण है। इसी अज्ञान के कारण जीव अपने को परमात्मा से भिन्न समझता है। भेद की कल्पना कर सर्वव्यापी, सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान परमात्मा के विपरीत अपने को अल्पव्यापी, अल्पज्ञ और अल्पशक्तिमान समझता है। उसको ऐसा प्रतीत होता है यदि मैं तत्वतः परमात्मा से सर्वथा भिन्न नहीं भी हूं तो भी अधिक से अधिक वह अंशी है और मैं अंश हूं। वह नहीं सोचता कि परमात्मा के सिवाय और कुछ नहीं है। जव किसी और पदार्थ की

सत्ता ही नहीं है। तो परमात्मा का कोई विभाजक हो ही नहीं सकता। इसलिए उसके अंश कहही नहीं सकते। प्रत्येक जीव में, प्रत्येक अजीव पदार्थ में, पूर्ण परमात्मा विद्यमान है, प्रत्येक चेतन और जड़ प्रतीत होने वाला पदार्थ पूर्ण परमात्मा है। जैसा कि कहा गया है :

पूर्णमदः पूर्णमिदं, पूर्णात्पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय, पूर्णमेवावशिष्यते॥

वह परमात्मा पूर्ण है, यह जगत् भी पूर्ण है, पूर्ण में से पूर्ण निकला है। पूर्ण में से पूर्ण निकलने के बाद जो बचता है वह भी पूर्ण है।

फिर भी अज्ञान के कारण जीव अपने को अंश और ईश्वर को अंशी समझता है। अपने को टुकड़ा और उसको पूरा समझता है। यह सम्बन्ध हनुमान के उस श्लोक में अच्छा व्यक्त किया गया है जिसे कहते हैं कि उन्होंने रामचन्द्र के सामने एक बार निवेदन किया था :

देहदृष्ट्या तु दासोऽस्मि, जीवदृष्ट्या त्वदंशकः।
तत्त्वदृष्ट्या त्वमेवाहम्, इति मे निश्चया मतिः॥

यह मेरी निश्चित मति है कि शरीरधारी होने के नाते तो आप स्वामी हैं और मैं दास हूं। जीव होने के नाते आप अंशी हैं मैं अंश हूं। परन्तु जो वास्तविक बात है वह यह है कि जो आप हैं वही मैं हूं।

अस्तु, जीव बराबर अपने वास्तविक रूप में स्थित होने के लिए प्रयत्नशील रहता है और जब अपने पुण्य संस्कारों के उदय होने से वह मोक्ष की ओर अभिमुख होता है तो परमात्मा के दर्शन की लिप्सा और बढ़ जाती है। ईश्वर के दर्शन का अर्थ हुआ आत्मसाक्षात्कार का न होना। अभी आत्मा और परमात्मा के अभेद का प्रत्यक्ष अनुभव नहीं हुआ है, इसलिए यह तीव्र इच्छा इसी रूप में प्रकट होती है कि परमात्मा का दर्शन करना है। यह परमात्म दर्शन आध्यात्मिक उन्नति के पथ पर बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है। जैसा कि श्वेताश्वतर उपनिषद् में कहा है :

यदा चर्मवदाकाशम्, वेष्टयिष्यन्ति मानवाः।
तदा देवमविज्ञाय, दुःखस्यान्तो भविष्यति॥

जिस दिन मनुष्य लोग आसन के चमड़े की भांति आकाश को लपेट लेंगे उस दिन बिना ईश्वर को जाने दुःख का अन्त होगा अर्थात् जिस प्रकार आकाश को लपेटना असम्भव है, उसी प्रकार ईश्वर को जाने बिना मोक्ष पाना असम्भव है।

ईश्वर को प्राप्ति की उत्कट इच्छा का ही नाम भक्ति है। शाण्डिल्य ने भक्ति की परिभाषा में कहा है :-

सा परानुरक्तिरीश्वरे ।

ईश्वर के प्रति पर-अनुराग को भक्ति कहते हैं। पर—अनुराग अनन्यसाधारण होता है अर्थात् उसके समान कोई दूसरा अनुराग नहीं होता। फिर भी यदि उसको कोई उपमा मिलती है तो तादात्म्य प्रेम में मिलती है। इसीलिए जिन लोगों ने ईश्वर के प्रति अनुराग के वर्णन का प्रयत्न किया है उन्होंने उन्हीं अलंकारों और उपमाओं से काम लिया है जो पुरुष और स्त्री के प्रेम के वर्णनों के लिए उपयोग में आते हैं।

जो लोग सगुण उपासक हैं, राम, कृष्ण या किसी अन्य मूर्ति की पूजा करते हैं, वह भी ऐसी ही भाषा से काम लेते हैं। सच बात तो यह है कि लौकिक व्यवहार में प्रायः उन्हीं लोगों की भक्त संज्ञा है। यदि हमारे देश के मुख्य भक्तों के नाम की सूची बनानी हो तो इस सम्बन्ध में तुलसी, सूर, मीरा, चैतन्य, तुकाराम, नामदेव, नरसी, जैसे लोगों के ही नाम लिये जायंगे। परन्तु जब योगाभ्यासी की ईश्वर साक्षात्कार की लगन तीव्र हो जाती है तो उसके मुंह से भी इसी प्रकार के शब्द निकलने लगते हैं। ऊपरी मुद्रा भी वैसी ही हो जाती है जैसी कि सगुण उपासकों की हो जाती है और वह भी उन्मत्त सा हो जाता है। कभी हंसता है कभी रोता है। दुनिया की दृष्टि हैंमें पागलों जैसा आचरण करता है। जैसा कि वृत्तियों का वर्णन करते हुए कहा गया है, वह क्लिष्ट या अक्लिष्ट होती है। उन वृत्तियों के साथ जो गुण उदात्त रूप से प्रकट होते हैं उनके प्रभाव से वृत्तियों के अनुभूति काल में राग या द्वेष, सुख या दुःख की अनुभूति होती है। जब चित्त ईश्वराभिमुख होता है तो रजोगुण और तमोगुण बहुत कुछ सत्त्वगुण से अभिभूत हो जाते हैं। इसलिए जब वृत्ति उठती है उस समय दुःख और द्वेष की अनुभूति प्रायः नहीं होती। चित्त से प्रायः विषाद हट जाता है और उसकी जगह प्रसाद छाया रहता है। ईश्वर के विरह की अवस्था में भी साधक के उत्तप्त हृदय में एक प्रकार के आनन्द का निवास रहता है।

जब ईश्वर के मिलने की भावना तीव्र हो जाती है तब फिर चित्त सहज ही एक प्रकार से ईश्वरमय हो जाता है। जैसा कि श्रीकृष्ण ने कहा है :

मन्मना भव मद्भक्तो, मद्याजी मां नमस्कुरु।

अपना मन मुझको दे दो। तुम्हारे मन में केवल मैं रहूं, केवल मेरा निवास हो, केवल मेरा चिन्तन हो। कबीर के शब्दों में :

जब मैं था तब हरि नहीं, अब हरि हैं मैं नाहिं।
प्रेमगली अति सांकरी, यामें दो न समाहिं ॥

ऐसी अवस्था में उसका सारा काम स्वतः ईश्वरार्पण हो जाता है। जैसा कि किसी शिव भक्त ने कहा :

आत्मा त्वम्, गिरिजा मतिः, सहचराः प्राणाः, शरीरं गृहम्
पूजा ते विषयोपभोगरचना, निद्रा समाधिस्थितिः।
संचारः पदयोः प्रदक्षिणविधिः स्तोत्राणि सर्वा गिरो
यद् यत् कर्म करोमि तत्तदखिलं शम्भो तवाराधनम् ॥

अर्थात् हे शम्भो, मेरी आत्मा आप हैं, मेरी बुद्धि गिरिजा हैं, मेरे प्राण आपके गण हैं, मेरा शरीर आपका मन्दिर है। जो कुछ विषय भोग करता हूं वह आपकी पूजा है। जब सोता हूं वही मेरी समाधि है। जब चलता हूं वही प्रदक्षिणा है। मुंह से जो कुछ बोलता हूं वही स्तोत्र पाठ है। जो कुछ कर्म करता हूं वह सब आपकी आराधना है।

इसी बात को उपदेश के रूप में श्रीकृष्ण ने भगवद्गीता में कहा है :

यत्करोषि यदश्नासि, यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय, तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥

हे अर्जुन, तुम जो कुछ भी करते हो, जो कुछ भी विषयों को भोगते हो, जो यज्ञ करते हो, जो दान करते हो, जो तप करते हो वह सब मुझको अर्पण कर दो।

जिस मनुष्य को इस बात का दृढ़ विश्वास हो जाय कि ईश्वर मेरे सब कर्मों का साक्षी है, मैं जो कुछ कर रहा हूं वह सब ईश्वर देखता है और जानता है, वह पहले तो कोई बुरा कर्म कर ही नहीं सकता। जहां किसी अपने से बड़े मनुष्य के देखते रहने का विश्वास होता है वहां बहुत से अभद्र काम नहीं किये जा सकते। ईश्वर की तो बात ही दूसरी है। फिर जिसको यह विश्वास है कि ईश्वर को मैंने अपने सारे कर्म अर्पित कर दिये, अच्छे हों या बुरे हों, ईश्वर मेरे सारे कर्मों का बोझ अपने ऊपर ले लेता है, उसके चित्त में अद्भुत् शान्ति होगी। वैदिक प्रार्थनाओं में जो सबसे प्रसिद्ध प्रार्थनायें हैं वह ऐसे ही शब्दों में हैं :

धियो यो नः प्रचोदयात्, स नो बुद्धया शुभया संयुनक्तु,
तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु, आ नो भद्राः क्रतवो यन्तु विश्वतः।

वह हमारी बुद्धियों को प्रेरित करे, वह हमको शुभ बुद्धि से युक्त करे, हमारे चित्त में शिव (कल्याणमय) संकल्प उठें, चारों ओर से हमको भद्र विचार प्राप्त हों। जिसको ऐसा विश्वास हो कि मेरी इस प्रकार की प्रार्थना को भगवान् ने स्वीकार कर लिया है वह धन्य है। उसे फिर अन्य किसी बात की चिन्ता न होनी चाहिए। ईश्वर जिसका प्रेरक हो, जिसके गुरु हों, उसे और किस उपास्य की अपेक्षा हो सकती है? ऐसी ही बुद्धि का नाम भक्ति है। यही ईश्वर प्रणिधान है और इसी आधार पर जीवन को चलाना भक्तियोग है।

स्वामी रामतीर्थ ने कहीं लिखा है कि उपासना करनेवाला पहले सोचता है तस्यैवाहम्। फिर जब उसकी बुद्धि परिष्कृत होती है तो वह कहता है तवैवाहम्। अन्त में उसका भाव हो जाता है त्वमेवाहम्। "तस्यैवाहम्" का अर्थ है "मैं उसका ही हूं"। यह उस अवस्था का द्योतक है जब उपासक अपने उपास्य से दूरी का अनुभव करता है। "तवैवाहम्" का अर्थ है "मैं तेरा ही हूं"। यह निकटता का, अपनेपन का, सूचक है। भक्त की यही भावना होती है। क्रमशः चित्त के शुद्ध होने पर जब भेदभाव मिट जाता है और अभेद की अनुभूति होती है उस अवस्था का परिचायक यह वाक्य है—"त्वमेवाहम्"—मैं तू ही हूं।

किसी ने एक महात्मा से पूछा कि आप तो ब्रह्मज्ञानी पुरुष हैं फिर ईश्वर के प्रति इतना आदर क्यों दिखलाते हैं, यह तो द्वैत बुद्धि का द्योतक है। उन्होंने उत्तर में यह श्लोक पढ़ दिया :

सत्यपि भेदापगमे, नाथ तवाहं, न मामकीनस्त्वम्।
सामुद्रो हि तरंगः, क्वचन समुद्रो न तारंगः॥

हे नाथ, भेद के दूर हो जाने पर मैं आपका ही हूं, आप मेरे नहीं हैं। यह कहते हैं कि यह लहर समुद्र की है, कोई यह नहीं कहता कि यह समुद्र लहरों का है। यह उत्तर विचारोत्तेजक है।

किसी भी प्रकार से चित्त एकाग्र किया जाय, एकाग्रता समाधि की ओर ले जाने के लिए निःसन्देह साधन होगी। उसका परिणाम निश्चय ही वह होगा जो समाधि से प्राप्त होता है। इसी प्रकार जब लोग ईश्वर की किसी सगुण विधि से उपासना करते हैं उनकी भी भक्ति निष्फल नहीं जाती। अपनी भावना के अनुसार उसको कोई स्त्री समझे या पुरुष, उसका कोई भी आकार मान कर चले, परन्तु फल तो चित्त की एकाग्रता से मिलता है और इस प्रकार सगुण साकार ईश्वर की भक्ति भी निर्गुण ईश्वर तक पहुंचाने का साधन बन जाती है।

जो व्यक्ति ईश्वर का अनन्य उपासक होता है उसको ऐसा प्रतीत होता है कि ईश्वर सर्वज्ञ सर्वदा मेरे साथ है। इससे वह न केवल बहुत सी बुराइयों से बच जाता है वरन् अपने में बड़ी शक्ति और आत्म विश्वास का अनुभव करता है। वह न केवल संसार के कष्टों को हंसते हंसते झेलने में समर्थ होता है वरन् लोकसंग्रह के भाव से संसार के दुखियों की सेवा का बहुत सा बोझ अपने ऊपर उठा लेता है, क्योंकि उसको इस बात का भरोसा रहता है कि मेरी सहायता करने को ईश्वर मेरे साथ है। अपने कर्मों में ईश्वरार्पण बुद्धि लाकर उनके संस्कारों से भी वह अपने को बचा लेता है क्योंकि जब वह अपने को ईश्वर चालित निमित्त मात्र मानता है तो उसमें वह अभिमान नहीं रहता जो उस व्यक्ति में होता है जो अपने को स्वतंत्र कर्त्ता मानता है।

कभी कभी जब मनुष्य बहुत आर्त होकर ईश्वर को पुकारता है तो उसको ऐसा प्रतीत होता है कि मेरी पुकार सुनी गयी। ऐसा भी होता है कि ऐसी दशा में विपत्ति टल जाती है। जब मनुष्य बहुत चिन्ता में पड़ जाता है और चारों ओर से निराश हो उठता है तो उसकी चित्तवृत्ति अन्तर्मुख हो जाती है, क्योंकि बाहर तो उसको कहीं कोई आश्रय नहीं मिलता। ऐसी दिशा में उस जीव और जीवसमष्टि के बीच के पर्दे थोड़ी देर के लिए हट जाते हैं, बूंद समुद्र में मिल जाती है। उस समय वह जीवात्मा विराट् के अनन्त शक्ति भंडार से काम ले सकता है। और इस प्रकार अपनी विपत्ति पर विजय पा जाता है। चित्त का बोझ हल्का होते ही फिर पार्थक्य ज्यों का त्यों आ जाता है।

बिना इस प्रकार के ईश्वर प्रणिधान बुद्धि के भी व्यक्ति को योग में सिद्धि हो सकती है इसमें कोई सन्देह नहीं। परन्तु भक्तियोग से सम्बन्वित योगी को निःसन्देह सुविधा होगी। उसका मार्ग सरल हो जाता है। इसलिए श्रीकृष्ण ने गीता में कहा है :

> **तपस्विभ्योऽधिको योगी, ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।**
> **कर्मिभ्यश्चाधिको योगी, तस्माद्योगी भवार्जुन॥**
> **योगिनामपि सर्वेषां, मद्गतेनान्तरात्मना।**
> **श्रद्धावान्भजते यो मां, स मे युक्ततमो मतः॥**

प्रयत्न से योग का अभ्यास करते हुए और चित्त के मलों को दूर करते हुए कई जन्मों में योगी सिद्धि को प्राप्त करता है और फिर मोक्षरूपी परम पद तक पहुंचता है। योगी, तपस्वियों, से ज्ञानियों से, कर्म करनेवालों से ऊंचा है। इसलिए हे अर्जुन, तुम योगी बनो। जो मुझे अन्तरात्मा में लगाकर श्रद्धा के साथ मेरा भजन करता है वह सब योगियों में मुझको प्रिय है और एक अन्य स्थान पर उन्होंने कहा है :

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ॥
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः।
उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम् ॥

हे अर्जुन, चार प्रकार के पुण्यात्मा मेरा भजन करते हैं—आर्त, (दुःखी), जिज्ञासु, अर्थार्थी, धन आदि सम्पत्ति के चाहने वाले और ज्ञानी। इन सब में ज्ञानी जो नित्य योग में लगा होता है और केवल मेरी भक्ति करता है वह सबसे बढ़कर है। यह सब उदार हैं इसमें सन्देह नहीं, पर ज्ञानी मुझको सबसे प्रिय है और ज्ञानी को मैं सबसे अधिक प्रिय हूं। ज्ञानी मेरी आत्मा है ऐसा मैं मानता हूं।

आजकल भक्तियोग को कुछ लोगों ने हास्यास्पद बना रखा है। वह केवल कुछ गाने बजाने का नाम मात्र रह गया है। ऊपरी आडम्बर रह गया है परन्तु आत्मा निकल गई है। भक्त मण्डली, मैत्री, करुणा, आदि से कोसों दूर रहती है। संसार के दुर्बल प्राणियों का त्राण करने का कष्ट उठाने को भक्तगण तैयार नहीं होते। ऐसे लोग अपने साथ अपने उपास्य की भी हंसी कराते हैं। भक्ति वस्तुतः योग का एक अंग है और इसलिए योग के अन्य अंगों की भांति वह भी साहस और दृढ़ता की अपेक्षा करती है। भक्त के लिए परमात्मा प्रेमस्वरूप है। प्रेम अनेकों को एक में बांधनेवाला सूत्र है। परमात्मा द्वैत से परे हैं। इसलिए वह प्रेमस्वरूप है। परन्तु इतना स्मरण रखना चाहिए कि वह ऋत और सत्यस्वरूप भी है। जगत् का संचालन जिन भौतिक और नैतिक नियमों के द्वारा हो रहा है वह सब परमात्मा के रूप हैं। नियमों में जहां मृदुता होती है वहां अवसर पड़ने पर कड़ाई भी होती है। भक्तों के हृदय जहां मृदूनि कुसुमादपि होते हैं वहां वज्रादपि कठोराणि भी हो सकते हैं। फूल से भी नरम और वज्र से भी कठोर।

अन्त में मैं कुछ महात्माओं की वाणियां से ऐसे अवतरण देता हूं जिनसे यह प्रकट होगा कि साधक तीव्र संवेग के आवेश में किस प्रकार रुदन करता है और उसकी भक्ति ईश्वर साक्षात्कार के लिए, उसकी आतुरता, अपने को शब्दों में किस प्रकार व्यक्त करती है :

प्रीति लगी तुम नाम की, पल बिसरै नाहीं।
नजर करो अब मिहर की, मोहिं मिलौ गुसाईं ।१।
बिरह सतावै मोहिं को, जिव तड़पै मेरा।
तुम देखन की चाव है, प्रभु मिलौ सवेरा।२।
नैना तरसै दरस को, पल पलक न लावै।
दर्दवंद दीदार का, निसि बासर जागै।३।

जो अब के प्रीतम मिलैं, करूं निमिख न न्यारा।
अब कबीर गुरु पाइयां, मिला प्रान पियारा।
(कबीर)

कहौं बुझाय दरद पिय तो से,
दरद मिटै तरवार तीर से,
किधों मिटै जब मिलहुं पीव से।१।
तन तलफै हिय कुछ न सुहाय,
तोहि बिन पिय मो से रहल न जाय।२।
धरमदास की अरज गुसाईं,
साहिब कबीर रहौं तुम छांही।
(धनी धर्मदास)

प्रभु जी तूं मेरे प्रान अधारे।
नमस्कार डंडौत बंदना, अनिक, अनिक बार जाऊं बलिहारे।
ऊठत बैठत सोवत जागत, इहु मन तुझे चितारे।
सूख दूख इस मन की बिरथा, तुझ ही आगे सारे।२।
तू मेरी ओट बल बुद्धि धन तुमहि, तुमहि मेरे परिवारे।
जो तुम करो सोई भल हमरे, पेख नानक सुख चरना रे।
(नानक)

अजहु न निकसे प्राण कठोर।
दरसन बिना बहुत दिन बीते, सुन्दर प्रीतम मोर।१।
चारिह पहर चारों जुग बीते, रैन गंवाई भोर।२।
अवधि गई अजहूं नहीं आये, कतहूं रहे चित चोर।३।
कबहूं नैन निरखि नहि देखे, मारग चितवत तोर।४॥
दादू ऐसे आतुर बिरहणी, जैसे चंद चकोर।५॥
(दादू दयाल)

अजहूं मिलो मेरे प्रान पियारे।
दीनदयाल कृपाल कृपानिधि
करहु छिमा अपराध हमारे।१।
कल न परत अति बिकल सकल तन,
नैन सकल जनु बहत पनारे।
मांस पचो अरु रक्त रहित में,
हाड़ दिनहुं दिन होत उघारे।२।

नासा नैन स्रवन रसना रस,
इन्द्री स्वाद जुआ जनु हारे।
दिवस दसो दिसि पंथ निहारत,
राति बिहात गनत जस तारे।३।
जो दुख सहत कहत न वनत मुख,
अंतरगत के हौ जाननहारे।
धरनी जिव झिलमिलित दीज्यों,
होत अंधार करो उंजियारे।
(धरनीदास जी)

सखि बांसुरी बजाय कहां गयो प्यरो ।
घर की गैल विसरि गइ मोहिं ते, अंग न वस्तु संभारो।
चलत पांव डगमगत धरनि पर, जैसे चलत मतवारो।१।
घर आंगन मोहिं नीक न लागै, सवद वान हिये मारो।
लागि लगन में मगन वही सों, लोक लाज कुल कानि विसारो।२।
सुरत दिखाय मोर मन लीन्ह्यों, मैं तो चहौं होय नहि न्यारो ।
जगजीवन छवि विसरत नाहीं, तुमसे कहों सो इहे पुकारो।३।
(जगजीवन साहिब)

मेरे तन लग गई पिय की मीठी बोल।
पिय की मीठी बोल सुनत मैं भई दिवानी।
भंवर गुफा के बीच उठत है सोहं वानी।
देखा पिय का रूप रूप में जाय समानी।
जब से भया मिलाप मिले पर ना अलगानी।
प्रीति पुरानी रही लिया हमने पहिचानी।
मिली जोति में जोति सुहागिन सुरति समानी।
पलटू सबद के सुनत ही घूंघट डारा खोल।
मेरे तन मन लग गई पिय की मीठी बोल।
(पलटू साहिब)

अभी तक मैंने पतंजलि के बतलाये हुए नियमों का चर्चा किया है। इतना बतला देना चाहिए कि अन्य विद्वान् नियमों की संख्या भिन्न बतलाते हैं। उदाहरण के लिए गोरक्ष दस नियमों का चर्चा करते हैं : तप, सन्तोष, अनासक्ति, दान, ईश्वर पूजन, सिद्धान्त, सर्वांग ह्री (लज्जा) मति, जप और हुति।

षडङ्ग योग

वह योग का चर्चा अष्टांग न कहकर षडंग कहते हैं। उनका कहना है कि यम और नियम मनुष्य मात्र के लिए हितकर हैं। योग में इनके प्रसंग में कोई विशेषता नहीं है, इसलिए योग के अंगों की गणना में इनको छोड़ देना चाहिए। अतः यह योग को षडंग (छः अंगोवाला) कहते हैं। परन्तु अधिकांश विद्वान् पतंजलि के वर्गीकरण का अनुसरण करते हैं। उनकी यह मान्यता है कि भले ही यम और नियम मनुष्य मात्र के लिए अनिवार्यतया मान्य हों परन्तु और कोई उनका पालन करे या न करे योगी को तो दृढ़ता के साथ उनका अनुसरण करना ही चाहिए। एक बात और भी है। यदि योगी यमों और नियमों से स्खलित हो गया तो योग के पथ पर उसकी समुचित उन्नति भी नहीं हो हकती। इसलिए इनको निश्चय ही योगांग मानना चाहिए। इस बात को स्वीकार करके योग को अष्टांग कह सकते हैं।

अध्याय १३

आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार

योग वस्तुतः एक है। वैदिक वाङ्मय में तथा बौद्ध साहित्य में बिना किसी विशेषण के अकेले योग शब्द का व्यवहार हुआ है और इसी परम्परा को पतंजलि ने भी निवाहा है। परन्तु आजकल कुछ विशेषणों का प्रयोग करके न्यूनाधिक स्वतंत्र योगशैलियों की कल्पना की जाती है। इनमें से कुछ के नाम बहुत प्रचलित हो गये हैं—राजयोग, हठयोग, कर्मयोग, भक्तियोग, ज्ञानयोग, ये नाम लोक में विशेष प्रसिद्धि पा गये हैं। पिछले तीन चार अध्यायों को देखने से यही विदित होता है कि कर्मयोग चित्तप्रसाद के अन्तर्गत आ जाता है। भक्तियोग का अन्तर्भाव ईश्वरप्रणिधान में होता है। ज्ञानयोग, स्वाध्याय और सत्संग में अन्तर्भूत है। इस अध्याय में यह दिखलाने का प्रयास किया जायगा कि आसन और प्राणायाम को ही नामान्तर से हठयोग कहते हैं। अब योग की तथोक्त शैलियों में केवल राजयोग अवशिष्ट रहा, जो आगामी अध्याय के विषय अर्थात् धारणा, ध्यान और समाधि से भिन्न है। इसका तात्पर्य यह है कि यह सब योग की स्वतंत्र शैलिया नहीं हैं। आध्यात्मिक उन्नति की विभिन्न सीढ़ियां हैं और सब एक दूसरे से सम्बद्ध हैं। हठयोगप्रदीपिका के रचयिता ने तो स्पष्ट शब्दों में लिख दिया है :

केवलं राजयोगाय हठयोग उपदिश्यते।

केवल राजयोग के लिए हठविद्या का उपदेश दिया जाता है। उसके टीकाकार ब्रह्मानन्द ने भी यही बात कही है :

हठविद्याया राजयोग एव मुख्यं फलम्।

हठविद्या का राजयोग ही मुख्य फल है और राजयोग के द्वारा कैवल्य प्राप्त होता है। इस विषय के विशदीकरण की आवश्यकता नहीं है। परन्तु विभिन्न योगों के नाम सुनकर किसी को मतिविभ्रम न हो इसलिए संक्षेप में इतना संकेत कर दिया गया है।

अब तक इसके पहले के अध्यायों में जिन विषयों का चर्चा हुआ है वह प्रायः सबके सब शास्त्रीय विमर्श और ऊहापोह की सामग्री हैं। उनके सम्बन्ध में उनके क्षेत्र में तर्क का बहुत बड़ा स्थान है। परन्तु इस अध्याय के साथ हम एक ऐसी भूमि में प्रवेश करने जा रहे हैं जिसमें तर्क के लिए प्रायः कोई स्थान नहीं है। यह वह क्षेत्र है जिसमें पदे पदे साधक के पांव डगमगाते हैं और ग्रन्थ रचयिता की लेखनी थर्राती है। यहां शास्त्रार्थ नहीं करना है। योग के व्यावहारिक अभ्यास करने की बात है। साधक के सामने वह कठिन मार्ग है जिसके विषय में कहा गया है :

क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत् कवयो वदन्ति।

जिसको सिद्ध पुरुष छुरे की तीखी धार के समान कठिन और दुर्गम बताते हैं, उस पर चलना बहुत ही दुष्कर है, और फिर इस पथ का जो गन्तव्य स्थान है वह ऐसा है :

यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह ।

जहां न वाणी की पहुंच है न बुद्धि की।

निश्चय ही साधक को गुरु से सहायता मिलेगी। कभी कभी शक्तिपात करके भी गुरु उसको सहारा देगा परन्तु प्रयास तो शिष्य को ही करना होगा। उसकी जगह गुरु यात्रा नहीं कर सकता। अपने ही उत्साह और संवेग के बल पर शिष्य को आगे बढ़ना होगा। इसके साथ ही जो व्यक्ति इन विषयों को पुस्तक रूप में गुम्फित करना चाहता है उसके सामने भी बड़ी कठिनाई है। यदि उसके ज्ञान का आधार केवल इतना ही है कि उसने कुछ पुस्तकों का अध्ययन कर लिया है या कुछ इधर उधर की बातें सुन ली हैं, तो वह स्वयं विषय से अनभिज्ञ होगा और उसका लिखना भ्रामक होगा। यदि उसको विषय में कुछ वास्तविक प्रवेश है तो कुछ लिख न सकेगा, क्योंकि मैं पहले कह चुका हूं कि तद्विषयक बातें गोप्य रखी जाती हैं। गोप्य रखने का कारण यह नहीं होता कि जो लोग उनको जानते हैं उनको छिपाने में कोई आनन्द आता है, या वह यह चाहते हैं कि हमारे सिवाय और कोई जानकार न हो। ऐसा करने का एक मात्र कारण यह है कि वह इस बात की रक्षा करना चाहते हैं कि विद्या असत्पात्र के पास न जाय। निरुक्त-कार ने इस सम्बन्ध में जो मंत्र दिया है वह सर्वथा ठीक है :

विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम गोपाय मा शेवधिष्टेऽहमस्मि ॥

विद्या ने ब्राह्मण के पास आकर कहा कि मेरी रक्षा करो, मैं तुम्हारी निधि हूं।

उसने रक्षा की मांग इसलिए की कि वह अनधिकारी के हाथ में न पड़ जाय। वह योग्य व्यक्ति के पास रहना चाहती है। वीर्यवती यथा स्याम्—ताकि मैं वीर्यवती रहूं। अनधिकारी के हाथ में जाकर विद्या का वीर्य, उसकी शक्ति नष्ट हो जाती है। यदि अनधिकारी को इस विद्या की दीक्षा दी गई तो यह निश्चय है कि वह थोड़े दिनों के बाद अभ्यास छोड़ देगा और दूसरे लोगों में भी अश्रद्धा उत्पन्न करेगा।

आसन

आसनानि तु तावन्ति, यावन्तो जीवजातयः।
भेदांस्तेषान्तु जानाति, एक एव महेश्वरः॥

जीवों की जितनी प्रकार की जातियां हैं उतने ही प्रकार के आसन हैं। उन सब के भेदों को तो केवल एक शंकर भगवान् जानते हैं। किसी प्रकार के प्राणी स्वभावतः जिस प्रकार बैठते हों उसे उनका आसन कहते हैं। न तो किसी को इस बात का ज्ञान है कि कितने प्रकार के जीव हैं, न किसी ने सब जीवों के आसनों को ध्यान से देखा है। जितने प्रकार के आसनों को लोगों ने देखा है उनके भी अनुकरण नहीं किये जा सकते। मनुष्य के शरीर की बनावट ऐसी नहीं है कि दूसरे जीवों का अनुकरण कर सके। वस्तुतः इसकी आवश्यकता भी नहीं है। परन्तु योग के अभ्यास में आसन का बहुत बड़ा महत्त्व है। उसके कारण के सम्बन्ध में आगे चलकर कुछ अधिक विस्तार से लिखूंगा। गोविन्द साहब नाम के एक महात्मा ने कहा है :

पहिले कसै आहार जाय फिर निद्रा साधै।
तब सद्गुरु की सरन बैठि पद्मासन बांधै।
ऐसी रहनी होय ताहि गोविन्द उपदेसै।
बिन बाती बिन तेल अगिन बिन दीया लेसै॥

आसनों का कुछ उपयोग तो योगाभ्यास में होता है। इसके सिवाय कुछ आसन ऐसे हैं जो शारीरिक स्वास्थ्य की रक्षा करते हैं और उनमें से कुछ तो किन्हीं विशेष रोगों को दूर करने में भी सहायक होते हैं। इस कारण से आजकल लोगों का ध्यान विशेष रूप से आसनों की ओर गया है और कुछ स्थानों में उनकी विशेष रूप से शिक्षा भी दी जाती है। इस सम्बन्ध में पूना के निकट स्वामी कुवलयानन्द के कैवल्यधाम में बहुत काम हुआ है। निश्चय ही किसी जानकार से दीक्षा लेकर आसनों का अभ्यास करने से बहुत शारीरिक लाभ हो सकता है। परन्तु यदि किसी ऐसे व्यक्ति से दीक्षा ली गई जो आसनों के प्रभाव को नहीं जानता या किसी पुस्तक को देखकर किसी आसन का

अभ्यास किया गया तो उसमें कई प्रकार की हानि भी हो सकती है। हिक्का, दमा, खांसी, क्षयरोग, पक्षाघात, मृगी और कई प्रकार के उन्मादों के उभर आने का डर है। इसलिए बहुत सोच समझकर आसनों का अभ्यास करना चाहिए। एक और बात है। आसन प्रायः किसी विशेष प्रकार से बैठने को कहते हैं। कई आसनों के साथ शरीर चालन की कई विधियां भी आजकल चल पड़ी हैं। स्कूलों में इस ढंग की कुछ शिक्षा दी जाने लगी है। अभी इस सम्बन्ध में पर्याप्त प्रयोग नहीं हुआ है। आसन कहां तक चल व्यायाम के रूप में प्रयुक्त हो सकते हैं यह विचारणीय विषय है।

यों तो आसन बहुत प्रकार के हैं। परन्तु साधारणतः योगाभ्यास के लिए उन सब की आवश्यकता नहीं है।

पतंजलि ने आसन की परिभाषा इस प्रकार की है :

स्थिरसुखमआसनम् ।२-४६

इस सूत्र के दो प्रकार से अर्थ लगाये जा सकते हैं। स्थिर और सुख इन दोनों शब्दों को यदि एक साथ लिया जाय तो वह आसन ठीक होगा जो स्थिर सुख देता है, जो देर तक सुख देता है, और यदि इन दोनों शब्दों को पृथक् पृथक् लिया जाय तो वह आसन ठीक होगा जिससे देर तक बैठा जा सकता है और सुख भी मिलता है। दोनों व्याख्याओं में अधिक नहीं परन्तु थोड़ा सा अन्तर है। ऐसे कई आसन हैं जो प्रायः इन दोनों व्याख्याओं के अनुरूप उतरते हैं। आचार्यों ने इनमें पद्मासन, सिद्धासन, स्वस्तिकासन और अर्द्धपद्मासन की विशेष प्रशस्ति की है। इन आसनों के वर्णन घेरंड-संहिता, हठयोगप्रदीपिका, शिवसंहिता और गोरक्षपद्धति जैसी पुस्तकों में मिलते हैं। इसलिए मेरे लिए इनका विस्तार से वर्णन करना अनावश्यक है। आजकल तो इनके छपे चित्र भी मिलते हैं।

आसन का चर्चा करते हुए कुछ आनुषंगिक विषयों का भी चर्चा कर देना आवश्यक प्रतीत होता है। किस जगह बैठकर अभ्यास किया जाय यह महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। इसके सम्बन्ध में घेरण्ड का इस प्रकार कहना है :

दूरदेशे तथाऽरण्ये, राजधान्यां तथान्तिके।
योगारम्भं न कुर्वीत, कृते च सिद्धिहा भवेत् ।३।
अविश्वासं दूरदेशे, अरण्ये रक्षिवर्जितम्।
लोकाकुले प्रकाशः स्यात्तस्मात् त्रीणि विवर्जयेत् ।४।
सुदेशे धार्मिके राज्ये सुभक्ष्ये निरुपद्रवे।
कुटीं तत्र विनिर्माय, प्राचीरैः परिवेष्टिताम् ।५।

वापीकूपतडागं च, प्राचीरमध्यवर्ति च।
नात्युच्चं नाति नीचं, कुटीरं कीटवर्जितम् ।६।।
सम्यग्गोमयलिप्तं च, कुटीरं तत्र निर्मितम्।
एवं स्थानेषु गुप्तेषु, प्राणायामं समस्यसेत् ।७।।

दूर देश में अविश्वास होता है, अरण्य में रक्षक नहीं हैं, जनसमूह में प्रकाश होने का भय होता है। अतः इन तीनों स्थानों का परित्याग करना चाहिए।

सुन्दर धार्मिक राज्य में, खाद्य पदार्थों की जहां सुलभता हो, ऐसे उपद्रव रहित देश में कुटीर बनाकर, चहारदीवारी बनावे, जिसके अन्दरूनी भाग में तालाब, कुआं आदि भी हो। वह कुटी न बहुत नीची न बहुत ऊंची ही हो। गोबर से लिपी हुई हो, कोई जानवर उसमें न हो, ऐसे गुप्त स्थान में प्राणायाम का अभ्यास करे।

प्रत्येक व्यक्ति के लिए उपर्युक्त विधि से कुटी बनाना सम्भव नहीं है। परन्तु इतना तो ध्यान रखना ही चाहिए कि स्थान ऐसा हो जो समतल हो, वहां किसी प्रकार का शोर न होता हो, न बैठने की जगह पर कोई कृत्रिम प्रकाश पड़ता हो। खटमल, मच्छर, पिस्सू आदि जीव जन्तु वहां न हों। स्थान स्वच्छ हो और किसी प्रकार की दुर्गन्ध न आती हो। बैठने के आसन के सम्बन्ध में जैसा कि श्रीकृष्ण ने गीता में कहा है :

चैलाजिनकुशोत्तरम् ।

हो तो बहुत अच्छा है। सबसे नीचे कुश, उसके ऊपर अजिन अर्थात् व्याघ्र या हिरन की खाल और इसके ऊपर नरम और स्वच्छ कपड़ा। यदि इसका प्रबन्ध न हो सके—और आजकल खाल का प्राप्त करना सबके लिए सम्भव नहीं है—तो मोटा कम्बल भी काम दे सकता है। उसके ऊपर नरम कपड़ा बिछा दिया जाय ताकि कम्बल गड़े नहीं।

जो व्यक्ति पर्याप्त उन्नति कर चुका है उसके लिए तो ऋतु आदि का विशेष बंधन नहीं होता, परन्तु आरम्भ करने वाले के लिए इस ओर भी ध्यान देना चाहिए। यों तो गर्मी में पुराने अभ्यासी को भी कुछ असुविधा होती है परन्तु जो इस काम में पहली बार लग रहा हो उसको तो ग्रीष्म ऋतु बहुत ही प्रतिकूल पड़ता है। जैसा कि घेरंड ने बताया है :

हेमन्ते शिशिरे ग्रीष्मे, वर्षायां च ऋतौ तथा।
योगारम्भ न कुर्वीत, कृते योगो हि रोगदः।८।

वसन्ते शरदि प्रोक्तं, योगारम्भं समाचरेत्।
तथा योगी भवेत् सिद्धो, रोगान्मुक्तो भवेद् ध्रुवम्।९।

हेमन्त, शिशिर, ग्रीष्म और वर्षा ऋतुओं में योगारम्भ न करे, इनमें करने से रोग उत्पन्न करता है। वसन्त और शरद् में ही योगाभ्यास करे, इनमें करने से सिद्धि होती है तथा रोग की निवृत्ति होती है।

यह उद्देश्य तो ठीक है परन्तु भारत का ऐसा वहुत सा भाग है जहां वसन्त का प्रायः विल्कुल अनुभव नहीं होता। चैत्र में होली के त्यौहार के निकट कुछ वसन्त की झलक देख पड़ती है। कुछ वृक्षों में नयी पत्तियां निकलती हैं, कुछ वसन्ती हवा वहती है। परन्तु वहुत जल्दी ग्रीष्म ऋतु का आक्रमण होता है और वसन्त लुप्त हो जाता है। वसन्त में आरम्भ करने की वात वही लोग सोच सकते हैं जिनको ग्रीष्म ऋतु में कहीं पहाड़ों पर रहने का अवसर मिलनेवाला हो। उनके लिए तो यह सम्भव है कि चैत्र में नीचे के प्रदेश में अभ्यास आरम्भ करें और फिर पहाड़ पर जाकर उसको जारी रखें। पर ऐसे भाग्यशाली लोग थोड़े ही होते हैं। मेरी निज की सम्मति यह है कि सव दृष्टियों से देश के अधिकांश भाग में शरद् ऋतु ही सवसे अच्छा है। कार्तिक के वाद हेमन्त लगता है। वह काल कुछ कष्टदायक तो होता है परन्तु ग्रीष्म और वर्षा के समान नहीं। हेमन्त और शिशिर में कमरे के भीतर अभ्यास करना सम्भव है।

ऋतु के साथ साथ इस वात का भी निर्णय करना आवश्यक है कि अभ्यास किस समय किया जाय। कभी कभी किसी प्राचीन किताव में कोई ऐसा आदेश दिया होता है जो नये साधक को घवरा देता है। उदाहरण के लिए एक जगह यह वताया गया है :

दिवा न पूजयेल्लिगम्, रात्रावपि न पूजयेत्।
सर्वदा पूजयेल्लिगम्, दिवारात्रनिरोधतः॥

अर्थात् दिन में लिग की पूजा न करे, रात में भी न करे, दिन रात को छोड़कर सर्वदा लिंग की पूजा करे।

सन्दर्भ के अनुसार लिगपूजा से अभ्यास करने से तात्पर्य है। अव साधक का आश्चर्य वढ़ सकता है कि न दिन को यह काम किया जाय न रात में और फिर यह कहा गया है कि सर्वदा किया जाय। यह कैसे होगा ?

श्लोक का अर्थ यह है कि दिन में अर्थात् जव सूर्यनाड़ी पिंगला चल रही हो उस समय अभ्यास करना श्रेयस्कर नहीं होता। इसी प्रकार रात्रि में अर्थात् जव सोमनाड़ी इड़ा चल रही हो तव भी अभ्यास लाभदायक नहीं होता। प्रयत्न यह करना चाहिए कि प्राण को इड़ा और पिंगला छोड़कर सुषुम्ना में चढ़ाया जाय। अस्तु, अभ्यास

करने के लिए यों तो सभी समय ठीक हैं परन्तु दिन रात में अर्ध रात्रि का समय और रात का अन्तिम प्रहर अर्थात् ब्राह्म मुहुर्त विशेष रूप से प्रशस्त है। यह अपने शरीर और जीवनचर्या पर निर्भर करता है कि किस व्यक्ति को कौन सा समय अनुकूल होगा। कवीर ने एक जगह कहा है :

पहर रात उठ पिसना पीस।
झार पछोर किराव दमैदया समुझि परै तव पांच पचीस।

इस पद में पहर रात अर्थात् उस समय का समर्थन किया गया है, जिसको सामान्यतः ब्राह्ममुहुर्त कहते हैं। अव वैदिक यज्ञ याग का चलन नहीं है, तो लगभग तीन वजे रात्रि से आश्विन काल लग जाता था और सवेरा होते होते उपःकाल आ जाता था।

इतना ध्यान रखना चाहिए कि भरे पेट पर अभ्यास करने न वैठा जाय। भोजन और अभ्यास के वीच में लगभग तीन घंटे का अन्तर होना चाहिए। यह तो आशा करनी ही चाहिए कि योगाभ्यास करने का इच्छुक मिताहारी होगा। मिताहार किसको कहते हैं, इसके लिए कोई एक नियम नहीं वतलाया जा सकता। प्रत्येक व्यक्ति को अपने शरीर के अनुरूप इसका निश्चय अपने आप करना चाहिए। कई आचार्यों ने यह कहा है कि पेट का आवा भाग तो अन्न आदि खाद्य वस्तुओं को देना चाहिए, शेष का आधा जलको और वचा हुआ अंश पवन संचार को। एक सूफी कवीर ने इसको वहुत संक्षेप में इस प्रकार कहा है :

न चंदा मखुर कज दहानत वरायद।
न चंदाँ कि अजे जोफ जानत वरायद।

न तो इतना अधिक खाओ कि मुंह से निकल पड़े और न इतना कम कि दुर्वलता के मारे प्राण ही शरीर से निकल जाय।

आसनों के साथ प्रायः वन्धों और मुद्राओं का भी चर्चा होता है। मेरे दादा गुरु वावा रामलाल जी ने मूलवन्ध की स्वयं प्रशंसा की है। उनके एक शब्द की प्रथम पंक्ति कहती है :

मूल वध करि वंद विचारी, सात चक्र नौ शोवै नारी।

यह वाक्य मेरे लिए प्रमाणभूत है। इसके साथ ही मैं यह निवेदन करना चाहता हूं कि उड्डीयान भी वहुत ही उपयोगी क्रिया है। मैं घेरंड संहिता से इन दोनों वंधों के फलों के वर्णनों को उद्धृत करता हूं :

अभ्यासाद् बन्धनस्यास्य मरुत्सिद्धिर्भवेद् ध्रुवम्।
साधयेद्यस्ततस्तर्हि मौनी तु विजितालसः॥

इस मूल बंध के अभ्यास से निश्चय ही पवन सिद्ध होता है। इसलिए साधक आलस्य को छोड़कर मौनी होकर यत्नपूर्वक इसकी साधना करे।

समग्राद् बंधनाद्धयतद् उड्डीयानं विशिष्यते।
उड्डीयाने समभ्यस्ते मुक्तिः स्वाभाविकी भवेत्॥

जितने बंध कहे गये हैं उन सब में यह उड्डीयान बन्ध उत्तम है। इसकी साधना से मुक्ति आपसे आप ही प्राप्त होती है।

यों तो विभिन्न दृष्टियों से सभी मुद्रायें उपयोगी हैं परन्तु उनमें खेचरी और शाम्भमवी मेरी समझ में सर्वोत्तम हैं। इन दोनों मुद्राओं के फल भी घेरंड संहिता से अवतरित करता हूं।

न च मूर्छा क्षुधा तृष्णा नैवालस्यं प्रजायते।
न च रोगो जरा मृत्युर्देवदेहश्च जायते॥
नाग्निना दह्यते गात्रं न शोषयति मारुतः।
न देहे क्लेदयन्त्यापो दंशयेन्न भुजंगमः॥

जो मनुष्य खेचरी मुद्रा की साधना करता है उसको मूर्छा, भूख, प्यास, आलस्य रोग, बुढ़ापा और मृत्यु का भय नहीं रहता। उसका शरीर देवों जैसा हो जाता है न उसको आग जलाती है, न हवा खाती है, न जल गीला करता है और न उसको सांप काटता है।

वेदशास्त्रपुराणानि सामान्यगणिका इव।
परन्तु शाम्भवी मुद्रा गोप्या कुलवधूरिव॥

वेद शास्त्र और पुराण यह सब तो सामान्य वेश्या की भांति है। परन्तु यह शाम्भवी मुद्रा कुल वधू के समान यत्न से गोप्या है अर्थात् गुप्त रखने के योग्य है।

सत्यं सत्यं पुनः सत्यं सत्यमुक्तं महेश्वर।
शाम्भवीं यो विजानाति स च ब्रह्म न चान्यथा॥

महेश्वर ने तीन बार कहा कि यह सत्य है, यह सत्य है, यह सत्य है जो शाम्भवी मुद्रा जानता है वह ब्रह्मा के तुल्य है।

खेचरी मुद्रा के सम्बन्ध में ये श्लोक बहुत प्रसिद्ध हैं :

गोमांसं भक्षयेन्नित्यं पिबेदमरवारुणीम् ।
कुलीनं तमहं मन्ये चेतरे कुलघातकाः ॥

जो मनुष्य नित्य गो मांस खाता है और अमरवारुणी पीता है मैं उसको कुलीन मानता हूं। दूसरे लोग कुल घातक हैं।

गो मांस खाना और मद्य पीना सर्वथा निषिद्ध बातें हैं। इस श्लोक में इन शब्दों को प्रचलित अर्थ में लेना अनर्थकारी होगा। योगी सम्प्रदाय में इनके विशेष अर्थ हैं। तालू के निचले भाग में एक छेद है जो ऊपर की ओर जाता है। उसको कपालकुहर कहते हैं। खेचरी मुद्रा के अभ्यास के द्वारा जब जिह्वा बड़ी होते होते उस कुहर में प्रवेश करने लगती है तो इस क्रिया को गो मांस भक्षण कहते हैं। संस्कृत में गो शब्द का अर्थ गऊ, वाणी, इन्द्रिय और जिह्वा भी है। जिह्वा के स्पर्श से जब गर्मी उत्पन्न होती है उसके परिणामस्वरूप वहां कपाल कुहर से विशेष प्रकार का रस टपकता है। वह रस स्वादिष्ट होता है और अनेक गुणों से सम्पन्न। उसको अमरवारुणी कहते हैं। श्लोक के रचयिता का तात्पर्य स्पष्ट है। जो इस विशिष्ट अर्थ में गो मांस खाता है और अमरवारुणी पीता है अर्थात् जो उच्च कोटि का योगी है वह कुलीन है। अन्य लोग वर्ण, शास्त्र ज्ञान और वैभव आदि में कितने भी बड़े क्यों न हों पर योगी की अपेक्षा निम्न कोटि के हैं।

हठयोगप्रदीपिका के टीकाकार ने ब्रह्मवैवर्त पुराण से एक श्लोक उद्धृत किया है जो इसी अर्थ का समर्थन करता है।

कृतार्थौ पितरौ तेन धन्यं देशं कुलं च तत्।
जायते योगवान् यत्र, दत्तमक्षय्यतां व्रजेत्।

योगाभ्यासी के जन्म से उसके पिता माता कृतार्थ हो जाते हैं। देश तथा कुल धन्य हो जाते हैं और उस स्थान में दान किया अक्षय हो जाता है। इसी प्रकार कूर्म पुराण का एक श्लोक कहता है :

एककालं द्विकालं वा, त्रिकालं नित्यमेव वा।
युंजते ये महायोगं विज्ञेयास्ते महेश्वराः॥

जो लोग एक बार, दो बार, तीन बार या नित्य योगाभ्यास करते हैं उनको महेश्वर मानना चाहिए।

प्राणायाम

यों तो सामान्यतः प्राणायाम की विधि किसी से छिपी नहीं है। प्रत्येक ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य से यह आशा की जाती है कि वह सन्ध्या वंदन करता होगा और उस उपासना का प्राणायाम एक अंग है। सभी लोगों ने यदि प्राणायाम स्वयं न किया होगा तो दूसरों को करते हुए देखा होगा। इस क्रिया के तीन अंग हैं : पूरक अर्थात् सांस को भीतर खींचना, रेचक अर्थात् सांस को बाहर निकालना और कुम्भक अर्थात् सांस को रोकना। कुम्भक दो प्रकार से होता है। एक तो पूरक करके सांस को भीतर रोकना और दूसरा रेचक करके उसको बाहर रोकना। पहले को आभ्यन्तर और दूसरे को बाह्य कुम्भक कहते हैं। साधारण नियम यह है कि पूरक जितनी देर में किया जाय उसका दूना समय रेचक और चौगुना समय कुम्भक पर लगना चाहिए। आरम्भ में इसमें स्वभावतः कठिनाई होगी। पूरक में जो समय लगता है उसको एक मात्रा कहते हैं। इसलिए समय के विधान को यों भी कहते हैं कि पूरक में एक मात्रा, कुम्भक में चार और रेचक में दो लगनी चाहिए। समय जानने के लिए योगाभ्यासी घड़ी से काम नहीं लेता। वह प्रायः किसी मंत्र को जपने को अपनी घड़ी बनाता है। कुछ लोग यह काम ओंकार से लेते हैं। पूरक करने में जितनी बार ओंकार का उच्चारण करते हैं उसको एक मात्रा मानकर उसका चार गुना और दुगुना उच्चारण कुम्भक और रेचक में किया जाता है। परन्तु इसमें एक दोष है। ओंकार एक अक्षर का मंत्र है। उसके उच्चारण में बहुत कम समय लगता है और इसलिए ज्यों ज्यों अभ्यास बढ़ता है त्यों त्यों बहुत बार दुहराना पड़ता है और गिनती करने में मुख्य क्रिया की ओर से ध्यान हट जाता है। गिनने में भूल भी हो सकती है। इसलिए किसी बड़े मंत्र को लेना चाहिए। मेरी राय में इस काम के लिए तीन व्याहृति सहित गायत्री का उपयोग करना चाहिए।

ॐ भूर्भुवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात्।

यदि उत्साह और बढ़े और अभ्यास में वृद्धि हो तो सात व्याहृतियों के साथ भी उच्चारण किया जा सकता है।

ओं भूः ओं भुवः ओं स्वः ओं महः ओं जनः ओं तपः ओं सत्यम् ओं तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात् आपो ज्योती रसोऽमृतं ब्रह्म भूर्भुवः स्वरोम् ।

अभ्यास को बढ़ाने में बहुत जल्दी न हो नहीं तो हित का अहित हो सकता है। सन्ध्या करते समय जो थोड़ा सा प्राणायाम किया जाता है उसकी बात दूसरी है, परन्तु

योग के नाम से जो भी अभ्यास किया जाय वह उस विषय के जानकारों से पूछकर ही करना चाहिए। एक और बात है। यों तो प्राणायाम के कई भेद हैं और वह सभी अपने अपने स्थान पर उपयोगी हैं, परन्तु जिस अभ्यासी को आगे जाना है और समाधि के क्षेत्र में प्रवेश करना है उसको प्राणायाम के उस रूप को अपनाना होगा, जिसमें पूरक और रेचक गौण हो जाते हैं और कुम्भक को ही प्रधानता दी जाती है। इस विधि को "केवल" कुम्भक कहते हैं।

ऊपर के अनुच्छेद में मैंने उन लोगों का चर्चा किया जो आगे जाना चाहते हैं और समाधि की भूमियों में प्रवेश करना चाहते हैं। वस्तुतः तो ऐसा कोई अभ्यासी नहीं है जो इस बात को न चाहता हो। परन्तु कुछ लोगों को आसन और प्राणायाम की क्रियाओं में इतना रस आता है कि उनके लिए यहां से आगे बढ़ना कठिन हो जाता है। वह अपने कुम्भक काल की मात्राओं को बढ़ाते जाते हैं। घंटों आसन का अभ्यास करते हैं। घंटों ही क्यों सिद्धान्तः तो महीनों और सालों तक ऐसा किया जा सकता है। जितनी देर तक वह कुम्भक की अवस्था में रहेंगे उनकी मृत्यु नहीं हो सकती, न कोई व्याधि उनके शरीर को पकड़ सकती है, जरा का भी उन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ सकता। ऐसे लोगों ने समाधि को भी खींचकर गणित के स्तर पर उतार लिया है। हठयोग की पुस्तकों में लिखा रहता है कि इतने प्राणायाम के बराबर धारणा, इतनी धारणाओं के बराबर एक ध्यान और इतने ध्यान के बराबर एक समाधि होती है। समाधि चित्त की अवस्था विशेष है। वह भौतिक वस्तुओं की भांति नापी, तौली, गिनी नहीं जा सकती परन्तु कुछ साधक ऐसा नहीं मानते। इसमें सन्देह नहीं कि ऐसे साधकों को बहुत सी सिद्धियां प्राप्त होती हैं और उनको आनन्द की अनुभूति भी होती है। परन्तु इसमें बहुत सन्देह है कि वह वस्तुतः समाधि पद तक पहुंच सकते हैं यही हठयोग का मार्ग है। कुछ हठ अभ्यासी तो और नीचे रह जाते हैं। उनमें एक प्रकार की जड़ समाधि लग जाती है जिसको एक प्रकार की अचेतन अवस्था कह सकते हैं। बाहरी विषयों की ओर से वह संज्ञा खो बैठते हैं परन्तु भीतर कोई विशेष अनुभूति नहीं होती। इस अवस्था से उठने के बाद उनको उसकी उतनी ही स्मृति मात्र रह जाती है जितनी कि प्रगाढ़ निद्रा में सोने वाले मनुष्य को। सुषुप्ति से उठने पर ऐसा कहा जाता है कि मैं बहुत सुख से सोया। इस प्रकार के हठ अभ्यासियों की समाधि का यही रूप है।

प्राण से तात्पर्य तथा प्राणायाम की उपयोगिता

इस स्थल पर एक प्रश्न उठता है। कम से कम ऐसे साधक के चित्त में उठना चाहिए जो योगाभ्यास को बुद्धिपूर्वक करना चाहता हो, यंत्र चालक की भांति नहीं।

साधक का मुख्य उद्देश्य अपने स्वरूप में स्थित होना अर्थात् आत्मसाक्षात्कार था। इसके लिए उसको यह वतलाया गया था कि चित्त की वृत्तियों का निरोध आवश्यक है। यम, नियम, मैत्री, ईश्वर, प्रणिधान आदि की आवश्यकता भी समझ में आती है। उन सब वातों का चित्त से सम्बन्ध देख पड़ता है। अतः उनका चित्तवृत्ति निरोध में सहायक होना वुद्धिसंगत जान पड़ता है। परन्तु आसन और प्राणायाम, वंध और मुद्रा तो शुद्ध भौतिक क्रियायें हैं। देह के विभिन्न अवयवों का व्यायाम है। उनसे और चित्त से क्या सम्वन्ध हो सकता है? हाथ, पैर और आंख या किसी अन्य अवयव को तोड़ मरोड़कर किसी विशेष स्थिति में रखने से चित्त की अवस्था पर क्या और क्यों हितकर प्रभाव पडना चाहिए?

यह शंका उचित है और यह प्रश्न स्वाभाविक है। परन्तु आसन और प्राणायाम को योग के अंगों में यों ही अकारण नहीं गिन लिया गया है।

चित्त चंचल है। उसमें वृत्तियों का प्रवाह कभी रुकता नहीं। यह वात प्रत्येक मनुष्य के अनुभव में आती है। इसके लिए किसी शास्त्र के अध्ययन की आवश्यकता नहीं है। प्रयत्न करके स्यात् हवा को रस्सी से वांधा जा सके परन्तु चित्त को वस में लाना वहुत कठिन है। सदैव और सर्वत्र साथ रहता है। उसके सहयोग के विना न तो किसी विषय का ज्ञान हो सकता है और न कोई काम हो सकता है। परन्तु चित्त न किसी ज्ञानेन्द्रिय का विषय वनाया जा सकता है न किसी कर्मेन्द्रिय का। किसी प्रकार पकड़ में नहीं आता। ऐसी वस्तु का निग्रह किस प्रकार किया जाय? इस सम्बन्ध में योग के आचार्यों ने उस उपाय से काम लिया हैं जिसको शत्रु पर विजय पाने के लिए काम में लाते हैं। इस वात का अन्वेषण किया जाता है कि शत्रु का कोई सहायक या समर्थक है या नहीं। यदि समर्थक प्रधान शत्रु की अपेक्षा कुछ दुर्वल हुआ तो पहले उसी पर आक्रमण किया जाता है। यदि वह परास्त किया जा सका तो शत्रु का वल क्षीण हो जाता है, और उसका उत्साह टूट जाता है। ऐसी अवस्था में उसके ऊपर विजय पाने की सम्भावना वहुत वढ़ जाती है। योग के आचार्यों ने देखा कि चित्त और शरीर विशेषतः शरीर के उस अंश का जिसको नाड़ी संस्थान कहते हैं चित्त पर वड़ा प्रभाव है। सच तो यह है कि चित्त और नाड़ी संस्थान एक दूसरे के अन्योन्याश्रित हैं। चित्त के चंचल होने से नाड़ियां और नाड़ियों के चंचल होने से चित्त चंचल होता है। ऐसा लगता है कि साधक को एक साथ दो प्रवल शत्रुओं का सामना करना होगा। परन्तु यद्यपि चित्त और उसके सहचर दोनों ही प्रवल हैं फिर भी नाड़ि संस्थान से युद्ध करने में कुछ सुविधा है। वह शरीर का अंग है। हम शरीर से जन्म से ही काम लेते आये हैं। चित्त को वस में करने का कभी प्रयास किया गया हो या न किया गया हो परन्तु घर में, शिवालय में, सभा समाज में, वहुत से ऐसे अवसर आये हैं जब शरीर को थोड़ा वहुत

दवाना पड़ा है। चित्त को वस में लाना इसलिए बहुत कठिन हो जाता है कि उसका कोई निश्चित स्थान समझ में नहीं आता। शरीर का प्रत्येक भाग देखा और जाना जा सकता है। योगी को यह आशा होती है कि जब एक बार उसको शरीर, मुख्यतः नाड़ीसंस्थान को स्ववश करने में विजय प्राप्त हुई तो चित्त एक प्रकार से स्वयं ही वस में हो जायगा।

शरीर में जहां हड्डी, मांस आदि पदार्थ हैं वहां नाड़ियां भी हैं। वहुत सी नाड़ियां पतले सूत की भांति होती हैं। शरीर के प्रायः प्रत्येक भाग में नाड़ियों का जाल फैला हुआ है। वाहरी भाग अर्थात् चमड़े के प्रायः हर विन्दु पर दो दो नाड़ी तन्तु विद्यमान हैं।

इन तन्तुओं का काम है वाहर की वातें भीतर पहुंचाना और भीतर की प्रतिक्रिया वाहर पहुंचाना। यदि मेरे पांव के पास सड़क पर जलता कोयला पड़ा हो, और दैवात् पांव कोयले से छू गया तो तत्काल ही दोनों तन्तुओं में से एक में कम्पन आरम्भ होगा। कम्पन मस्तिष्क तक पहुंच जायगा और फिर मस्तिष्क से दूसरे प्रकार का कम्पन दूसरे तन्तु के द्वारा उस स्थान तक पहुंचेगा जो कोयले के स्पर्श में है और पांव तुरन्त पीछे खींच लिया जायगा।

[1]"शरीर में मेरुदंड के भीतर जो नाड़ीरज्जु है उसे सुषुम्ना कहते हैं। उसमें स्थान स्थान पर नाड़ीकोष हैं जिनमें से नाड़ीतन्तु निकले हुए हैं। इनमें से कुछ तो शाखा प्रशाखा में बंटकर शरीर के वहिर्भाग में फैले हुए हैं और कुछ ऊपर कंठ की ओर जाते हैं। इसी प्रकार शिर के भीतर मस्तिष्क है जो नाड़ीकोषों और तन्तुओं का गुच्छा है। मस्तिष्क और सुषुम्ना का मेल जहां होता है उस जगह को ब्रह्मरन्ध्र कहते हैं। सुषुम्ना तो वहीं समाप्त हो जाती है परन्तु उसमें स्थित नाड़ीकोष्ठों से आये हुए तन्तु मस्तिष्क में जाते हैं। वहां उनका विशेष केन्द्रों से सम्वन्ध होता है। आंख, कान, नाक और जिह्वा से आये हुए तन्तुओं का भी मस्तिष्क से सीधा सम्वन्ध है। वाह्य विषयों के आघात से नाड़ी तन्तु प्रकम्पित होते हैं। यह प्रकम्पन उनके मूल नाड़ीकोष्ठ तक पहुंचता है। यदि वह कोष्ठ सुषुम्ना में है तो ऊपर जाने वाले तन्तु क्षोभ को मस्तिष्क तक पहुंचाते हैं। आंख, कान से आये तन्तु और उनके कोष्ठ मस्तिष्क को सीधे क्षुब्ध कर सकते हैं। यदि क्षोभ हल्का हुआ तो चित्त पर प्रभाव नहीं पड़ता, परन्तु यदि वाहरी आघात तीव्र हो तो मस्तिष्क में उग्र क्षोभ होगा और फिर चित्त पर भी प्रभाव पड़ेगा। आघात पहुंचानेवाली वस्तु का मन में संवित् के रूप में प्रवेश होगा। संवित् से प्रत्यय वनेगा और फिर वुद्धि अध्यवसाय करेगी। अध्यवसाय के फलस्वरूप

१. मेरी पुस्तक चिद्विलास से अवतरित।

यदि कोई संकल्प हुआ तो वह फिर मस्तिष्क में क्षोम रूप से प्रकट होगा और मस्तिष्क से नाड़ीकोष्ठों और तन्तुओं द्वारा मांस पेशियों तक पहुंचेगा। इस प्रकार सुषुम्न और मस्तिष्क मिलाकर जो नाड़ीसंस्थान है वही वाहरी जगत् से सम्बन्ध का साधन होता है। उसके द्वारा वाहरी वस्तु की क्रिया चित्त पर ज्ञान के रूप में और चित्त की प्रतिक्रिया बाहरी वस्तु पर शरीर की चेष्टा विशेष के रूप में होती रहती है। जब तक नाड़ीसंस्थान काम करता रहेगा तव तक चित्त का विक्षिप्त रहना स्वाभाविक है।"

यह तो एक प्रकार की नाड़ियां हुईं। यह हमारा सम्वन्व बाहर से बनाये रहती हैं। प्रायः इनके द्वारा चित्त में तथा चित्त के द्वारा शरीर के विभिन्न स्थानों में क्षोम उत्पन्न होता रहता है। ऐसी भी नाड़ियां हैं जिनका कार्य क्षेत्र शरीर के भीतर तक सीमित है, यद्यपि उनके अधिकार क्षेत्र का वहुत वड़ा महत्त्व है। इन नाड़ियों का शरीर के उन अंगों से सम्बन्व रहता है जिनमें जीवनोपयोगी काम निरन्तर होते रहते हैं, सोने के समय भी नहीं रुकते। उदाहरण के लिए, भोजन के पचने के काम को लीजिए। यह काम प्रायः चौबीस घंटे होता रहता है और स्वस्थ शरीर में इसका पता भी नहीं लगता। परन्तु यदि शरीर में किसी प्रकार का रोग का प्रवेश हो जाय तो फिर तत्रस्थ नाड़ियां क्षुब्ध हो जाती हैं और हमको इस वात की सूचना कि पाचन का काम ठीक ढंग से नहीं हो रहा है उदर पीड़ा के रूप में ज्ञात हो जाता है। शरीर में कुछ ऐसे स्थान भी हैं जहां दोनों प्रकार की नाड़ियां मिलती हैं।

जिन जगहो में वहुत सी नाड़ियां मिलती हैं उनको चक्र कहते हैं। चक्र तो शरीर में वहुत हैं परन्तु कई कारणों से योगाभ्यास की दृष्टि से इनमें से छः का विशेष महत्त्व है। यह सीवन में, लिंग मूल में, नाभि में, हृदय में, कंठ में और भ्रूमध्य में स्थित हैं और क्रमशः उनको मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूरक, अनाहत, विशुद्ध और आज्ञा कहते हैं। योग के आचार्यों का कथन है कि प्रत्येक चक्र में से विशेष ध्वनियां निकलती रहती हैं जिनकी समता वर्णमाला के विशेष अक्षरों से होती है। अव से ऊपर मस्तिष्क के ऊपरी भाग में सातवां चक्र है जिसे सहस्रार कहते हैं।

वहुत से लोग ऐसा समझते हैं कि प्राणायाम शब्द में जो प्राण अंश है उससे सांस का तात्पर्य है। यह वहुत वड़ी भ्रान्ति है और दुःख का विषय यह है कि ऐसी गलती वैद्य लोग करते हैं। इससे भी वढ़कर दुःख और आश्चर्य का विषय यह है कि कई ऐसे लोग जो स्वयं योगाभ्यासी हैं और शिष्यों को योगाभ्यास की दीक्षा देते हैं वह भी ऐसी ही भूल करते हैं। ऐसा कह दिया जाता है कि योगाभ्यास के द्वारा सांस सुषुम्ना के द्वारा ब्रह्मांड में चढ़ायी जाती है। यह सर्वथा असम्भव है। सुषुम्ना कोई गुप्त वस्तु नहीं है। उसकी लम्वाई प्रायः पीठ की लम्वाई के वरावर है, मोटाई मनुष्य की कनिष्ठा अंगुली के वरावर है। आंख से देखी जा सकती है। ठोस है। उसमें कोई ऐसा छिद्र

नहीं है जिसके द्वारा हवा उसमें प्रवेश कर सके और न कोई ऐसी नली है जिसमें होकर सांस ब्रह्मांड तक जा सके। वस्तुतः इस प्रसंग में प्राण शब्द का अर्थ सांस नहीं है। उस शक्ति को जो शरीर का और उसमें होनेवाले सारे कामों का संचालन करती है प्राण कहते हैं। भौतिक स्तर पर जो क्रियायें हो रही हैं जैसे अन्न का पचना, मांस पेशियों का मुड़ना, देह का हिलना, नाड़ी तन्तुओं पर प्रकाश, शब्द आदि का आघात होना यह सब प्राण के द्वारा होता है। इसी प्रकार चित्त में जो भी वृत्तियां उठती रहती हैं उन सब का आधार और स्रोत प्राण है। इसीलिए प्राण को शरीर में परमात्म शक्ति का प्रतिनिधि मानते हैं। सुषुम्ना के द्वारा जिस पदार्थ की गति होती है वह प्राण है सांस नहीं। योगाभ्यास में योगी प्राण से काम लेता है।

सुषुम्ना के दाहिने और बायें दो नाड़ियां हैं—उनको नाड़ी न कहकर नाड़ियों का गुच्छा या नाड़ी तंतुओं की गुथी हुई वेणी कहना स्यात् अधिक यथार्थ होगा—जो भ्रूमध्य से होती हुई मस्तिष्क तक जाती है। परन्तु ऊपर जाने के पहले ये दोनों भ्रूमध्य में अपने मार्ग बदल लेती हैं। बायीं ओर से आनेवाली नाड़ी मस्तिष्क के दाहिनी ओर और दाहिनी ओर से आनेवाली बायीं ओर चली जाती है। उनमें वाम नाड़ी का नाम इड़ा और दाहिनी का पिंगला है। इड़ा को हिन्दी में बहुधा इंगला भी कह दिया करते हैं। यह नाम सम्भवतः पिंगला से तुक मिलाने के लिए पड़ गया होगा। चूंकि भ्रूमध्य में इड़ा, पिंगला, और सुषुम्ना तीनों नाड़ियां स्थित हैं इसलिए इस स्थान को त्रिवेणी से उपमा दी जाती है। इड़ा गंगा और सोम नाड़ी कहलाती है। पिंगला यमुना और सूर्य नाड़ी कही जाती है तथा सुषुम्ना सरस्वती और अग्नि नाड़ी के नाम से प्रसिद्ध है।

और आगे बढ़ने से पहले मैं एक शंका का उल्लेख और समाधान कर देना उचित समझता हूं। यह पूछा जा सकता है कि जब योगाभ्यास में सांस का कोई काम ही नहीं है तो फिर आसन से बैठने और रेचक आदि की श्रमसाध्य क्रिया किस लिए की जाती है। वस्तु स्थिति यह है कि यह सब श्रम अकारण नहीं किया जाता इसलिए किसी ऐसे आसन के आश्रय लेने से जिससे देर तक बैठा जा सके और शरीर को विशेष कष्ट न हो, शरीर को क्षुब्ध करने वाली चेष्टायें प्रायः शान्त हो जाती हैं। हृदय की गति जो चलने फिरने में संवेग हो जाती है धीमी पड़ जाती है। रक्त का प्रवाह भी शान्त होने लगता है और श्वास प्रश्वास में भी तेजी नहीं रहती, उसकी गति से भी विषमता दूर हो जाती है। शरीर की सारी क्रियाओं का प्रवाह एकरस सा हो जाता है। पूरक आदि के थोड़े से अभ्यास से श्वास प्रश्वास का और भी नियंत्रण हो जाता है। उसमें संगीत जैसा आरोह अवरोह, काव्य जैसा लय, आ जाता है। यदि और कुछ न किया जाय तब भी निश्चल सा हो जाता है जिसके फलस्वरूप प्राण भी निश्चल और अक्षुब्ध हो जाता है। बाहर से इन्द्रियों पर विषयों का आघात यथासम्भव रुक जाने से भी

निश्चलता आ जाती है। और फिर, जैसा कि हम बतला चुके हैं, प्राणों की चंचलता रुक जाने से चित्त की चंचलता भी रुक सी जाती है जो साधक का उद्देश्य है।

चक्रों में प्राण की गति

प्राणायाम के फलस्वरूप प्राण की गति चक्रों में होती है। यों तो स्वभावतः विना किसी प्रयास के प्राण चक्रों में चढ़ता उतरता रहता है। ऐसा न हो तो शरीर की गति वन्द हो जाय। प्राणों की इस सहज गति को अजपा जप या अजपा गायत्री कहते हैं। परन्तु अभ्यास के द्वारा योगी उसको विशेष क्रम से और नियत दिशा में नियंत्रित करता है। एकान्त में वैठकर जव प्राणायाम का अभ्यास होता है तो धीरे धीरे प्राण शरीर के अंगों से क्रमशः खिचता है। वह अंग एक प्रकार से विशेष संज्ञाहीन हो जाते हैं। अन्त में वह मस्तिष्क में जाकर टिकता है।

यह शरीर जिसे पिंड भी कहते हैं ब्रह्मांड का, छोटे आकार का चित्र है। ब्रह्मांड में जो विभिन्न लोक हैं उन सव का एक प्रकार का नकशा शरीर में खिंचा हुआ है। प्रत्येक चक्र वाहर के किसी न किसी लोक विशेष से सम्बद्ध है और प्रत्येक चक्र में वह देवता स्थित है जो उस वाहर के लोक की अभिमानी है। जिसे उदाहरण के लिए, दूसरे चक्र अर्थात् स्वाधिष्ठान का स्वामी ब्रह्मा, तीसरे मणीपूरक का स्वामी विष्णु और चौथे अनाहत का स्वामी रुद्र है। ज्यों ज्यों प्राण इन चक्रों तक पहुंचता है त्यों त्यों साधक को तत् तत् चक्र के स्वामी का दर्शन होता है और उसकी तत् तत् लोक में गति होती है। दो चक्रों के वीच में सुषुम्ना का जो अंश पड़ता है उसमें प्राण ज्यों ज्यों आरोहण करता है त्यों त्यों साधक के वीच के लोकों से सम्वद्ध होता है और उनके स्वामियों का दर्शन होता है। यह हो ही नहीं सकता कि कोई साधक प्राण अभ्तास करे और उसको इस प्रकार की अनुभूति न हो।

कुंडलिनी

यह एक ऐसा शव्द है जो योग सम्बन्धी वैदिक वाङमय में कहीं नहीं मिलेगा। उपनिषदों में योग सम्बन्धी जो चर्चा है वह सूक्ष्म संकेत के रूप में है। उदाहरण के लिए कठोपनिषद् का एक मंत्र कहता है :

शतं चैका च हृदयस्य नाडयः, तासां मूर्धानमधितिष्ठत्येका।
तयोर्ध्वम् आयन्नमृतत्वमेति, विष्वङङ्न्या उत्क्रमणे भवन्ति॥

इसका अर्थ है हृदय में सौ और एक नाड़ियां हैं। इनमें से एक मूर्धा की ओर

निकली है। उसके द्वारा ऊपर आकर मनुष्य अमृतत्व को प्राप्त होता है और दूसरी नाड़ियां योनियों को प्राप्त कराती हैं।

इस मंत्र में शतम् का अर्थ सौ न मानकर यदि "बहुत सी" किया जाय तो उचित उचित होगा। सब नाड़ियां हृदय से तो होकर नहीं गयी हैं। इसलिए हृदय शब्द को व्यापक रूप से शरीरवाची मान सकते हैं। जिस एक नाड़ी का विशेष रूप से चर्चा है वह निश्चय ही सुषुम्ना है। और नाड़ियां तो विविध योनियों की ओर ले जाती हैं। ऐसा कहने का तात्पर्य यह है कि किसी ऐसे शरीर में जायगा जहां वह जन्म और मरण के घेरे में रहेगा। एक सुषुम्ना का आश्रय लेनेवाला मोक्ष को प्राप्त कर सकता है। श्वेताश्वतर उपनिषद् से भी कुछ अंश पहले उद्धृत किया जा चुका है। वहां भी योग की विधि कुछ बहुत विस्तार से नहीं दी गयी है। मुख्य उपनिषदों में इससे अधिक कहीं नहीं मिलता। योगशिख इत्यादि में अधिक ब्योरा दिया हुआ है। परन्तु उनकी प्रामाणिकता उतनी सर्वमान्य नहीं है। कुंडलिनी का चर्चा प्राचीन बौद्ध वाङ्मय में भी नहीं है। जहां तक मैं जानता हूं बुद्धदेव ने भी इसका कभी नाम नहीं लिया। पतंजलि और उनके भाष्यकार व्यास ने भी इस शब्द का व्यवहार नहीं किया है। परन्तु तंत्र ग्रन्थों में कुंडलिनी का विशद रूप से चर्चा आया है और आजकल कुछ ऐसी मान्यता हो गयी है कि जो कुंडलिनी को जगाता नहीं उसकी योगाभ्यास की भूमिकाओं में कोई गति नहीं है। ऐसा कहते हैं कि कुंडलिनी शक्ति है, पराशक्ति का स्वरूप है। वह नागिन के आकार की है और शरीर में साढ़े तीन लपेटे मारकर अपनी पूंछ को अपने मुँह में दबाये हुए नाभि में रहती है। कुछ लोगों के अनुसार उसका स्थान मूलाधार चक्र में है। जब योगी प्राणायाम का अभ्यास करता है तो प्राण के आघात से उसकी निद्रा टूटती है और वह पूंछ को मुंह से निकालकर ऊपर की ओर चक्रों में चढ़ती है। अन्त में सहस्रार तक पहुंचती है। वहां शिव शक्ति का मिलन होता है और योगी मोक्ष पदवी प्राप्त करता है। कुंडलिनी का निवास कहां है और वह क्या काम करती है इसके सम्बन्धमें श्री शंकराचार्य की सौन्दर्यलहरी का यह श्लोक उदाहरण रूप से द्रष्टव्य है।

सुधाधारासारैश्चरणयुगलांतर्विगलितैः
प्रपंचं सिंचंती पुनरपि परास्नायमहसा।
अवाप्य स्वां भूमिं भुजगनिभमध्युष्टवलयं,
स्वमात्मानं कृत्वा स्वपिषि कुलकुंडे कुहरिणि॥

इसका अर्थ यह है कि दोनों चरणों के बीच से विगलित होते हुए अमृत की धारा की बिन्दुओं से प्रपंच को सींचती हुई, परमार्ग के ज्ञान को लोक में वितरित करती हुई,

अपने स्थान को प्राप्त करके अपने को सर्वाकार वनाकर, हे गर्त में रहने वाली, आप कुलकुंड में सोती हैं। इस श्लोक में कई शब्द ऐसे हैं जिनका व्यवहार समाधि भाषा में हुआ है। दोनों चरणों से तात्पर्य इड़ा और पिंगला से है। उनके बीच में सुषुम्ना है। योगाभ्यास करते समय जब प्राण सुषुम्ना में उर्ध्वगामी हो जाता है तो ब्रह्मरन्ध्र से अमृत की वर्षा होती है। प्रपंच से तात्पर्य शरीर से है। अतः कहने का तात्पर्य यह है कि साधक के शरीर को कुंडलिनी के प्रसाद से ब्रह्मरन्ध्र से टपकते हुए अमृत के विन्दु प्लावित करते हैं। कुंडलिनी पराशक्ति है। वह मोक्ष की प्राप्ति का जो परमार्ग है उस मार्ग का मूर्तिमती ज्ञान है, कुलकुंडे से नाभि से तात्पर्य है। इस नाभिकुंड में निवास करने के कारण उसको कुहरिनी अर्थात् गर्त्त में रहने वाली कहा गया है। वह वहीं सोती रहती है।

साधक अपने अभ्यास के वल से उसको जगाता है और फिर ज्यों ज्यों वह सीधी होकर ऊपर चढ़ती है शक्ति, ज्ञान, और आनन्द का अनुभव करता है।

प्राचीन वाङमय में कुंडलिनी शब्द के अभाव से यह अनुमान हो सकता है कि प्राचीन काल में लोग योग की उन ऊंची चोटियों तक नहीं पहुंचे थे जहां इस शक्ति का साक्षात्कार होता है। परन्तु ऐसा मानना समीचीन नहीं प्रतीत होता। मेरा ऐसा अनुमान है कि यह नाम ऐसे दृग्विषय को दिया गया है जिससे पुराकाल में योगी भी भली प्रकार परिचित थे। मेरी समझ में तो यह अनावश्यक नामकरण है। कुंडलिनी प्राण का ही नामान्तर है। जैसा कि पहले लिखा जा चुका है, प्राण शक्ति की प्रेरणा से शरीर में भौतिक और बौद्धिक स्तर पर सारे काम होते हैं। प्राण शरीर में पराशक्ति और उससे अभिन्न परमात्मा का प्रतीक और प्रतिनिधि है। उसी प्राण का जो रूप आध्यात्मिक स्तर पर काम करता है जिसका अनुभव प्राणायाम की अवस्था में साधक को होता है, उसी का नाम कुंडलिनी है। वह साधारण मनुष्य में सोयी रहती है। परन्तु जो मुमुक्षु होकर आध्यात्मिक जगत् में प्रवेश करता है और यम आदि के द्वारा अपने शरीर और चित्त को शुद्ध करके प्राणायाम की क्रिया पर आरूढ़ होता है तो वह सोयी हुई शक्ति को हठात् जगाता है। मैं तो यह निवेदन करना चाहता हूं कि कुंडलिनी का स्थान नाभि नहीं प्रत्युत वह मूलाधार चक्र है जो साधक की लम्बी यात्रा में पहला स्टेशन है। जिस प्रकार कोई सोया हुआ मनुष्य अंगड़ाइयां लेता है और फिर झपकियां ले लेता है उसी प्रकार कुंडलिनी भी जागती है। यदि साधक अभ्यास छोड़ बैठा तो कुंडलिनी फिर सो जायगी। परन्तु यदि वह अपने परिश्रम में दृढ़ रहा तो फिर उसको उठना ही पड़ेगा। उसको नागिन कहा गया है। नागिन का पर्याय है सर्पिणी और सृप धातु का अर्थ होता है रेंगना। जिस प्रकार सर्पिणी रेंगती है उसी प्रकार प्राण शक्ति रेंगती हुई ऊपर चढ़ती है। ज्यों ज्यों वह ऊर्ध्वगामिनी होती है त्यों त्यों साधक

अपने स्वरूप के निकट आता जाता है। वह परमात्मा से अभिन्न है। अपने को भूला हुआ है नहीं तो उसके भीतर सारे ज्ञान, सारे आनन्द, सारी शक्ति का भंडार है। ज्यों ज्यों वह ऊपर चढ़ता है या यों कहिए कि ज्यों ज्यों प्राण के ऊपर चढ़ने से वह अपने वास्तविक स्वरूप के निकट आता जाता है त्यों त्यों उसको ज्ञान, शक्ति और आनन्द की अधिक से अधिक अनुभूति होती जाती है सहस्रार में पहुंचकर यात्रा समाप्त होती है। जीव शिव हो जाता है। जीवात्मा और परमात्मा का कल्पित भेद मिट जाता है। इसी को शिव शक्ति का मिलन कहते हैं।

यदि पुस्तकों को पढ़कर कोई यह समझता हो कि शरीर में साढ़े तीन लपेटे मारकर और अपनी पूंछ को अपने मुंह में दबाकर कोई नागिन किसी जगह बैठी है तो यह उसका मति विभ्रम है। जब कोई ऐसी नागिन है ही नहीं तो सुषुम्ना के साथ उसके सहस्रार जाने का प्रश्न ही नहीं उठता। यह स्मरण रहे कि सहस्रार मस्तिष्क का ऊपरी भाग है। कुंडलिनी को नागिन कहना केवल अलंकारिक भाषा है जसमें एक विशेष प्रकार के प्रतीक से काम लिया गया है। इस पृथिवी का धारक नाग है। जिसको शेषनाग कहते हैं। नाग की आयु बड़ी लम्बी मानी जाती है। कुंडलिनीरूपी प्राण शरीर का धारक है और वह नित्य है। इसलिए कुंडलिनी को नाग शरीरधारी कहा गया है। प्रतीकों के अध्ययन से ऐसा प्रतीत होता है कि अपनी पूंछ को अपने मुंह में लिए हुए सांप इस बात का प्रतीक माना जाता है कि जो आदि है वह अन्त है। शिव की पराशक्ति जगत् की कर्त्री भी है और संहर्त्री भी। स्वयं अपने में से इस जग्त् रूपी प्रपंच को निकालती है। स्वयं उसको निगल जाती है। इसलिए वह ऐसी नागिन बतलायी गयी है जो अपने मुख में अपनी पूंछ को डाले रहती है। जब चाहती है अपने मुंह से बाहर कर देती है और फिर अपनी इच्छा से मुंह में डाल लेती है। सबसे बड़ी बात यह है कि कुंडलिनी वाक् का ही दूसरा नाम है। शरीर में वाक् ही पराशक्ति है। उसके पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी तीन और रूप भी हैं परन्तु उसका सबसे सूक्ष्म रूप वह है जिसको परा कहते हैं। यह परावाक् ओंकार स्वरूप है। ओंकार की तीन मात्रायें ऐसी हैं जिनका उच्चारण हो सकता है, आधी मात्रा वह है :

यानुच्चार्या विशेषतः ।

जो विशेष रूप से अनुच्चार्य है। इस प्रकार ओंकार की साढ़े तीन मात्रायें हैं। कुंडलिनी अर्थात् प्राण की वह शक्ति जिसका अनुभव योगी को प्राणायाम के द्वारा होता है, इसी पराशक्ति का दूसरा नाम है। इसलिए इस नागिन को साढ़े तीन वलययुक्त कह सकते हैं। जब योगी पूर्ण समाधि को प्राप्त होता है तो परावाक् का अनुभव होता है। उसी समय प्राण रूपी शक्ति का भंडार उसके लिए खुल जाता है और वह जीव से शिव हो जाता है।

यदि इस बात को बिना समझे कोई अपने शरीर में किसी वास्तविक नागिन को ढूंढ़ निकालना चाहेगा तो उसका प्रयास निष्फल होगा। इतना ही नहीं उसकी व्यग्रता इतनी बड़ी हो सकती है कि उसकी कल्पना उसके सामने किसी प्रकार की नागिन जैसी आकृति लाकर खड़ी कर दे। यह उसकी मनः प्रसूति हानिकारक भी हो सकती है। ऐसी घटनाएं हुई हैं जिनमें साधक को नागिन की खोज में प्राणों से हाथ धोना पड़ा है या उन्माद मोल लेना पड़ा है। मैं जान बूझ कर इस विषय को विस्तार से नहीं लिखना चाहता।

यह एक ऐसा विषय है जिसके सम्बन्ध में कुछ विशेष कहना सुनना न सम्भव है और न उचित। यह बातें तो गुरु मुख से ही जानने की होती हैं। मेरा तो इसका चर्चा करने का एक उद्देश्य था और वह यह कि कोई साधक हताश न हो जाय। जैसा कि मैंने कहा है कुंडलिनी शब्द का व्यवहार पीछे से होने लगा है और सम्भवतः यह योगियों में सर्वत्र प्रचलित नहीं है। कबीर इत्यादि संतों ने भी इस शब्द से काम नहीं लिया है और सम्भव है कि साधक के गुरुदेव जिस कुल के हों उसमें भी इसका चलन न हो। साधक को इस बात से कहीं यह भ्रम न हो जाय कि मैं योग के ठीक पथ पर नहीं चलाया जा रहा हूं।

इस सम्बन्ध की मुख्य बातें और मुख्य अवधान तो सद्गुरु से प्राप्त होंगी ही फिर भी दो एक बातों की ओर ध्यान आकृष्ट करता हूं।

यदि साधक आसन पर स्थिरता से बैठा और अपने चित्त में एकाग्रता ला सका है तो उसको वह अनुभूति होनी चाहिए जिसको कुंडलिनी जगाना कहते हैं या प्राण का आयाम कहा जाता है। शरीर स्तब्ध हो जायगा। ऐसा स्पष्ट मालूम होगा कि नीचे से कोई चीज ऊपर की ओर बढ़ रही है, पीठ की ओर से रेंगती हुई ऊपर जा रही है और सीने पर एक प्रकार का तनाव प्रतीत होगा। कंठ कुछ अवरुद्ध सा हो जायगा। एक प्रकार से डर छा लेगा और सम्भव है कि कोई डरावनी वस्तु भी देख पड़े। इसके साथ ही कुछ और अनुभव भी होंगे जिनकी ओर अगले अध्याय मे संकेत किया जायगा। यदि इस प्रकार का अनुभव हो तो यह साधक का बड़ा भाग्य है। कदापि डरना न चाहिए। यदि डर हुआ कि स्यात् मेरी मृत्यु न हो जाय या किसी अन्य प्रकार का विचलन हुआ तो फिर यह अनुभव क्षण भर में समाप्त हो जायगा। प्राण फिर नीचे चला जायगा। कुंडलिनी जहां से उठी थी वहां जाकर फिर सो जायगी। इस अवसर पर बड़ी दृढ़ता से काम लेना चाहिए। इसी दृढ़ता पर सफलता निर्भर करती है।

श्रम के फलस्वरूप यदि शरीर में से प्रस्वेद निकल पड़े तो उस पसीने को शरीर में ही मल लेना चाहिए अन्यथा वीर्य के दुर्बल होने की सम्भावना होती है। यदि प्राणायाम की क्रिया उत्साह और श्रद्धा के साथ की गई तो उससे कुछ फल प्रत्यक्ष ही

होंगे। सबसे बड़ा फल तो वह है जिसका चर्चा मैंने ऊपर के अनुच्छेद में किया है। प्राण का चक्रों में उठना और साधक की आध्यात्मिक उन्नति। इसके पहले और भी कई बातें होती हैं जो श्रद्धा और उत्साह को बढ़ाती हैं। पतंजलि ने इन बातों की ओर इन दो सूत्रों में संकेत किया है :

ततः क्षीयते प्रकाशावरणम् । (२,५२)

और

धारणा च योग्यता मनसः। (२,५३)

उससे प्रकाश का आवरण क्षय हो जाता है और मन को धारणाओं में स्थिर रखने की योग्यता आती है। मनुष्य बार बार जन्म मरण के वशीभूत इसलिए होता है कि वह इन्द्रियों के विषयों के साथ तादात्म्य करता रहता है। उसकी बुद्धि पर यही अन्धेरा छाया रहता है। प्राणायाम के अभ्यास से यह अन्धेरा बहुत कम हो जाता है और वह अपने को विषयों से पृथक् करने में अधिक समर्थ अनुभव करता है। इसके फलस्वरूप वह कारण जो उसको बारंबार जन्म और मरण की ओर प्रेरित करते हैं दुर्बल हो जाते हैं। इसलिए वह बंधन में डालने वाले कर्मों से ऊपर उठने में समर्थ होता जाता है। एक और बात होती है। धारणा को राजयोग की पहली सीढी कह सकते हैं उसके लिए भी साधक की योग्यता बढ़ जाती है।

एक बार फिर सतर्क कर देना चाहता हूं। यदि प्राणायाम की मात्रा बढ़ाते जाना ही समाधि तक पहुंचने का एकमात्र साधन होता तो फिर किसी भी साधक को दूसरा परामर्श देना सम्भव ही न होता। सबसे यही कहना होता कि इस काम को परिश्रम के साथ सम्पन्न करो, परन्तु समाधि के और भी मार्ग हैं जिनमें से कुछ का वर्णन आनेवाले दो अध्यायों में होगा। इसलिए कुंडलिनी के उद्बोधन की प्रक्रिया अनिवार्यतया आवश्यक नहीं है। आसन और प्राणायाम का थोड़ा सा अभ्यास सबको ही करना होता है परन्तु इन क्रियाओं को हठयोग की सीमा तक ले जाना सर्वथा ऐच्छिक है। कम से कम इतना तो ध्यान रखना ही चाहिए कि शीघ्र सफलता प्राप्त हो, इस उतावलेपन में आकर जल्दी नहीं करनी चाहिए और न श्वास प्रश्वास को रोकने में बहुत बल लगाना चाहिए, अन्यथा कई प्रकार के शारीरिक और मानस रोगों का उभर आना सम्भव है।

प्रत्याहार

इस अध्याय के शीर्षक में प्रत्याहार का भी उल्लेख था। पतंजलि ने इस शब्द की परिभाषा इस प्रकार की है :

स्वविषयासंप्रयोगे चित्तस्य स्वरूपानुकार
इवेन्द्रियाणाम् प्रत्याहारः। (२,५४)

अपने विषय से सम्पर्क न होने से इन्द्रियों के चित्त स्वरूप का अनुसरण सा करना प्रत्याहार कहलाता है।

जो साधक बराबर यम आदि के निरन्तर अभ्यास से और भक्तियोग तथा कर्मयोग द्वारा चित्त को शुद्ध रखता है और इसके सिवाय प्राणायाम करके उसके मल को दूर करता रहता है उसकी इन्द्रियां अपने अपने विषयों से उचट जाती हैं। विषय उनके विरस लगने लगते हैं। उनकी ओर झुकाव नहीं होता। इसलिए उनके साथ संप्रयोग अर्थात् सम्पर्क नहीं होता। साधारण मनुष्य का चित्त तो ऐसी दशा में भी जब उसको इन्द्रियों के विषय प्राप्त नहीं होते उनकी ओर बढ़ता रहता है। शरीर से सम्पर्क न हुआ न सही, मनुष्य उनका ध्यान करता है। जब साधक की आध्यात्मिक उन्नति होती है तो चित्त का भी विषयों की ओर से रुझान जाता रहता है। अब चित्त और इन्द्रिय दोनों विषयों की ओर से परांगमुख हो जाती हैं। इस सम्बन्ध में यह कह सकते हैं कि इन्द्रियां चित्त का अनुकरण करती हैं। परन्तु यथार्थ अनुकरण नहीं होता. चित्त को बाहरी विषयों से हटकर आभ्यन्तर विषयों की ओर लगता है। ऊर्ध्वलोकों में प्रवेश करता है। परन्तु इन्द्रियां यह नहीं कर सकतीं। विषयों की ओर से तो हट जाती हैं परन्तु विषयों को छोड़कर किसी अन्य पदार्थ को ग्रहण करने की उनमें शक्ति नहीं है। इसलिए वह विराम को प्राप्त हो जाती हैं। प्रत्याहार का अर्थ है लौटाना। इन्द्रियां अपने विषयों से लौटायी जाती हैं या लौट आती हैं। इसलिए इस प्रक्रिया को प्रत्याहार कहते हैं। इस अवस्था तक पहुंच जाने के बाद :

ततः परमा वश्यतेन्द्रियाणाम् । (२,५५)

अर्थात् प्रत्याहार की पूर्णता से इन्द्रियों की परमवश्यता हो जाती है अर्थात् इन्द्रियां पूर्णतया अपने वस में हो जाती हैं।

यहां दो बातें ध्यान में रखने की हैं। पहली बात तो यह है कि भले ही इन्द्रियां अपने वस हैं हो जायं परन्तु उनका अभाव नहीं होता। जब तक शरीर है और मनुष्य समाधि की अवस्था में नहीं बैठा है तब तक इन्द्रियां जागृत रहेंगी और उनके विषय भी सामने रहेंगे। यदि योगीश्वर शंकर भी ऐसी अवस्था में हों तो उनकी दृष्टि विषय पर पड़ जायगी। परन्तु इससे यह बात सिद्ध नहीं होती कि इन्द्रियों के प्रति उनको अवशता है। जब तक विषय इन्द्रिय को अपनी ओर आकृष्ट कर सकता है अर्थात् विषय के प्रति राग या द्वेष उत्पन्न होता है तभी तक इन्द्रियों की स्वाधीनता है। मुझे

इस विषय का भोग प्राप्त हो अथवा यह विषय अरुचिकर लगता है, ऐसी भावना जब तक हो, इन्द्रियों की बलवत्ता है। जब ऐसी अवस्था हो जाय कि इन्द्रियों के विषयों को भोग करना या न करना अपनी इच्छा की बात है, उस समय ऐसा मानना चाहिए कि इन्द्रियां साधक के वश में हैं। यह बात स्मरण रखनी चाहिए कि आंख, नाक, कान, इन्द्रियां नहीं हैं। यह तो शरीर में इन्द्रियों के अधिष्ठान हैं अर्थात् वह स्थान हैं जहां से इन्द्रियां विषयों से सम्पर्क करती हैं। आंख भले ही खुली हो परन्तु यदि चक्षु इन्द्रिय अर्थात् देखने की शक्ति इस अधिष्ठान से भीतर को खींच ली जाय तो कुछ भी न देख पड़ेगा। ऐसी अवस्था में इन्द्रियों के आकर्षण का तो प्रश्न ही नहीं उठता।

प्रत्याहार का विषय ऐसा है कि उसका बहुत कुछ अन्तर्भाव वैराग्य में हो जाता है। इससे यह प्रश्न उठ सकता है कि इसका पृथक् चर्चा क्यों किया गया और वह भी प्राणायाम के बाद? मेरी समझ में इसका विशेष कारण यह है कि जो साधक श्रद्धा और उत्साहपूर्वक अब तक अभ्यास करता आया है और इसके साथ ही वैराग्य की ओर भी बढ़ता गया है वह चाहे या न चाहे परन्तु उसकी भोगशक्ति भी बलवती हो जाती है। उनकी इन्द्रियों का प्रसुप्त सामर्थ्य जाग उठता है और यदि उनके ऊपर पूरा अंकुश न लगाया जाय तो वह बहुत अनर्थ कर सकती हैं। ऐसे बहुत से साधक हो गये हैं जो इतने ऊपर पहुंचकर पतित हो गये हैं। इसलिए विशेष रूप से इन्द्रियों को विषयों से पराङ्मुख करने की आवश्यकता है। यदि ऐसा न हुआ तो आगे की क्रियाओं में वह विशेष बाधा डाल सकती है।

अध्याय १४

योग के अंग—धारणा और ध्यान

अब तक योग के जिन अंगों का चर्चा हुआ है वह वहिरंग है। उनका परोक्ष लक्ष्य भले ही चित्त को अंकुश में लाना हो परन्तु इस काम के लिए कोई सीधा प्रयत्न नहीं किया गया है। इस अध्याय के साथ हम अन्तरंग भूमि में प्रवेश करते हैं। अब उन उपायों का चर्चा होगा जिनके द्वारा चित्त वश में किया जाता है और क्रमशः निरोध की ओर लें जाया जाता है। ऐसे तीन उपाय हैं : धारणा, ध्यान और समाधि।

इनमें से दो के लक्षण पतंजलि के अनुसार इस प्रकार हैं :

देशबन्धश्चित्तस्य धारणा।
तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्।

चित्त को किसी देश विशेष में बांधना धारणा है और जब धारणा के द्वारा प्रत्ययों की एकतानता हो जाती है अर्थात् वृत्तियों का प्रवाह एक रस हो जाता है उसको ध्यान कहते हैं। इसके बाद जो सूत्र आया है उसमें समाधि का लक्षण बताया गया है। परन्तु मैं उस विषय को अगले अध्याय में लेना चाहता हूं। इन तीनों के वाद का सूत्र कहता है :

त्रयमेकत्र संयमः।

तीनों का मिलकर नाम संयम है।

अभ्यासी का चित्त भी साधारण मनुष्यों के चित्त जैसा ही होता है। अब तक जो क्रिया की गई है उसके फलस्वरूप उसमें निश्चय ही निर्मलता आयी है, उत्तम संकल्प उठते हैं, विषयों की ओर प्रवृत्ति कुछ कम होती है। फिर भी वह अभी विक्षेप की भूमिका का अतिक्रमण नहीं कर गया। विक्षेप अवस्था में इधर उधर फेंका फिरता है, यद्यपि एकाग्रता की ओर झुकाव बढ़ चला है। उसको एकाग्र करने के लिए, किसी एक जगह स्थिर करने के लिए, उसे हठात् किसी देश विशेष पर बांधते हैं। देश शब्द के दो अर्थ हैं : एक तो शरीर के कुछ ऐसे अवयव हैं जिन पर चित्त को स्थिर करने का

प्रयत्न किया जाता है। इनमें भ्रूमध्य, नासिका का अग्रभाग, हृदय और नाभि प्रमुख हैं। प्रायः इन जगहों पर चित्त को खींचकर किसी पदार्थ विशेष के ऊपर स्थिर करने का प्रयास किया जाता है, जैसे गुरु या किसी देव देवी का विग्रह, दीपशिखा, किसी योगी का शरीर, ओंकार की ध्वनि आदि। इन आलम्बनों को भी देश कह सकते हैं। पहले तो इन उपायों से भी चित्त एक जगह नहीं ठहरता, परन्तु फिर धीरे धीरे उसमें स्थिरता आती है और प्रत्यय की एकतानता की अवस्था आ जाती है। चित्त में सामान्यतः एक प्रत्यय उठता है, क्षय होता है और दूसरा उठता है। भले ही इन प्रत्ययों में कुछ समता हो फिर भी उत्तरवर्ती प्रत्यय अपने पूर्ववर्ती से कुछ भिन्न होता है। परन्तु धीरे धीरे ऐसी अवस्था आती है जब पूर्व और उत्तरवर्ती प्रत्ययों में कोई विशेष अन्तर नहीं प्रतीत होता। जैसे जल में छोटी बड़ी लहर के बिना एक सा प्रवाह चलता रहता हो उस प्रकार की अवस्था को ध्यान कहते हैं। यहां "विशेष" शब्द को बीच में डालने का एक कारण है। प्रत्यय दिक् में नहीं होते पर काल में तो होते ही हैं। उनका और भी कोई अवच्छेदक भले ही न हो परन्तु काल अपनी अबाध गति से चलता रहता है। और भौतिक तथा बौद्धिक स्तर पर होने वाली प्रत्येक घटना को अवच्छिन्न करता रहता है। इसलिए पूर्व और उत्तरवर्ती दोनों ही प्रत्यय काल से अवच्छिन्न रहेंगे। इतना अन्तर दोनों में अवश्य होगा।

जैसा कि मैंने पहले अध्याय में दिखलाया है यह ध्यान शब्द भारत के बाहर भी पहुंच चुका है। न केवल साधारण मनुष्य वरन् कई योगी सम्प्रदायों ने भी धारणा से लेकर समाधि तक की सारी क्रिया को ध्यान नाम से ही पुकारा हैं। उन लोगों ने इतना ही किया है कि अपने यहां की शैली के अनुसार इसके उच्चारण को बदल दिया है।

ध्यान में स्थित होने के बाद ही चित्त समाधि की ओर झुक सकता है, उस अवस्था में वह निरोध की ओर उन्मुख होता है। एकाग्रता के सम्बन्ध में पतंजलि ने लिखा है :

ततः पुनः शान्तोदितौ तुल्यप्रत्ययौ चित्तस्यैकाग्रतापरिणामः।

(३,१२)

तब फिर शान्त और उदित के तुल्य प्रत्यय होना चित्त की एकाग्रता का परिणाम है।

अभी मैंने जिस बात की ओर संकेत किया था वही बात इस सूत्र में स्पष्ट की गई है। प्रत्यय निरन्तर होते रहते हैं। कम से कम जागृत अवस्था में कोई ऐसा क्षण नहीं जाता कि चित्त सर्वथा निश्चल हो। एक प्रत्यय आता है दूसरा

जाता है। जब प्रत्यय नष्ट होता है उसको शान्त कहते हैं और उसकी जगह तत्क्षण जो नया प्रत्यय उठता है उसके लिए उदित शब्द का व्यवहार होता है। शान्त और उदित के बीच में कोई अन्तराल नहीं होता, कोई निष्प्रत्यय अवस्था नहीं होती। जैसा कि पहिले भी लिखा जा चुका है अपने नष्ट होने के पहले शान्त होने वाला प्रत्यय अपने गर्भ में स्थित सारे संस्कारों को उदीयमान प्रत्यय को दे जाता है। सामान्यतः इन दोनों प्रत्ययों में कुछ न कुछ अन्तर निश्चय ही रहता है। नया प्रत्यय पुराने प्रत्यय का अनुकृत नकल नहीं हुआ करता। उसमें भले ही पुराने संस्कार सुरक्षित हों परन्तु उनके साथ देश, काल, परिस्थिति के अनुसार कुछ न कुछ नवीनता भी रहती है। परन्तु धारणा के स्थिर होने पर ऐसा होता है। शान्त और उदित दोनों प्रत्यय एक दूसरे के समान होते हैं।

सूत्रकार ने तुल्य (बराबर) शब्द का व्यवहार किया है। क्योंकि जैसा कि मैंने अभी ऊपर संकेत किया है, और कुछ नहीं तो नया प्रत्यय नये क्षण से अवच्छिन्न होगा। जब उदित प्रत्यय और शान्त प्रत्यय दोनों के विषय एक से ही प्रतीत हों उस समय ऐसा मानना चाहिए कि चित्त में एकाग्रता का परिणाम हुआ है। दूसरे शब्दों में, चित्त की अवस्था विक्षिप्त से हटकर एकाग्र हो गई है। जिस अवस्था में चित्त एकाग्र होगा वह अवस्था ध्यान की है। शान्त और उदित प्रत्ययों की तुल्यता का नाम प्रत्यय की एकतानता है।

धारणा के उपायों का कोई अन्त नहीं है। चौथे अध्याय में दार्शनिक आधार भूमि के प्रसंग में कुछ चर्चा कला का हुआ है। कलाकार भी थोड़ी देर के लिए अपने चित्त को एकाग्र कर सकता है। अच्छा विचारक भी ऐसा कर सकता है और दोनों को थोड़ा बहुत उस प्रकार का अनुभव हो सकता है जो योगी को हुआ करता है। इसमें दोष है तो यह कि यह कोई एसी निश्चित प्रक्रिया नहीं है जिसका आश्रय लेकर जब चाहे तब वह अवस्था उत्पन्न की जाय। कुछ लोग और भी अनोखे उपायों से चित्त की आंशिक एकाग्रता उत्पन्न कर लेते हैं। इस सम्बन्ध में अंग्रेजी के प्रसिद्ध कवि आल्फ्रेड टेनीसन की कथा का स्मरण हो आता है। बिना किसी के बताये ही उन्होंने अपनी एक युक्ति ढूंढ़ निकाली थी। कभी कभी एकान्त में बैठकर अपने नाम का जप करने लगते थे। थोड़ी देर तक आल्फ्रेड टेनीसन ऐस कहते कहते उनको बाहरी दृश्यों की ओर से एक प्रकार की विस्मृति सी हो जाती थी और अपनी आत्मा में विचित्र विस्तार का अनुभव करने लगते थे कि जैसे मैं विश्वव्यापी होता जा रहा हूं और साधारण सुखों और दुःखो से किसी आनन्द का अनुभव कर रहा हूं। थोड़ी देर में इस अवस्था का आपसे आप क्षय हो जाता था।

चित्त का निश्चय ही देश विशेष में बंधन हो और धारणा में परिणत हो इस लक्ष्य को सामने रखकर पतंजलि ने कुछ उपाय बताये हैं। सब के लिए एक ही उपाय उपयुक्त नहीं है। अपने अपने शरीर और चित्त की बनावट के अनुसार उपाय भी पृथक्-पृथक् होंगे। किसके लिए कौन सा उपाय उपयुक्त है इसका उसके दैशिक, उसके उपदेष्टा गुरु, ही चयन करेंगे।

यों तो पतंजलि के बताये हुए सभी पर्याय श्रेयस्कर हैं परन्तु मैं इनमें से कुछ का ही चर्चा करूंगा। यह ध्यान में रखने की बात है कि पतंजलि ने अपनी ओर से इनमें से किसी को प्रधानता नहीं दी है। प्रत्येक सूत्र में "वा" शब्द आया है जिसका अर्थ है या। इनके बतलाये हुए साधनों में से कोई भी अपनी रुचि, गति और शक्ति के अनुसार चुना जा सकता है।

इस सम्बन्ध का पहला सूत्र है :

प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य। (१,३४)

प्राण के प्रच्छर्दन और विधारण से।

विकल्प सूचक "वा" का अर्थ हर सूत्र में करना अनावश्यक समझता हूं। प्रच्छर्दन का अर्थ है वमन करना, बाहर निकालना और विधारण का अर्थ है रोकना। अतः यह दोनों शब्द रेचक और कुम्भक के वाचक हैं। यद्यपि सूत्र में पूरक के लिए कोई शब्द नहीं आया है परन्तु विषय बताता है कि यहां पूरक की भी अपेक्षा है। तब सूत्र का पूरा अर्थ हुआ, पूरक कुम्भक और रेचक, के द्वारा चित्त में एकाग्रता लायी जा सकती है। इस विषय पर १३वें अध्याय में जो लिखा गया है उससे पर्याप्त प्रकाश पड़ना चाहिए। जहां पूरक आदि का नाम है वहां तो निश्चय ही प्राण शब्द श्वास प्रश्वास के लिए प्रयुक्त हुआ है। लौकिक व्यवहार भी ऐसी ही है। परन्तु जैसा कि मैंने उसी अध्याय में दिखलाया था सांस का नियंत्रण करना योगी का मुख्य अभीष्ट नहीं है। यह क्रिया तो इसलिए की जाती है कि इसके द्वारा नाड़ी संस्थान का नियंत्रण होता है और नाड़ी संस्थान के नियंत्रण होने पर चित्त नियंत्रण में आ जायगा। यही योगी का लक्ष्य है। प्राणायाम और आगे के योगांगों में जो सम्बन्ध है उसका भी चर्चा इस अध्याय में उचित समझता हूं। इस जगह प्रयत्क्ष या संकेत के द्वारा कही हुई कुछ बातों की ओर ध्यान आकृष्ट मात्र किया जा सकता है।

योग की किताबों में प्राण शब्द कहीं कहीं बहुवचन में प्रयुक्त होता है। इससे भी भ्रम हो सकता है। इस सम्बन्ध में शिव संहिता का यह श्लोक द्रष्टव्य है :

प्राणस्य वृत्तिभेदेन, नामानि विविधानि च।
वर्तन्ते तानि सर्वाणि, कथितुं नैव शक्यते ॥२३॥

अर्थात् वृत्ति भेद से प्राण के वहुत से नाम हैं। इन सव को वतलाना शक्य नहीं है।

इस कहने का अर्थ यह है कि प्राण शरीर में विभिन्न प्रकार के जितने काम करता है उनको ध्यान में रखकर उतने ही नाम हैं। प्राण के द्वारा भौतिक, वौद्धिक, आध्यात्मिक स्तरों पर जितने काम हो रहे हैं उन सव की सूची वनाना असम्भव है। किसी ने आज तक इसका प्रयास नहीं किया। इसलिए प्राण के नामों की सूची वनाना भी असम्भव है। फिर भी सुविधा के लिए दस नाम गिनाये जाते हैं : प्राण, अपान, समान, उदान, व्यान, नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त और धनंजय। इनमें भी प्रथम पांच का महत्त्व विशेष है। प्राण के इन भेदों के यह स्थान हैं : प्राण हृदय में, अपान गुदस्थान में, समान नाभि में, उदान कंठ में, व्यान शरीर के अन्य भागों में, नाग डकार में, कूर्म आंख के खोलने और वन्द करने में, भूख और प्यास के स्थानों में उदर में कृकल, जम्हाई में देवदत्त और हिचकी में धनंजय। परन्तु वस्तुतः यह सव उस एक ही प्राणरूपी महाशक्ति के भेद हैं, जो शरीर में सर्वत्र नाड़ियों में संचार कर रही है। कभी कभी इनका अलग अलग उल्लेख करने में सुविधा हो सकती है। परन्तु इस वात को सदैव ध्यान में रखना चाहिए कि प्राण एक है और विभिन्न नामों से शरीर के छोटे वड़े सभी कामों में इसी का नियंत्रण है। जो शान्ति के साथ अभ्यास के कर्म में लगा रहेगा उसको आपसे आप जो कुछ अनुभव होना है वह हो जायगा। यदि किसी को यह प्राणायाम द्वारा समाधि तक पहुंचने का मार्ग रुचिकर प्रतीत होता है और उसका शरीर इस योग्य है तथा उसके गुरु को उसका इस मार्ग पर चलना सम्मत है तो मैं उसके लिए साधुवाद ही कह सकता हूं। निश्चय ही, उसके लिए यह श्रम कल्याणकारी होगा अन्यथा पतंजलि ने "वा" करके जो और कई मार्ग वतलाये हैं उनमें से कोई भी मार्ग तुल्य फलदायक है। किसी भी मार्ग से चला जाय यह विश्वास अपने सामने रखना चाहिए कि उद्देश्य निश्चय पूरा होगा :

त्रिवेणीसंगमो यत्र, तीर्थराजः स उच्यते।
तत्र स्नानं प्रकुर्वीत, सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥

जहां त्रिवेणी संगम है वहीं तीर्थराज है। वहां स्नान करके सब पापों से मुक्त हो जाता है। इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना जहां मिलती हैं वह भ्रू मध्य का स्थान त्रिवेणी है। यह बात दूसरे शब्दों में जावालोपनिषद् में कही गयी है। वरना और नासा के

वीच में अविमुक्त क्षेत्र वाराणसी प्रतिष्ठित है। सब इन्द्रियकृत दोषों को हटा देती है इसलिए वरना नाम पड़ा। सब इन्द्रियकृत पापों का नाश कर देती है इसलिए इसको नाशी कहते हैं। इसका स्थान कहां है ? नाक और दोनों भ्रुवों की जहां संवि है वह देवलोक और उससे ऊपर के लोक का संवि स्थान है। जो ब्रह्मवेत्ता इस संवि स्थान में संध्या करता है वह अविमुक्त और उपासना करने के योग्य है अर्थात् वह मुक्त हो गया है और इस योग्य हो गया है कि स्वयं उसकी उपासना की जाय। इस त्रिवेणी में स्नान करने और इस वाराणसी में संध्या करने के उद्देश्य से सावक जिस किसी भी सद्गुरु, उपदिष्ट मार्ग से अभ्यास करेगा वह अपने गन्तव्य स्थान पर निश्चय ही पहुंचेगा।

इस शृंखला का एक दूसरा सूत्र है :

ईश्वरप्रणिधानाद् वा । (१,२३)

अर्थात्, ईश्वर के प्रणिवान से।

ईश्वर के प्रणिवान का चर्चा नियमों के प्रसंग में आ चुका है। परन्तु यहां का सन्दर्भ उस स्थल से भिन्न है। योग के अंगों में नियमों का स्थान यमों की अपेक्षा गौण है। उन नियमों से ही ईश्वरप्रणिवान एक है। परन्तु यहां उसकी गणना चित्त की एकाग्रता और तत्परम् समावि की प्राप्ति क प्रवान सावनों में की गई है। अतः यद्यपि उनसे सम्वन्व के कई महत्त्वपूर्ण पहलुओं पर विचार किया जा चुका है, फिर भी यहां कुछ अविक विचार विमर्श करने की आवश्यकता प्रतीत होती है।

ईश्वर की सत्ता के सम्वन्व में चतुर्थ अव्याय में कुछ विचार हो चुका है। मैंने वहां यह दिखलाया है कि ईश्वर से अभिन्न उसके चित्त में जिसको हिरण्यगर्भ कहते हैं वह स्फुरण हुआ जो आगे चलकर चेतन अचेतन जगत् के रूप में विस्तृत हुआ। वेद में यह वात कई जगह स्पष्ट करके कही गयी है। नासदीय सूक्त में कहा है :

आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद् हान्यद् नहि किंचनास ।

अपनी स्वधा नाम्नी पराशक्ति के साथ वह विना हव के सांस ले रहा था। उसके सिवाय और कुछ नहीं था।

हिरण्यगर्भः समवर्ततताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत् ।

आरम्भ में केवल हिरण्यगर्भ था। वह सब उत्पन्न भूतों का पति था। भूत

शब्द के दो अर्थ होते हैं : प्राणी और जड़ पदार्थ। कहने का तात्पर्य यह है कि वह जड़ और चेतन सभी का स्वामी था।

यो देवानाम् प्रभवश्चोद्‌भवश्च विश्वाधिपो रुद्रो महर्षिः ।
हिरण्यगर्भं जनयामास पूर्वं स नो बुद्ध्या शुभया संयुनक्तु ॥

जो देवों के प्रभव और उद्‌भव अर्थात् निमित्त और उपादान कारण है, जो सर्वत्र व्यापक है और विश्व का स्वामी रुद्र है, जिसने पहले हिरण्यगर्भ को जन्म दिया वह हमको शुभ बुद्धि से युक्त करे।

यह ईश्वर का विभिन्न दृष्टिकोणों से वर्णन है। यों तो कोई भी वर्णन यथार्थ रूप से उसका कथन नहीं कर सकता। इसीलिए वेद उसके सम्बन्ध में कहता है नेति, नेति—यह नहीं, यह नहीं। जो भी वर्णन किया जायगा वह वास्तविकता से बहुत नीचा होगा। यह ईश्वर वह चेतन समुद्र है जिसमें असंख्य जीव बुद्‌बुद् के समान देख पड़ते हैं। वस्तुतः वह अच्छेद्य है, इसलिए अच्छिन्न है। परन्तु जीव अपने को उसका अंश समझता है। इस कारण अपनी कल्पित अल्पज्ञता, अल्पदेशीयता और अल्पशक्तिमत्ता से खिन्न होता रहता है और सदा उस विद्या और शक्ति के भंडार से मिलने के लिए व्याकुल रहता है। भाग्य से सद्‌गुरु का साथ हो जाता है और वह उसके चित्त में यह बात दृढ़ता है कि तू भी मेरे ही समान है, ईश्वर से अभिन्न है। कोई भाग्यशाली जीव गुरु का उपदेश मानकर सन्मार्ग पर चलता है। ज्यों ज्यों देर होती है उसकी व्याकुलता बढ़ती है। यह आशंका बनी रहती है कि शरीर छूट जाने पर मैं ईश्वर के साथ संयोग प्राप्त करने से, दूसरे शब्दों में आत्मसाक्षात्कार करने से, वंचित ही रह जाऊंगा। उसकी यह विरह व्यथा उसको लक्ष्य की ओर ले जाती है। उसको अपना कुछ देख ही नहीं पड़ता। जो कुछ है ईश्वर है, ईश्वर का है, अपने सारे कर्म ईश्वरार्पित कर देता है।

परन्तु केवल ईश्वर ईश्वर करने से काम नहीं चलता। ऐसे बहुत से लोग हैं जो हर बात में ईश्वर का नाम लेते हैं। प्रत्येक संकल्प के, पहले इतना जोड़ देते हैं कि "यदि ईश्वर की इच्छा हुई तो"। ईश्वर के नाम पर गाते हैं, बजाते हैं, नाचते हैं, विह्वल देख पड़ते हैं। पतंजलि इन बातों को कोई महत्त्व नहीं देते। उन्होंने ईश्वर प्रणिधान के बारे में दो सूत्र कहे हैं जिनका बहुत बड़ा महत्त्व है। पहला है :

तस्य वाचकः प्रणवः । (१,२७)

उसका वाचक प्रणव है।

प्रणव शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार की जाती है :

प्रकर्षेण नूयते स्तूयते अनेन इति प्रणवः ।

जिसके द्वारा प्रकर्ष के साथ स्तुति की जाय वह प्रणव है। कहने का संकेत यह है कि प्रणव के द्वारा ईश्वर की स्तुति विशेष रूप से की जाती है। ओंकार को प्रणव कहते हैं। यों तो चौथे अध्याय में दार्शनिक रूपरेखा देते हुए यह बतलाया गया है कि आकाश से जो प्रथम शब्द, आदि शब्द, निकला वह प्रणव है। वह कान से सुना जाने वाला कोई स्वन नहीं है, दो वस्तुओं के टकराने से उत्पन्न किसी प्रकार की आवाज नहीं है। प्रणव के बाद ही सारे भौतिक जगत् का सर्जन हुआ। प्रणव रूपी नाद से ही जगत् रूपी बिन्दु प्रकट हुआ।

वस्तुतः तो प्रणव अनुच्चार्य है। भले ही अपेक्षा की दृष्टि से उसकी चार मात्रा मानकर तीन मात्रा में अ, उ और म् को उच्चार्य और अर्धमात्रा को अनुचार्य कहा जाय परन्तु वस्तुतः सम्पूर्ण प्रणव अनुच्चार्य है। जैसा कि हम चौथे अध्याय में दिखला आये हैं, प्रणव की अनुभूति उस प्रकार के स्वन जैसी नहीं होती जिसका ग्रहण श्रवण इन्द्रिय सामान्य रूप से करती है। उसका अनुभव गति के रूप में होता है, गति भी ऐसी सूक्ष्म और दिव्य जो साधक के अन्तस्थल को हिला देती है। गति का अनुकरण अक्षरों और शब्दों से हो भी कैसे सकता है, और फिर गति भी ऐसी जो किसी प्रकार के पदार्थों के आघात से उत्पन्न नहीं हुई। सभी भाषाओं के सभी शब्द, संगीत में प्रयुक्त सभी स्वर, सभी वर्णमालाओं के सभी अक्षर, इसी प्रणव के विलास हैं। वेद कहते हैं :

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति, तपांसि सर्वाणि च यद् वदन्ति।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति, तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीमि।
ओमित्येतत् ॥

सब वेद जिस पद का उच्चारण करते हैं, सब तपस्वी जिसका वर्णन करते हैं, जिसकी इच्छा से ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं, वह पद तुमसे संक्षेप में कहता हूं : वह यही ओ३म् है।

मांडूक्य उपनिषद् के अनुसार

ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वं तस्योपव्याख्यानं भूतं भवद् भविष्यदिति
सर्वमोंकार एव। यच्चान्यत् त्रिकालातीतं तदोंकार एव।

यह सब कुछ "ओ३म्" अक्षर है। उसकी महिमा यह है कि भूत, वर्तमान

और भविष्यत् सब ओंकार है और त्रिकाल के परे जो कुछ भी है वह भी ओंकार ही है।

इस प्रकार सभी योगियों ने ओंकार के महत्त्व का चर्चा किया है। बौद्ध और जैन सम्प्रदायों में भी ओंकार का वही आदरणीय स्थान है। यह ओंकार ईश्वर का प्रतीक है। इसके ऊपर पहुंचकर और ऐसा कोई रूप नहीं है जिससे ईश्वर का ग्रहण किया जा सके। कोई प्रतीक मिलता ही नहीं जिससे कुछ भी उपमा दी जा सके। इस सूत्र के बाद पतंजलि कहते हैं :

तज्जपस्तदर्थभावनम्। (१,२८)

अर्थात् ओंकार का जप और उसके अर्थ की भावना करना चाहिए।

यां तो अच्छे लोग कहते हैं कि जब भी मनुष्य को अवकाश हो, वह मुंह से ओंकार का जप करता रहे। मुंह शुद्ध होता है, चित्त शुद्ध होता है और चित्त को एक अच्छे काम में लगे रहने के कारण बुरे कामों की ओर बहकने का कुछ कम अवसर मिलता है, फिर भी जैसा कि श्रीकृष्ण ने कहा है :

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन् मामनुस्मरन्।
यः प्रयाति त्यजन् देहं स याति परमां गतिम्॥

मरते समय ओंकार रूपी एकाक्षर ब्रह्म का उच्चारण करता हुआ और मेरा स्मरण करता हुआ जो मनुष्य प्राण छोड़ता है वह परम गति को प्राप्त होता है।

इसलिए भी ओंकार के जप का अभ्यास करना अच्छा है, नहीं तो मृत्यु के समय उसका उच्चारण करना कठिन हो जायगा। यह सब तो अपने स्थान पर ठीक है परन्तु पतंजलि का तात्पर्य इस सूत्र में मौखिक जप से नहीं है। उनका तो यह उपदेश है कि मनुष्य योग का अभ्यास करे और अभ्यास करते करते उस पद पर पहुंचे जहां वह नाद आपसे आप हो रहा है। यही सच्चा जप है। मुंह से किसी ध्वनि की अनुकृति करना तो बड़ा स्थूल उपाय है। उन्होंने यह भी कहा है कि जप के साथ साथ प्रणव के अर्थ की भावना करनी चाहिये। प्रणव की लोग व्युत्पत्ति इस प्रकार करते हैं कि वह अ, उ और म इन तीनों अक्षरों से मिलने से बना है और अकार, उकार, मकार का अर्थ ब्रह्मा, विष्णु, महेश अर्थात् ब्राह्मी, वैष्णवी और रौद्री शक्ति किया जाता है। इस प्रकार इन तीन अक्षरों को मिलाकर ईश्वर के सृष्टिकर्त्ता, पालनकर्त्ता और संहार कर्त्ता रूप निकलते हैं। अतः प्रणव का अर्थ जगत् का रचयिता, पालयिता और संहार-कर्त्ता ईश्वर होता है। अर्थ भावना का तात्पर्य हुआ इस अर्थ को अपने सामने रखना।

स्वाध्याय करने के लिए अर्थ की यह भावना ठीक हो सकती है। ईश्वर की सत्ता के यह तीन पहलू माने जा सकते हैं। परन्तु जो व्यक्ति ईश्वर के प्रणिधान में ईश्वर की भक्ति में डूबा हुआ है उसका काम किसी दार्शनिक विचारमात्र से नहीं चलता। उसके लिए तो ईश्वर की वह सत्ता है जिसकी अनुभूति उसको चित्त की एकाग्रता की अवस्था में होती है। यदि साधक शान्ति से बैठकर प्रणव का उच्चारण करता है और सब विचारों को चित्त से दूर कर देता है तो उसको आप ही ईश्वर का साक्षात्कार होगा। ईश्वर कोई ऐसा व्यक्ति नहीं है जिसका कोई एक निश्चित रूप हो। उसके हाथ पांव नहीं हैं, दूसरा अवयव नहीं है, रूप रंग नहीं है, वह तो साधक की स्वयं आत्मा है। ज्यों ज्यों प्रणव के जप का अभ्यास बढ़ेगा त्यों त्यों भेद के पर्दे हटते जायंगे और साधक को ईश्वर का साक्षात्कार होता जायगा। एक दिन वह भी होगा जब वह यह कह सकेगा :

> वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्।
> तमेव विदित्वाऽति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ॥

मैं उस महान पुरुष को जानता हूं जो अंधेरे के पार है और आदित्य वर्ण है। उसको ही जानकर मनुष्य मृत्यु के पार जाता है। मोक्ष के लिए कोई दूसरा मार्ग नहीं है।

इस मंत्र में तम से अभिप्राय अविद्या से है और आदित्य वर्ण कहने का अभिप्राय है ज्ञानस्वरूप।

पतंजलि का बताया हुआ एक और उपाय है :

> विषयवती वा प्रवृत्तिरुत्पन्ना मनसः स्थितिनिबन्धिनी।

विषयवती प्रवृत्ति उत्पन्न होने पर मन की स्थिति को बांध देती है। सब साधक एक से नहीं होते। किसी किसी साधक की मनोवृत्ति किसी ऐसी वस्तु को ढूंढ़ती है, कोई ऐसी अनुभूति चाहती है, जो गुरु के बतलाये हुए मार्ग पर उसकी श्रद्धा को दृढ़ कर दे।

पलटूदास जी ने एक जगह कहा है :

> सद्गुरु तुम्हरे वचन को पलटू ना पतियाय।
> अमृत का सागर भरा देखे प्यास न जाय।

पलटू साहब का तो तात्पर्य यह था कि गुरु के मुख से ब्रह्म के सम्बन्ध में सुन्दर

सुन्दर प्रवचन सुनने से ही काम नहीं चल सकता। जिज्ञासु को स्वयं वैसा अनुभव होना चाहिए।

परन्तु पलटू के यह शब्द उस दुर्बल साधक की भावना को भलीभांति व्यक्त करते हैं जो अपने चित्त में दृढ़ता लाने के लिए कोई प्रमाण चाहता है। मेरी निज की समझ में तो इस साधक में अभी बहुत कमी है। उसमें संवेग की पर्याप्त तीव्रता नहीं आयी है और गुरु के ऊपर पूरा विश्वास भी नहीं है, नहीं तो बच्चों की भांति प्रमाण न ढूंढ़ता। फिर भी कुछ ऐसे चुटकुले हैं जिनसे कुछ थोड़ा बहुत रोचक और प्रलोभक अनुभव हो जाता है। इनकी ओर इस सूत्र में संकेत है और इनमें से कुछ की ओर भाष्यकार ने भी संकेत किया है। उदाहरण के लिए, नासिका के अग्र भाग पर कुछ काल तक चित्त एकाग्र करने से गंध संवित् होता है। इसी प्रकार जिह्वा के अग्र भाग पर चित्त एकाग्र करने से रस की अनुभूति होती है। गंध आदि का आस्वाद इन्द्रियों का विषय है, इसीलिए उनके आधार पर जो प्रवृत्ति जगायी जाती है उसको विषयवती प्रवृत्ति कहते हैं।

और उपायों के साथ साथ पतंजलि ने कहा है :

यथाभिमतध्यानाद् वा। (१,३९)

जो ध्यान अच्छा लगे उसके द्वारा।

इस सूत्र के द्वारा पतंजलि ने सचमुच गागर में सागर भर दिया है। यह सूत्र एक महत्त्वपूर्ण मनोवैज्ञानिक तथ्य पर आधारित है। जगत् में लाखों ऐसी वस्तुयें हो सकती हैं जो मनुष्य को अपनी ओर आकर्षित करती हैं। किसी किसी का आकर्षण क्षण-स्थायी होता है परन्तु किसी आकर्षण में चिरस्थायित्व भी होता है। यह सब वस्तुयें छोटी हों यह बड़ी, किंचित् काल के लिए चित्त पर बंधन का काम करती हैं और इन सबके युगपत् खिंचाव के कारण चित्त निरन्तर विक्षेपावस्था में पड़ा रहता है। परन्तु किन्हीं विशेष परिस्थितियों में इनमें से एक अधिक प्रबल हो जाती है और वह चित्त को एकाग्रता की ओर ले जाने में समर्थ होती हैं। अभिमत शब्द कहकर पतंजलि ने इसकी अपेक्षा रखी है कि किस को अभिमत? वस्तुतः इस सूत्र की मीमांसा दो तरह से कर सकते हैं—उपदेष्टा गुरु को जो पदार्थ अभिमत हो, पसन्द हो उसके द्वारा चित्त में स्थिरता लायी जा सकती है। इसके साथ ही यदि साधक को कोई वस्तु विशेष रूप से अभिमत हो तो वह भी चित्त की एकाग्रता का साधन बन सकती है। किसी पुराण में एक कथा है कि किसी ग्वाले को अपनी भैंस बहुत प्यारी थी। वह किसी महात्मा के पास पहुंचा। उन्होंने उसको उसी भैंस का ध्यान करने को कहा। ज्यों ज्यों

ध्यान की तीव्रता वढ़ती गई त्यों त्यों उसकी अनुभूति का रूप भी वदलता गया। पहले भैंस का सारा शरीर देख पड़ता था, फिर केवल उसका सिर रह गया और अन्त में केवल एक आंख रह गयी। ध्यान पूरा हुआ और वह गोपालक उसी के सहारे ऊंची भूमिकाओं में प्रवेश कर सका।

इस सूत्र के कहने के वाद अन्य कई सूत्र निरर्थक और अनावश्यक हो जाते हैं। उदाहरण के लिए :

वीतरागविषयं वा चित्तम् । (१,३७)

कहा गया है। जो लोग महायोगी हो गये हैं और राग और द्वेष के ऊपर उठ चुके हैं उनसे तादात्म्य स्थापित करने के प्रयत्न से भी एकाग्रता होती है। अपने इष्टदेव के साथ तादात्म्य उत्पन्न करने से भी इसी अभीष्ट की सिद्धि होती है। सच तो यह है कि यह क्षेत्र इतना वड़ा है कि किसी भी व्यक्ति को जो चित्त को एकाग्र करके ऊपर की भूमियों में जाना चाहता है यथेष्ट आलम्वन मिल सकता है। एक सूत्र है :

स्वप्ननिद्राज्ञानालम्वनं वा । (१,३८)

स्वप्न और निद्रा का ज्ञान जिसका आलम्वन है उसके द्वारा यह सूत्र कठिन है और मैं देखता हूं कि प्राय: किसी टीककार ने इसकी यथार्थ मीमांसा नहीं की है। सम्भव है भूल मेरी ही हो परन्तु मैं भाष्यकार तथा दूसरे टीकाकारों से सहमत नहीं हो सकता। स्वप्न और निद्रा के वीच में कभी कभी एक तंद्रा की अवस्था आती है। जागृत काल का अतिक्रमण हो चुका होता है। सुषुप्ति आनेवाली है। क्षण भर के लिए वीच में यह तंद्रा की अवस्था आती है। इसमें कुछ अंश स्वप्न का है और कुछ सुषुप्ति का। यदि इस क्षणिक अवस्था पर चित्त लगाया जा सके तो उससे एक प्रकार का आत्मसम्मोहन सा होता है। यदि वह चिरस्थायी वनाया जा सके तो वह भी चित्त को, एकाग्र करने में सहायता देता है।

ऊपर जिन उपायों का चर्चा किया गया है वह सव कल्याणकारी हैं। उनमें से कोई भी कार्यसिद्धि का उपकरण हो सकता है। परन्तु इन सव में एक कमी प्रतीत होती है। इन सव का विनियोग व्यक्तियों के लिए होता है। प्रत्येक व्यक्ति अपने लिए अपने मनोनुकूल आलम्वन चुन लेता है और उसी प्रकार चित्त को एकाग्र करने का प्रयास करता है। इस प्रयास में सफलता भी हो सकती है। परन्तु जो वातें सार्वभौम प्रतीत हों उनके ही आधार पर कोई सीढ़ी नहीं खड़ी की जा सकती •जिस पर पांव रखकर प्रत्येक व्यक्ति निःशंक होकर अध्यात्म शिखर तक जा सके।

उपर्युक्त उपायों में ईश्वरप्रणिधानाद् वा स्यात् ऐसा सूत्र है जो सबके काम का हो। ऐसा लगता है कि सभी लोग ईश्वर के भक्त हो सकते हैं। परन्तु एक बात ध्यान देने की है। भक्ति प्रेमस्वरूप है और प्रेम बंधन या दबाव का सहन नहीं कर सकता। ईश्वर को लक्ष्य करके उपासना कई मार्गों से की जा सकती है। परन्तु प्रेम हठात् नहीं किया जा सकता। इसलिए देखने सुनने में तो भक्ति मार्ग बहुत सरल प्रतीत होता है परन्तु है वह बहुत कठिन। इसलिए इस बात की आवश्यकता है कि कोई ऐसा मार्ग हो जो राजमार्ग की तरह सब के लिए खुला हो और साथ ही हठयोग की भांति कंटकाकीर्ण और श्रमसाध्य भी न हो। ऐसा एक ही मार्ग है जिसको प्राचीन पुस्तकों में नादानुसंधान (नाद का अनुसंधान) कहा गया है और जिसे सन्तमत के आचार्यों ने सुरति शब्दयोग कहकर पुकारा है।

सुरति संस्कृत के स्वरति का अपभ्रंश है। यह चित्त की एकाग्राभिमुखी, एक एकाग्रप्राग्भारा अर्थात् एकाग्रता की ओर झुकी हुई, वृत्ति को कहते हैं। शब्द से तात्पर्य उस आदि शब्द प्रणव से है जिसका चर्चा पहले कई बार आ चुका है। यही परा-वाक् है, वह परावाक् जो शरीर में परमात्मा की पराशक्ति का स्वरूप है जिसके सम्बन्ध में ऋग्वेद (१,१६४,४५) कहता है :

> चत्वारि वाक् परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः।
> गुहा त्रीणि निहिता नेंगयन्ति, चतुर्थं वाचं मनुष्या वदन्ति॥

वाक् के चार स्थान हैं जिनका मनीषी ब्राह्मण ही जानते हैं। इनमें से तीन छिपे हुए हैं उनको लोग नहीं जानते। चौथे वाक् को मनुष्य आदि सब लोग बोलते हैं।

वाक् के चार स्थान वैखरी, मध्यमा, पश्यन्ती तथा परा हैं। वैखरी वाणी का वह रूप है जो प्राणियों के मुख से उच्चरित होता है। मध्यमा, पश्यन्ती और परा सूक्ष्म हैं। इनमें से परा सबसे सूक्ष्म है। वाक् ने स्वयं अपनी महत्ता और शक्ति को ऋग्वेद (१०,१२५,१) के इन शब्दों में घोषित किया है :

> अहं रुद्रेभिर्वसुभिश्चरामि, अहमादित्यैरुत विश्वदेवैः।
>
> ......
>
> अहं रुद्राय धनुरातनोमि ब्रह्मद्विषे शरवे हन्त वा उ।
>
> ......
>
> यं कामये तं तमुग्रं कृणोमि तम् ब्रह्माणं तमृषिं तं सुमेधाम्॥

मैं रुद्रों, वसुओं, आदित्यों और विश्वे देवों द्वारा काम करती हूं।

मैं ब्रह्म द्वेषी का संहार करने के लिए रुद्र के धनुष को तानती हूं।

जिसको चाहती हूं उसको उग्र बनाती हूं, उसको ब्रह्मा बनाती हूं, उसको ऋषि बनाती हूं, उसको मेधावी बनाती हूं।

वेद में और भी स्थल स्थल पर वाक् और प्रणव के सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण बातें कही गयी हैं। यहां पर थोड़े से ही ऐसे अवतरण देता हूं जो इन विषयों पर प्रकाश डालते हैं :

१. वागेवैतत् सर्वं विज्ञापयति वाचमु उपास्स्वेति।

(छान्दोग्य ७।२।१)

वाक् ही यह सब है, ऐसा बतलाया गया है, वाक् की उपासना करो।

२. वाग्वा ओंकारो वागेव ह्यनुजानामि चिन्मयो
ह्ययम् ओंकारश्चिदेव ह्यनुज्ञाता।

(नृसिंहोत्तर० ८, ६)

वाक् ही ओंकार है। ऐसा बतलाया जाता है। यह ओंकार चिन्मय है। जानने वाला भी चिन्मय है।

३. वाग्वै ब्रह्म।

(बृहदारण्यक० १, ३, २१)

वाक् निश्चय करके ब्रह्म है।

४. वागेवेदं सर्वं न ह्यशब्दम् इवेहास्ति
चिन्मयो ह्ययम् ओंकारः, चिन्मयमिदं सर्वम्।

(नृसिंहोत्तर० ८, २, २)

यह सब वाक् है। इस जगत् में शब्दहीन कुछ भी नहीं है। यह ओंकार चिन्मय है। यह सब जगत् चिन्मय है।

वाङ मे मनसि प्रतिष्ठिता मनो मे वाचि प्रतिष्ठितम्।

(ऐतरेय० ६,१)

मेरी वाक् बुद्धि में प्रतिष्ठित है। मेरी बुद्धि वाक् में प्रतिष्ठित है।

वाग्वै माता प्राणः पुत्रः।
(ऐतरेय० १।६।६)

इन अवतरणों से वाक् और प्रणव का सम्बन्ध स्पष्ट हो जाता है। परा वाक् ही प्रणव है। जब साधक का अभ्यास दृढ़ होता है तो वह प्रणव रूपी महानाद का अनुसरण करता है और उसकी सुषुप्त वाक् शक्ति भी जागृत होती है। उसका प्राण सुषुम्ना में प्रवेश करके ऊपर को चढ़ता है। दूसरे शब्दों में, कुंडलिनी प्रबुद्ध होकर सहस्रार की ओर बढ़ती है। जब अभ्यास पूर्ण होता है तब प्राण की यात्रा समाप्त हो जाती है। कुंडलिनी रूपी शक्ति का शिव से संयोग हो जाता है। साधक प्रणव नाद में लीन होता है और उसको परा वाक् की प्राप्ति होती है। नाद के अनुसंधान करने की क्रिया को सुरति शब्द योग कहने का तात्पर्य यह है कि एकाग्रप्राय चित्त परा वाक् का अनुसंधान करता है या यों कहिए कि उसका आश्रय लेकर उसको धारणा का विषय और साधन बनाकर समाधि के लिए प्रयास करता है। उस प्रयास के सम्बन्ध में उपनिषद् की यह उक्ति है :

प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते।
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत्॥

प्रणव धनुष है। आत्मा तीर है, और ब्रह्म उसका लक्ष्य है। प्रमादरहित होकर लक्ष्य पर निशाना लगाना चाहिए। यदि ऐसा किया गया तो तीर की भांति तन्मय हो जायगा।

कहने का तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार अच्छी तरह निशाना लगाने पर तीर लक्ष्य के भीतर जाता है उसी प्रकार आत्मारूपी तीर ब्रह्मरूपी लक्ष्य के साथ तन्मय हो जायगा। उस समय वह सब कलुष जो जीव को जीव बनाये हुए हैं दूर हो जायंगे और वह ब्रह्मस्वरूप हो जायगा। इस बात को उपनिषद् में इन शब्दों में कहा है :

आत्मानमरणिं कृत्वा प्रणवं चोत्तरारणिम्।
ज्ञाननिर्मथनाभ्यासात्, पापं दहति पूरुषः॥

आत्मा को अरणि और प्रणव को उत्तरारणि[1] बनाकर ज्ञान के द्वारा बराबर मथने से पुरुष पाप को जला देता है।

---

१. अरणि और उत्तरारणि वह दोनों लकड़ियां हैं जिनको रगड़ने से वैदिक यज्ञ

इस कहने का कि सुरति शब्द योग की पद्धति में नाद को धारणा का आश्रय बनाया जाता है यह न समझना चाहिए कि आसन लगा कर बैठते ही नाद का साक्षात्कार हो जाता है और अभ्यासी उसको अपने चित्त में पकड़ लेता है। ऐसी बात नहीं है। अनेक जन्मों से पुण्य उदय होते हैं तब परा वाक् का कुछ परिचय मिलता है। वह साधक धन्य है और उसका गुरु सचमुच पूजास्पद है जिसको सफलता की झलक अभ्यास आरम्भ करने के थोड़े ही दिनों के भीतर मिलने लगे। पहले मूल नाद नहीं प्रत्युत अनाहत का अनुभव होता है। जैसा कि पहिले भी कहा जा चुका है अनाहत उस नाद को कहते हैं जो विना दो भौतिक वस्तुओं के टकराये स्वतः विश्व में गूंजता रहता है। यह क्या है? इसके सम्बन्ध में कम लोगों ने स्पष्ट शब्दों में कहा है।

कबीर ने एक जगह कहा है :

तत्व झंकार ब्रह्मंड मांही

इसका तात्पर्य यह हुआ कि महाभूतों के परमाणु जिनसे यह जगत् बना है निरन्तर गतिशील हैं, कम्पनशील हैं। उनमें आकर्षण और विकर्षण भी होता रहता है। एक दूसरे के पास आते हैं, एक दूसरे से हटते हैं। फलतः उनके सान्निध्य में आकाश भी निरन्तर क्षुब्ध रहता है। प्रत्येक परमाणु के प्रकम्पन से जो ध्वनि निकलती है वह बहुत ही सूक्ष्म होती है। परन्तु इन ध्वनियों का समुच्चय नाद का वह विशाल समुद्र है जिसकी उत्ताल तरंगें समूचे विश्व में, व्याप्त हैं। साधारणतः मनुष्य को इस शब्दसागर में डुबकी मारने की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। वह इसका अवगाहन नहीं करना चाहता क्योंकि ऐसा करने में उसकी वासनाओं की किसी प्रकार तृप्ति नहीं होती। इसलिए उसकी ओर ध्यान नहीं देता परन्तु जब चित्त को बाहरी विषयों की ओर से खिंचते हैं तो अगत्या नाद का यह भंडार श्रवणेन्द्रिय के लिए गोचर हो जाता है। एक बात ध्यान में रखने की है। पहले एकान्त में बैठने के बाद झीनी सी ध्वनि सुन पड़ती है। वह अनाहत नहीं है। परन्तु बहुत लोग उसे अनाहत समझ बैठते हैं। शरीर के भीतर शिराओं और धमनियों में निरन्तर रक्त संचार हो रहा है। और भी कई

के लिए आग पैदा की जाती है। नीचे की लकड़ी अरणि और ऊपर की लकड़ी को उत्तरारणि कहते हैं। अरणि में उत्तरारणि से मंथन करने से आग पैदा होती है जो सभी वस्तुओं को भस्म कर सकती है। इसी प्रकार प्रणवरूपी उत्तरारणि के साथ आत्मारूपी अरणि के लगातार ज्ञान के द्वारा अभ्यास करने से जो अग्नि पैदा होगी वह मनुष्य के सब कलुषों को भस्म कर देगी।

प्रकार की रासायनिक तथा दूसरी क्रियायें हो रही हैं। इन सब के फलस्वरूप भी कुछ स्वन पैदा होता है। वह अनाहत नहीं, आहत है परन्तु उसको सुनने का हमारा अभ्यास नहीं है। हमारे लिए नया है। इसलिए हम उसे अनाहत समझ बैठते हैं। उसको सुनने में कार्य हानि नहीं है। थोड़ा सा चित्त एकाग्र होने पर यह आहत ध्वनि अनाहत के लिए प्रवेश द्वार बन जाती है।

ज्यों ज्यों चित्त एकाग्र होता है और धारणा दृढ़ होती है त्यों त्यों दूसरी अनुभूतियां भी होती हैं। विश्व में केवल नाद ही नहीं है। दूसरी इन्द्रियों के विषय भी चारों ओर बिखरे पड़े हैं। परन्तु वह हमारे किसी काम में नहीं आते। इसलिए हम उनकी ओर ध्यान नहीं देते। मनुष्य प्रकृति से उतना ही लेता है जितना उसकी वासनाओं की तृप्ति के लिए पर्याप्त होता है। इन्द्रियों की शक्ति बहुत बड़ी है। हम जितना सुनते, देखते, सूंघते, स्पर्श करते, चखते हैं उससे कहीं अधिक सुनने, देखने, सूंघने, स्पर्श करने और चखने की सामग्री विश्व में भरी पड़ी है। उसके लिए कोई दाम नहीं चुकाना होता परन्तु हम इन्द्रियों की शक्ति से काम लेना नहीं चाहते। बहुत सी बातें ऐसी हैं जिनका सुनना या देखना हमारे किसी काम का नहीं है। अतः हम इन्द्रियों की शक्ति से उनको ग्रहण करने का काम नहीं लेते परन्तु जब वासनाओं को दबा कर उनकी ओर से मुंह मोड़कर चित्त को एकाग्र करने का प्रयत्न करते हैं तो इन्द्रियों के विषय अगत्या बिना प्रयास के हमारे सामने आ जाते हैं। इस विश्व में इतना भंडार भरा है, इतना सौन्दर्य बरस रहा है, उसका कुछ परिचय हमको उस अवस्था में मिलता है। इसीलिए ज्यों ज्यों हमें अनाहत का अनुभव होता है त्यों त्यों दूसरी इन्द्रियों के विषय भी साथ साथ अनुभव में आते हैं।

चित्त का स्वभाव है कि वह अनुभवों को मिलाता है। संवितों को प्रत्ययों का रूप देता है और इसीलिए अपने अनुभवों को ऐसे शब्दों में, ऐसी भाषा में, व्यक्त करने का प्रयत्न करता है 'जो नित्य व्यवहार में आती है। जो कुछ देखता है या सुनता है उसको यथासम्भव परिचित वस्तुओं का रूप देता है। इस काम में पूरी सफलता नहीं मिलती। इसीलिए कई महात्माओं ने कहा है कि इस अनुभव को व्यक्त करना वैसा है जैसा कि गूंगे के लिए गुड़ के स्वाद का वर्णन करना। मैं चाहे गुड़ के सम्बन्ध में एक पुस्तकालय भर ग्रन्थ लिख डालूं परन्तु मुझको गुड़ का स्वाद तब तक नहीं समझ में आ सकता जब तक अपनी जिह्वा पर गुड़ का एक छोटा सा टुकड़ा न रख दूं। यह तो सामान्य कठिनाई हुई। परन्तु यदि मैं दुर्भाग्य से गूंगा हूं तब तो कठिनाई का वारापार न होगा। किसी भी युक्ति से अपने श्रोता को गुड़ के स्वाद का ज्ञान न करा पाऊंगा। जो वस्तु कभी उसके अनुभव में नहीं आयी जिसके लिए श्रोता और वक्ता के बीच में अनुभव की समानता नहीं है और इसलिए उभय परिचित शब्दावली नहीं है, उसका ज्ञान

दूसरे के पास तक नहीं पहुंचाया जा सकता। साधक को जो अनुभव होता है वह साधारण मनुष्य के अनुभव के बाहर की चीज है। उपयुक्त रूपक तक नहीं मिलते। इसलिए जो कुछ कहा जाता है वह सर्वथा अपर्याप्त होता है। सुनने में भले ही रोचक प्रतीत हो परन्तु सुनने वाले के चित्त में यथार्थ प्रत्यय नहीं बन पाता। नादविन्दु उपनिषद् में अनाहत के सम्बन्ध में यह श्लोक आये हैं :

श्रूयते प्रथमाभ्यासे, नादो नानाविधो महान्।
वर्धमानस्तथाभ्यासः, श्रूयते सूक्ष्मसूक्ष्मतः॥

आदौ जलधिजीमूतभेरीनिर्झरसंभवः।
मध्ये मर्दलशब्दाभो, घंटाकाहलजस्तथा॥

अन्ते तु किंकिणीवंशवीणाभ्रमरनिस्वनः।
इति नानाविधा नादाः, श्रूयन्ते सूक्ष्मसूक्ष्मतः॥

महति श्रूयमाणे तु, महाभेर्यादिकध्वनौ।
तत्र सूक्ष्मं सूक्ष्मतरं, नादमेव परामृशेत्॥

घनमुत्सृज्य वा सूक्ष्मे सूक्ष्ममुत्सृज्य वा घने।
रममाणमपि क्षिप्तं, मनो नान्यत्र चालयेत्॥

जब पहले पहल यह अभ्यास किया जाता है तो यह नाद कई तरह का होता है और बड़े जोर जोर से सुनाई देता है परन्तु अभ्यास बढ़ जाने पर वह नाद धीमे से धीमा होता जाता है। शुरू में इस नाद की ध्वनि समुद्र, बादल, झरना, भेरी की तरह होती है परन्तु बाद में भ्रमर, वीणा, वंशी तथा किंकिणी की तरह मधुर होती है। इस तरह से वह ध्वनि धीमी से धीमी होती हुई कई तरह की सुनाई देती है। भेरी आदि की ध्वनि सुनने पर उसमें धीमे से धीमे नाद का विचार करना चाहिए। साधक को चाहिए कि वह धीमे से घने और घने से धीमे नाद में जाय और मन को इधर उधर न भटकने दे।

इस अवस्था में जैसे अनुभव होते हैं उनका कुछ अनुमान सन्तों की रचनाओं से दिये गये अवतरणों से होता है :

चुअत अमी रस भरत ताल जहां, सबद उठै असमानी हो।
सरिता उमड़ सिन्ध को सोखै, नहिं कछु जात बखानी हो।
चांद सुरज तारागन नहिं वह, नहीं वह रैन बिहानी हो।
बाजै बजै सितार बांसुरी, ररंकार मृदु बानी हो।

कोटि झिलि मिलो जहं वहं झलकै, विनु जल बरसत पानी हो।
सिव अज बिस्नु सुरेस सारदा, निज निज मति उनमानी हो।
दस अवतार एक तत राजै, अस्तुति सहज से आनी हो।
कहै कबीर भेद की बातें, बिरला कोई पहिचानी हो।
कर पहिचान फेर नहिं आवै, जम जुलमी की खानी हो।

(कबीर)

एकैनाम अधारा, मेरे एकै नाम अधारा हो।
परखि परखि निरखत निस बासर, जग ते भयो निपारा हो।
अष्ट कमल में जीव बसतु हैं, सतगुरु सब्द बिचारा हो।
ले कै पवन हंस जब गवन्यो, त्रिकुटी भौ उंजियारा हो।
पैठि पताल मूल बंद बांधो, सुखमन सेज संवारा हो।
निरझर झरत अमी तहं बरखत, मनुवा तहां हमारा हो।
गगन मंडल में नौबति बाजै, आठ पहर इकतारा हो।
मारयो ममता चित्त समानो, चौमुख दीपक बारा हो।
छूटी देह नेह रहि इक सो, आदो ब्रह्म विचारा हो।
कह गुलाल साहब हम पायो, जम का करहि हमारा हो।

(गुलाल साहब)

बंसी बाजी गगन में, मगन भया मन मोर।
मगन भया मन मोर महल अठऐ चढ़ि बैठा।
जहें उठे सुहंगम शब्द शब्द के भीतर पैठा।।
नाना उठै तरंग राग कुछ बरनि न जायी।
चन्द्र सूर छिप गये सुषुम्ना सेज बिछायी।।
निकलि गयी तन गेह नेह उनहीं सन लागी।
दसवां द्वारा फोड़ि ज्योति बाहर ह्वै जागी।
पलटू धारा तेल को मेलत ह्वै गयी भोर।
बंसी बाजी गगन में मगन भया मन मोर।

(पलटू साहब)

निर्वाण निर्गुण नाम है जप लाग अनहद तान को।
बिमल ज्ञान बिराग उपजै धसन धारा ध्यान को।
ध्यान धरके सिखर देखो जिकर ररंकार को,
जपत अजपा गगन देखो लखौ एक मस्यालवी।

दहिने घंटा शंख बाजै बायें किंगरी सारंगी,
मधुर मुरली मध्य बाजै, ज्योति एक बिराजती।
यही है एक कथा निर्गुण दूसरी नहिं जानते।
जगजीवन प्राणहि सोधि कै छुटि जात आवागमन ते।

(जगजीवन)

अब हम आनन्द के बर पावा।
आठ पहर ह्यां नौवत बाजै सुरति सोहागिनि मंगल गावा।
विमल विमल ध्वनि उठी गगन सुनि स्वयं हृदय रस उमगि जगावा।
पानी पवन ह्यां गम नाही अमी बन्द झरिलावा।
चांद सूर्य ह्यां उदय नहीं है रोम रोम रवि शशि छवि छावा।
सदा अनंत वसंत अगम सुख चहुं दिशि परम सोहावा।
यह सब अद्भुत् खेल विदेही आवा गमन नसावा।
रामलाल के सतगुरु समरथ जे अगम्य को गाय लखावा॥

(बावा रामलाल)

यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि आकाश में या मनुष्य के शरीर में घंटा, सारंगी, बंसी, मशालची जैसी वस्तु नहीं हैं। इन शब्दों का व्यवहार तो केवल अन्तर्मुख होने पर जो अनुभव होता है उसको थोड़ा बहुत समझाने के लिए किया गया है।

इस प्रसंग में दो तीन शब्दों की ओर ध्यान आकृष्ट करना आवश्यक है। प्रणव के लिए बहुत से अवसरों पर सन्तों ने नाम या सत्य नाम शब्द का व्यवहार किया है। जो लोग वैदिक वाङ्मय से परिचित हैं वह जानते होंगे कि सामवेद में उसी प्रकार उद्गीथ शब्द का व्यवहार हुआ है। एक और शब्द विचारणीय है "रंकार"। अभी जगजीवन साहिब की जो रचना उद्धृत की गयी है उसमें "जिकर रारंकार का" ऐसा पद आया है। इसी पुस्तक में पहले बाबा रामलाल की एक रचना अवतरित की गयी थी जिसमें यह पंक्ति आयी है :

आदि शब्द अहै ओंकारा, उठै शब्द [धुनि रारंकारा।]

बहुत से लोग ऐसे पदों की मीमांसा करने में रारंकर का अर्थ करते हैं "राम"। उनका यह कहना है कि अभ्यासी को "राम" ऐसी ध्वनि सुन पड़ती है। इस सम्बन्ध में मेरा यह निवेदन है कि सुन पड़ने को तो यदि अभ्यासी चाहे कोई भी ध्वनि सुन पड़ सकती है। जिस प्रकार चलती हुई रेल की पटरी से टकराने पर जो आवाज निकलती है उसमें अपनी इच्छा के अनुसार गाने तक सुने

ज़ा सकते हैं पर यह सुननेवाले की कल्पना है। किसी प्रकार यदि कोई अपने इष्टदेव का नाम अनाहत में सुनता है तो यह उसकी कल्पनामात्र है। राम, कृष्ण शिव उसमें यह सभी स्वन विद्यमान है। ठीक भी है। वह सभी स्वनों का समुच्चय है और ब्रह्मांड में जितने शब्द हैं, जितनी ऐसी ध्वनियां हैं जिनका उच्चारण हो सकता है, वह सब उसके भीतर हैं। परन्तु मेरा यह निवेदन है कि राम या और किसी प्रकार का विशिष्ट शब्द अनुभव में नहीं आता। जहां अखरावत लिखा करते हैं वहां अक्षरों के नाम इसी प्रकार लेते हैं। रारंकारा का अर्थ हुआ "र" यह "रव" का संक्षिप्त रूप है और रव का अर्थ है आवाज, स्वन। मूल शब्द ओंकार तो अनुच्चार्य है। परन्तु उसमें से असंख्य उच्चार्य ध्वनियां निकली हैं। वह असंख्य रवों का आकर है। बाबा रामलाल ने जहां यह कहा है :

उठै शब्द धुनि रारंकारा

वहां उनका यह तात्पर्य हो सकता है और यही तात्पर्य जगजीवनदास जी का भी हो सकता है। जिक्र सूफियों की भाषा में मंत्र के जप करने को कहते हैं।

नादानुसंधान के सम्बन्ध में हठयोगप्रदीपिका के यह श्लोक भी अवधार्य हैं :

मनोमत्तगजेंद्रस्य विषयोद्यानचारिणः।
नियंत्रणे समर्थोऽयं निनादनिशितांकुशः॥
बद्धं तु नादबंधेन मनः संत्यक्तचापलम्।
प्रयाति सुतरां स्थैर्यं छिन्नपक्षः खगो यथा॥
सर्वचिन्तां परित्यज्य सावधानेन चेतसा।
नाद एवानुसंधेयो योगसाम्राज्यमिच्छता॥
अंतरंगस्य यमिनो वाजिनः परिघायते।
नादोपास्तिरतो नित्यमवधार्या हि योगिना॥
अनाहतस्य शब्दस्य ध्वनियं उपलभ्यते।
ध्वनेरंतर्गतं ज्ञेयं ज्ञेयस्यांतर्गतं मनः॥
मनस्तत्र लयं याति तद्विष्णोः परमं पदम्।
यत्किंचिन्नादरूपेण श्रूयते शक्तिरेव सा।
यस्तत्त्वांतो निराकारः स एव परमेश्वरः॥
सदा नादानुसंधानात्क्षीयंते पापसंचयाः।
निरंजने विलीयेते निश्चितं चित्तमारुतौ॥

शब्द आदि विषयरूप जो उद्यान उसमें विचरता हुआ जो मनरूप उन्मत्त गजेन्द्र है उसके परावर्तन। (लौटाना) में यह नादरूप जो तीक्ष्ण अंकुश है वही समर्थ है।

नादरूप जो बंधन का साधन है उससे अपनी शक्ति के अनुसार बंधन को प्राप्त हुआ मन अर्थात् नाद की धारणा आदि में आसक्त हुआ चित्त और इसी से भली प्रकार त्याग दी है क्षण क्षण में विषयों की ग्रहण रूप चपलता जिसने ऐसा मन निरन्तर स्थिरता को प्राप्त होता है अर्थात् धारणा को प्राप्त इस प्रकार होता है जैसे छेदन किये हैं पक्ष जिसके ऐसा पक्षी हो जाता है। इस श्लोक से शुभ आश्रय में चित्त का स्थापन रूप है उस धारणा को कहा है जो इस वचन में कही है कि प्राणायाम से पवन को और प्रत्याहार से इन्द्रियों को वश में करके शुभाश्रय (ब्रह्मरंध्र) में चित्त की स्थिरता को करे।

बाह्य और भीतर के जो सम्पूर्ण विषय हैं उनकी चिंता को त्यागकर सावधान (एकाग्र) चित्त से राजयोग का अभिलाषी योगी नाद का ही अनुसंधान करे अर्थात् नादाकार वृत्ति का प्रवाह करे।

और योगीजन का जो अंतरंग (मन) रूप वाजी है उसके परिघ अर्थात् घुड़-शाला के द्वार में अवरोधक लोहदंड के समान नाद है। निदान जैसे वाजिशाला का परिघ वाजी की अन्यत्र गति को रोकता है इसी प्रकार नाद भी मन की अन्यत्र विषयादि को में गति है उसको रोकता है इस कारण से योगीजन निश्चल करके नाद की उपासना का निश्चय करे।

अनाहत अर्थात् विना ताड़ना के उत्पन्न जो शब्द उसकी जो ध्वनि प्रतीत होती है उस ध्वनि के अन्तर्गत ही ज्ञेयरूप प्रकाशमान चैतन्य है और उस ज्ञेय के अन्तर्गत अन्तःकरण रूप मन है और उस ज्ञेय में ही मन विलय को प्राप्त होता है अर्थात् परम वैराग्य से संपूर्ण वृत्तियों से शून्य होकर संस्कारमात्र शेष रह जाता है और वही विष्णु (व्यापक) आत्मा का परमपद है अर्थात् योगीजनों की प्राप्ति के योग्य अन्तःकरण की वृत्तिरूप उपाधि से रहित आत्मारूप है।

जो कुछ नाद रूप से सुना जाता है वह शक्ति ही है और जिसमें तत्त्वों का लय होता है वह निराकार परमेश्वर है अर्थात् संपूर्ण वृत्तियों का क्षय होने पर जो स्वरूपा-वस्थित है वही आत्मा है।

सदैव नाद के अनुसंधान से पापों के समूह क्षीण होते हैं और निर्गुण चैतन्य में चित्त और पवन ये दोनों अवश्य लीन हो जाते हैं अर्थात् मन और प्राण इन दोनों का ब्रह्म में लय हो जाता है।

इस स्थल पर दो बातें कहकर सावधान करना भी आवश्यक प्रतीत होता है। यह जो अनाहत के उदय होने पर आनन्द मिलता है उसमें बहुत से अभ्यासियों का चित्त

इतना रम जाता है कि वह आगे बढ़ना चाहते ही नहीं। जैसा कि हठयोगप्रदीपिका में कहा गया है :

> धनमुत्सृज्य वा सूक्ष्मं सूक्ष्ममुत्सृज्य वा घने।
> रममाणमपि क्षिप्तं मनो नान्यत्र चालयेत्॥

जो घन नाद है उसको छोड़कर सूक्ष्म सूक्ष्म को छोड़कर घन में रमण करता हुआ जो क्षिप्त चित्त है वह भी विचलित नहीं होने पाता। नाद के पर्दे के भीतर रह जाता है।

यह बात तो अच्छी है परन्तु नाद साधक का अन्तिम लक्ष्य नहीं है। वह समाधि का साधक है। परन्तु यदि प्रमाद से काम लिया जाय तो साधक ही बाधक हो जायगा। साधारण नाद और वाद्य मनुष्य के चित्त को आकृष्ट कर लेते हैं। यह प्रसिद्ध ही है कि हरिण संगीत सुनकर उसके निकट चला जाता है और व्याघ के हाथ फंस जाता है। सर्प चक्षुश्रवा है, कान से सुन नहीं सकता परन्तु यदि अच्छा संगीत हो रहा हो या नृत्य हो रहा हो तो केवल आंख से लययुक्त गति को देखकर या उसकी धमक से पृथिवी के विकम्पित होने से वशीभूत हो सकता है। तब फिर इस अनाहत नाद रूपी मानसरोवर का एक बार भी जिसका आचमन करने का अवसर मिला उसके लिए इसको छोड़कर जाना बड़ा कठिन हो जाता है। जैसा कि प्रदीपिकाकार ने लिखा है :

> अस्तु वा मास्तु वा मुक्तिरत्रैवाखंडितं सुखम।
> लयोद्भवमिदं सौख्यं राजयोगादवाप्यते॥

मुक्ति हो चाहे न हो पर यहां अखंड सुख है। यह लय से उत्पन्न हुआ सौख्य राजयोग द्वारा प्राप्त होता है। यही लय स्थान है। जो इस सुख में रह गया वह आगे बढ़ने से वंचित रह जायगा।

> यत्र कुत्रापि वा नादे लगति प्रथमं मनः।
> तत्र तत्र स्थिरीभूत्वा तेन सार्धं विलीयते॥

नाद में जहां भी घन में या सूक्ष्म में मन लग जाय उसी में चित्त को स्थिर करना चाहिए। उसके साथ चित्त का विलय होगा।

यह जो भी नाद सुने जाते हैं यह सर्वोच्च भूमिका की तो हैं नहीं अतः इनके साथ चित्त के लय होने का यह अर्थ है कि मृत्यु काल में भी चित्त उसी नीचे की भूमि में रह जायगा। अभ्यासी का प्रयास नष्ट नहीं होगा। वह इस बार योगभ्रष्ट हुआ अगले

जन्म में फिर योगाभ्यास करेगा और उन्नति करेगा इसमें कोई सन्देह नहीं है। परन्तु यदि इसी जन्म में अनाहत के ऊपर उठ सका तो यह उसके आध्यात्मिक कल्याण के लिए अच्छा होगा।

कुछ पृष्ठ पहले यह कहा था कि यों तो धारणा के अनेक साधन हैं। परन्तु मेरी समझ में नादानुसंधान अर्थात् सुरति शब्दयोग उनमें सर्वोत्तम है और सब उपाय जहां कन्हीं व्यक्तियों को रुचिकर प्रतीत होंगे वहां दूसरों को विरस लगेंगे। उनमें से किसी में भी इतनी क्षमता नहीं है जो सार्वभौम हो अर्थात् प्रत्येक साधक के लिए कल्याणकारी हो। ऐसा नहीं है कि सुरति शब्दयोग प्रयास की अपेक्षा न करता हो। धारणा की भूमिका तक वह व्यक्ति पहुंचेगा जो नीचे के अंगों में पर्याप्त गति रखता हो और यहां पहुंचकर भी प्रयास करना होगा। दिव्य संवेग से काम लेना होगा अन्यथा या तो वास्तविक अनाहत नाद का उदय ही नहीं होगा या थोड़ी दूर आगे चलने के बाद साधक की गति रुक जायगी। या फिर वह अवस्था उत्पन्न हो जायगी जिसकी ओर भी संकेत हुआ है। जो आनन्द इस स्तर पर पहुंचकर मिलता है उसके प्रलोभन में फंसकर आगे बढ़ना बन्द हो जायगा। इन सब बातों के होते हुए भी मैं फिर इस बात को दुहराना चाहता हूं कि धारणा के अन्य सब साधनों में इसका स्थान मेरी समझ में सर्वोच्च है और यह सर्वमुमुक्षु साध्य है। इसके सम्बन्ध में कहा गया है :

श्री-आदिनाथेन सपादकोटिलयप्रकाराः कथिता जयन्ति।
नादानुसंधानकमेकमेव मन्यामहे मुख्यतमं लयानाम् ॥

श्री आदिनाथ शंकर ने लय के लिए सवा करोड़ उपाय बताये हैं वह सभी उत्तम हैं। परन्तु हम ऐसा समझते हैं कि उनमें अकेला नादानुसंधान मुख्योत्तम है।

इस सम्बन्ध में गोरक्ष की सम्मति भी द्रष्टव्य है :

अशक्यतत्त्वबोधानाम् मूढानामपि सम्मतम्।
प्रोक्तं गोरक्षनाथेन नादोपासनमुच्यते ॥

जो लोग समाधि के तत्त्व को समझने में असमर्थ हैं जो लोग हीनबुद्धि हैं उनके लिए भी नाद उपासन की विधि ठीक है ऐसा गोरक्ष कहते हैं।

इस अध्याय के शीर्षक में ध्यान का भी उल्लेख है। परन्तु इस विषय में कुछ अधिक कहने की आवश्यकता नहीं। ध्यान की जो परिभाषा दी गयी है उससे ही यह स्पष्ट है कि ध्यान के लिए कोई पृथक् प्रक्रिया नहीं है। धारणा ही परिपक्व होकर ध्यान में परिणत हो जाती है। जिस एकाग्रता की ओर धारणा के प्रारम्भ में चित्त अभिमुख

होता है वह ध्यान की भूमिका में स्थिर हो जाती है और पतंजलि के शब्दों में प्रत्यय को एकतानता प्राप्त हो जाती है। वस्तुतः जैसा कि अगले अध्याय में दिखलाया जायगा समाधि के लिए भी कोई पृथक् प्रक्रिया नहीं है। जिस परिणाम का आरम्भ धारणा से होता है उसकी समाप्ति समाधि में होती है।

उदाहरण के लिए नीचे कुछ महात्माओं के वचन उद्धृत करता हूं जिन्होंने अपने अपने ढंग से साधक के प्रारम्भिक अनुभवों का चर्चा किया है। प्रारम्भिक शब्द का प्रयोग इसलिए कर रहा हूं कि इसके ऊपर के जो अनुभव हैं उनका सम्बन्ध समाधि की भूमिकाओं से है। वह इनसे कुछ दूसरे प्रकार के होते हैं। उनका जिक्र आगे होगा।

कोई सुनता है गुरु ज्ञानी, गगन में आवाज होती झीनी।
पहिले होता नाद बिन्दु से, फेर जमाया पानी।
सब घट पूरन पूर रहा है, आदि पुरुष निर्बानी।
जो तन पाया पटा लिखाया, त्रिस्ना नहीं बुझानी।
अमृत छोड़ि विषय रस चाखा, उल्टी फांस फंसानी।

ओअं सोहं बाजा बाजै, त्रिकुटी सुरत समानी।
इड़ा पिंगला सुषमन सोधे, सुन्न धुजा फहरानी।
दीद बरदीद हम नजरों देखा, अजरा अमर निसानी॥
कहै कबीर सुनो भाई साधो, यही आदि की बानी।

(कबीर)

गाड़ि ज्ञान को बांस सुरति की डोर है।
चढ़ा खिलाड़ी धाय जगत में सोर है।
अमर लोक के बीच हरी इक दूब है।
अरे हां पलटू हद अनहद के पास तमासा खूब है॥

आसिक चला सिकार बड़े दरियाव में।
बड़का रोहू बझा परा जब दांव में।
बूड़े कितिक गंवार येही के कारने।
अरे हां पलटू लगा हमारे हाथ कुंड के सामने॥

पच्छिउं गंगा बहै पानी है जोर का।
बीच मंहै इक कुंड मुरेरा तोर का।
उलटो बहै बयार नाव मुरकाय दे।
अरे हां पलटू उतरे येहि के पार तो सूधो जाय दे॥

तिरबेनी के घाट नाव को आनि कै।
सुखमनि घाट थहाय चलावो जानि कै।
असी संगम के वीच पहारी फोरि कै।
अरे हां पलटू गुन को खैंचु सिताव काम है जोर कै॥
जहां न जप तप नेम ज्ञान ना ध्यान है।
पानी पवन अकास नाहि ससि भान है।
जोग जुक्ति ना सुरति नाहिं दिन रात है।
अरे हां पलटू मन वुद्धि चित न जाय तहां की बात है॥

(पलटू)

घट घट में नाद उच्चार बानी,
मिहीं महल में मारफत पावता है।
ताल मिरदंग जहां संख पूरिये
विना मुख नाद वजावता है।
तूर तुतकार धुमार तिस नगर में,
अजव गुलजार इक नूर चंपा।
कोकिला बैन सुख चैन सुनते भये,
बिंधा है हंस लै विरह कंपा।
आद अरु अंत इक मद्ध मेला भया,
सिखर की सुन्न में जिकर लागी।
केतकी कमल जहं अजब वाड़ी वनी,
भंवर गुंजार निःतन्त रागी।
दुलहनी दंग दुलहा भई देख कर,
संख रवि झिलमिलै नूर जोती।
अजब दरियाव जहं कोट वेड़े पड़े।
चुगत है हंस विन चंच मोती।
जहं गुमठ अनूप इक सेत छत्तर वना,
गगन गुलजार जहं नूर गादी।
दास गरीव दिल दूसरा दूर कर,
सब्द अतीत सुन में समाधि॥

अध्याय १५

योग के अंग—समाधि (सम्प्रज्ञात)

पिछले अध्याय के अन्तिम भाग में यह दिखलाया गया है कि धारणा से लेकर समाधि तक एक ही प्रक्रिया चलती है। कोई दूसरी प्रक्रिया नहीं है। चित्त की जो अवस्था धारणा से आरम्भ होती है वह समाधि में जाकर पूर्णता को प्राप्त करती है। इसी बात को ध्यान में रख कर सूत्रकार ने समाधि की इस प्रकार परिभाषा की है :

तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः । (३,३)

वही अर्थमात्र निर्भास और स्वरूप शून्य के समान समाधि हो जाती है। और फिर कहा है कि :

त्रयमेकत्र संयमः । (३,४)

वही तीनों एकत्र संयम कहलाते हैं। पहले में इस छोटे से दूसरे सूत्र का अर्थ किये देता हूं।

इसमें इतना ही कहा गया है कि ध्यान, धारणा और समाधि तीनों का मिला जुला नाम संयम है। एक नाम देना ठीक भी है। जब तीनों एक दूसरे के स्तर मात्र हैं और एक ही प्रकार के प्रयास करने से क्रमशः समुदित होते हैं तो बहुधा उनको एक ही नाम से पुकारने से काम चल सकता है। अब रही समाधि की परिभाषा। इनमें का वह शब्द ध्यान के लिए आया है अर्थात् ध्यान जब अर्थमात्र निर्भास हो जाता है तब उसे समाधि कहते हैं। जब किसी विषय का चिन्तन होता है तो इस क्रिया के तीन अंग होते हैं। इन तीनों में से यदि एक का भी अभाव हो जाता तो चिन्तन की क्रिया नहीं हो सकती। उस अवसर पर चिन्तन शब्द ही निरर्थक हो जायगा। वह तीन अंग हैं—चिन्तक अर्थात् चिन्तन करने वाला, चिन्त्य अर्थात् जिस विषय की चिन्ता की जाय, इन दोनों के बीच का समय अर्थात् चिन्ता। इनके कुछ और भी पर्याय हैं जैसे द्रष्टा, दृश्य और दर्शन। इसके समान ही ध्याता, ध्येय और ध्यान का व्यवहार होता है। ऐसे तीन अंग वाली क्रिया को त्रिपुटी कहते हैं। धारणा और

ध्यान दोनों में त्रिपुटी होती है। साधक अपने चित्त को देश विशेष पर बांधता है तब वह द्रष्टा चिन्तक या ध्याता के रूप में होता है। चित्त की चंचलता के कारण ध्येय हट जाता है और दूसरा ध्येय बीच में आ जाता है। अभ्यास के बढ़ने पर एक ही ध्येय सामने रहता है। इसी को प्रत्यय की एकतानता कहा गया है परन्तु त्रिपुटी तब भी रहती है। ऐसी अवस्था आ जाती है कि त्रिपुटी के दो अंग लुप्त से हो जाते हैं और केवल एक अंग भासमान होता है। वह अंग है ध्येय जिसका ही प्रस्तुत सूत्र में अर्थ किया गया है। इसके पहले जो अनुभव होता है उसका रूप यह है :

मैं अमुक वस्तु का ध्यान कर रहा हूं या अमुक वस्तु मेरे ध्यान का विषय है। अभ्यास के परिपक्व होने पर मैं और ध्यान यह दोनों अंग दब से जाते हैं। बस जिस वस्तु का ध्यान किया जा रहा था वही अनुभव में रहती है। अनुभव करने वाले को न अपनी सत्ता का अनुभव रहता है और न यही अनुभूति होती है कि अनुभव किया जा रहा है।

हमारे ज्ञान के सामान्यतः दो स्तर होते हैं। मेरे सामने लाल कपड़ा पड़ा है। पहला स्तर यह है कि मुझको लाल कपड़े का ज्ञान है। परन्तु यदि गम्भीरता से देखा जाय तो इस ज्ञान के पीछे एक और ज्ञान होता है। मुझे इस बात का ज्ञान है कि मुझको लाल कपड़े का ज्ञान है। मैं जानता हूं कि मैं लाल कपड़े को जानता हूं। फोटो का कैमरा यदि सामने आ जाय तो उस पर भी इस कपड़े का चित्र आ जायगा। परन्तु उसको उस कपड़े का ज्ञान नहीं होगा। वह यह नहीं कह सकता कि मेरे ऊपर चित्र लिया गया है और मैं जानता हूं कि मेरे ऊपर चित्र लिया गया है। अस्तु, जब तक ध्यानावस्था है तब तक साधक के ज्ञान में वही दो स्तर होते हैं। जब मैं की ही अनुभूति न रहे यह भी अनुभूति न रहे कि अनुभव किया जा रहा है वह अवस्था समाधि की होती है।

आत्मा प्रत्येक अनुभव का साक्षी है। मरने पर भी इन्द्रियों के अधिष्ठानों पर बाहरी विषयों के आघात होते रहते हैं परन्तु साक्षी रूप आत्मा से वियोग हो जाने स अनुभव नहीं होते। परन्तु अभ्यास करते समय यह नहीं कहा जा सकता कि आत्मा से वियोग हो गया है। साधक जीवित है। इससे शरीर से आत्मा का विच्छेद नहीं हुआ है। शारीरिक और मानसिक सभी क्रियाओं का साक्षी आत्मा है। इसलिए पूर्ण रूप से त्रिपुटी का अनुभव हो या न हो परन्तु आत्मा तो है ही। इसीलिए कहा है कि समाधि में एक ओर तो केवल अर्थमात्र अर्थात् ध्येय मात्र भासमान होता है और दूसरी ओर द्रष्टा अर्थात् ध्याता इस पर विद्यमान है जैसे वह स्वरूप शून्य हो गया हो। उसकी सत्ता की झीनी आभा पड़ रही है। ध्येय का आभास पूर्ण रूप से है। ध्याता का आभास बहुत ही सूक्ष्म रूप में है। सच तो यह है कि ध्याता और ध्येय

दोनों प्रायः एक हो गये हों। यदि परमात्मा ध्येय है तो साधक और परमात्मा में प्रायः अभेद हो गया है। ऐसी अवस्था में ध्यान के लिए अवकाश ही नहीं रहता। यदि द्वैत बुद्धि उदात्त हो जैसा कि ध्यान में होता है तब तो यह प्रतीति हो कि मैं परमात्मा का ध्यान कर रहा हूं। जब यह कहना कठिन हो गया हो कि ध्याता ध्येय में कोई अन्तर भी है, या न हो तो कौन किसका ध्यान करे। कौन द्रष्टा और किसका द्रष्टा हो जैसा कि वृहदारणयक उपनिषद् में कहा कया है :

विज्ञातारमरे केनाभिजानीयात् ।

अरे, जानने वाले को किस साधन के द्वारा जाना जाय।

समाधि के विषय में कुछ कहने के पहले थोड़ा सा चर्चा इस बात का भी हो जाना चाहिए कि आजकल अद्वैत वेदान्त के अनुयाइयों में बहुधा समाधि के सम्बन्ध में कैसा विचार प्रचलित है। ऐसा माना जाता है कि अनेक जन्मों के पुण्य के उदय होने पर जिज्ञासा उत्पन्न होती है और धीरे धीरे जिज्ञासु की मोक्ष की इच्छा प्रबल होती जाती है। उसके हृदय में इहामुत्र के—दृष्ट और आनुश्रविक विषयों की ओर से वितृष्णा बढ़ती जाती है। वह छः गुणों से सम्पन्न होती जाती है : वह गुण हैं, शम, दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा और समाधान। चित्त को विषयों की ओर से खींचना शम और इन्द्रियों पर नियंत्रण रखना दम है, सर्दी, गर्मी, भूख, प्यास को सहन तितिक्षा है, और प्रचलित कर्मकांड पूजा पाठ और दूसरे संसारी कामों को छोड़ना उपरति है। श्रद्धा और समाधान का अर्थ स्पष्ट है। इन गुणों से सम्पन्न होने पर मुमुक्षु सद्गुरु की शरण में जाता है। वहां वह गुरु के सत्संग से श्रवण और मनन का अभ्यास करता है। अद्वैतवाद के अनुसार जीव और ब्रह्म में कोई अन्तर नहीं है। इसलिए जीव को ब्रह्म बनाना नहीं है। उसको अपना भूला हुआ स्वरूप समझा देना है। इस विषय में एक उदाहरण दिया जाता है :

सिंह का कोई बच्चा भेड़ों के बीच में पला था। उनके साथ रहते रहते अपने को भेड़ समझने लगा था। कहीं उधर से एक बड़ा सिंह आ गया। उसने उसको समझाया कि तू मूर्ख है इनका और तेरा क्या साथ। तू तो मेरे समान सिंह है। परन्तु यह बात उस बच्चे की समझ में नहीं आती थी। तब वह सिंह उसको एक कुयें के पास ले गया और जल में उसको अपनी परछायीं दिखलायी और फिर उसको कहा कि तू अपनी परछाईं देख तब उसको विश्वास हो गया कि मैं सचमुच सिंह हूं। सिंह तो वह पहले से था केवल अज्ञानवश अपने को भेड़ समझ रहा था। इसी प्रकार गुरु शिष्य को उसके भूले स्वरूप का परिचय देता है। यदि कुयें का जल निर्मल नहीं होता तो

उसको अपनी परछाईं न दिखाई पड़ती। जल का निर्मल होना आवश्यक है। अन्तःकरण रूप जल को निर्मल करने के लिए निदिध्यासन किया जाता है। फिर विना परिश्रम के आत्मसाक्षात्कार हो जाता है।

निदिध्यासन

निदिध्यासन योगाभ्यास का ही नाम है। वेदान्त के तीन प्रतिष्ठान अर्थात् प्रामाणिक ग्रंथ माने जाते हैं—उपनिषद्, व्यासकृत शारीरिक सूत्र, और भगवद्गीता। इन तीनों में ही योग की आवश्यकता पर जोर दिया गया है। श्वेताश्वतर उपनिषद् और कठोपनिषद् में तो स्पष्ट चर्चा है ही, दूसरे उपनिषदों में भी यत्र तत्र योग की प्रशस्ति की गयी है। कठ ने यह वतलाकर कि नचिकेता ने यम से वेदान्त के शास्त्रीय ज्ञान के साथ साथ सम्पूर्ण योगविधि सीखी। कहा है कि :

अन्योऽपि य एवं वेद।

दूसरा कोई जो भी इस प्रकार जानेगा, वह नचिकेता के समान ही ब्रह्मज्ञानी होगा। कहने का स्पष्ट तात्पर्य यह हुआ कि ब्रह्मज्ञानी होने के लिए शास्त्रीय ज्ञान के साथ साथ योग का भी ज्ञान चाहिए। वृहदारण्यक उपनिषद् में ब्रह्म का यह रूप वतलाया है :

एतद्वै तदक्षरं गार्गि ब्राह्मणा अभिवदन्त्यस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घमलोहितमस्नेहमच्छायमतमोऽवाय्वनाकाशमसंगमगन्धमचक्षुष्कमश्रोत्रमवागमनोऽतेजस्कमप्राणममुखममात्रमनन्तरमवाह्यं न तदश्नाति किंचन न तदश्नाति कश्चन।

हे गार्गि, इसको ब्राह्मण अक्षर कहते हैं, यह न मोटा है, न पतला है, न छोटा है, न लम्बा है, न लाल है। उसका कोई रंग नहीं है। विना स्नेह के है, विना छाया के है, विना अन्धेरे का है, वह वायु नहीं है, आकाश नहीं है, यह असंग है, रस से रहित है, गन्ध से रहित है, इसको नेत्र नहीं, श्रोत नहीं, वाणी नहीं, मन नहीं, इसको तेज नहीं, प्राण नहीं, मुख नहीं, परिमाण नहीं, इसके कुछ भीतर नहीं, इसके कुछ वाहर नहीं, न यह कुछ भोगता है, न कोई उसका उपभोग करता है।

इसके सम्बन्ध में कहा है :

आत्मा वारे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः।

यह आत्मा द्रष्टव्य (देखने योग्य) श्रोतव्य (सुनने योग्य) मन्तव्य (मनन)

करने योग्य और निदिध्यासन करने योग्य है। दूसरे प्रस्थान वेदान्त दर्शन में भी योग का चर्चा है। कई सूत्र इस विषय के मिलते हैं, जैसे :

आसीनः सम्भवात् । (४।१।७)

आसन पर बैठकर सम्भव होने से। शंकराचार्य ने अपने भाष्य में इस बात को विशद रूप से समझाया है कि क्यों आसन से बैठकर ही निदिध्यासन किया जा सकता है।

यत्रैकाग्रता तत्राविशेषात् । (४।१।११)

जहां चित्त एकाग्र हो सके उसी स्थान पर ध्यान करना चाहिए। इस सम्बन्ध में किसी दिशा, नगर, ग्राम, गृह आदि में कोई विशेषता नहीं है।

असकृदभ्यासात् ।

बारंबार अभ्यास करने से। इस सूत्र से पतंजलि के नीचे दिये सूत्र की ध्वनि आ रही है :

स तु दीर्घकालनैरन्तर्य्यसत्कारसेवितो दृढभूमिः ।

और तीसरा प्रस्थान भगवद्गीता का है। उसमें छठां अध्याय तो विशेष रूप से योगपरक है ही अन्य कई स्थानों पर भी प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से योग की प्रशंसा की गयी है।

परन्तु आजकल योग के सम्बन्ध में उन लोगों को जो अपने को वेदान्ती कहते हैं दृष्टि कुछ बदली हुई सी है। सन्यासियों में यह बात विशेष रूप से देख पड़ती है। योग करना मना नहीं है। अब भी इन लोगों में अच्छे योगी हैं परन्तु योग के प्रति वैसा आग्रह नहीं देख पड़ता जो प्राचीनों में था। इन लोगों में वैष्णव, शैव, शाक्त और तांत्रिक सभी प्रकार के उपासक हैं और ऐसे लोग भी हैं जो प्रायः किसी विशेष उपासना पद्धति के अनुयायी नहीं हैं। योग के प्रति इस उदासीनता के दो कारण हैं। कुछ तो काल का प्रभाव इन लोगों पर भी पड़ा है। कलिकाल में योग सम्भव नहीं है और आवश्यक भी नहीं है। इस विश्वास का जादू इन लोगों पर भी फिर चुका है। दूसरे लोगों में एक विशेष विश्वास यह है कि चाहे कोई योगाभ्यास के द्वारा ऊंची से ऊंची समाधि भूमिका में पहुंच जाय परन्तु वह मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकता। उसकी पहुंच अपर ब्रह्म अर्थात् मायाशबल ब्रह्म तक ही रहेगी। कल्प के अन्त में महाप्रलय होने पर जब

तव फिर मोक्ष का साधन क्या रहा ? इन लोगों का यह कहना है कि संसार की प्रतीति अविद्या से होती है। अविद्या का विरोध विद्या से होता है, किसी कर्म से नहीं। यदि किसी कमरे में अन्धकार है तो वह अन्धकार प्रकाश से दूर होगा। निश्चय ही, प्रकाश का पहुंचाना चाहे वह दियासलाई जलाने से हो, बिजली के बल्ब दबाने से हो या किसी दूसरे प्रकार से हो, एक प्रकार का कर्म है पर उस कर्म की महत्ता गौण है। यदि मिट्टी से घड़ा बनता है और कुम्हार उसे गढ़ता है तो घड़े के उपादान कारण के रूप में मिट्टी के लिए और निमित्त कारण के रूप में कुम्हार का महत्त्व है।

परन्तु जिस गदहे की पीठ पर मिट्टी लादकर लायी गयी उसका ऐसा महत्त्व नहीं है। वह घड़े के कारणों में परिगणित नहीं है। इसी प्रकार योग एक कर्म है।

वह स्वयं अविद्या का विरोधी नहीं हो सकता। अविद्या के दूर करने में कुछ हद तक भले ही सहायक हो परन्तु उसका विशेष महत्त्व नहीं है। अविद्या तो विद्या या ज्ञान से ही दूर होगी।

इस प्रकार के विद्वान् वैदिक कर्मकांड से तो कोई सम्बन्ध रखते ही नहीं, चाहे वह गृहस्थ हों चाहे सन्यासी। वेदान्तदर्शन के पहले ही सूत्र में अथातो ब्रह्म जिज्ञासा कहा गया है। अथ तथा अतः का अर्थ लगाने में आचार्यों ने यह दिखलाया है कि वैदिक कर्मकांड निष्फल नहीं है। उससे चित्त की शुद्धि होती है और वह गम्भीर ब्रह्मतत्व की जिज्ञासा करने के योग्य बनता है। परन्तु हमारे नये जिज्ञासु पहले दिन से ही यह समझ लेते हैं :

ब्रह्मार्पणं ब्रह्महविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यम् ब्रह्मकर्मसमाधिना ॥

जिसको ब्रह्म में समाधि प्राप्त है उसके लिए कर्म में लगना अनावश्यक है। वह तो ब्रह्मरूपी अग्नि से ब्रह्मरूपी हवि को ब्रह्म को अर्पित करता है। ऐसा करनेवाला स्वयं ब्रह्म रूप है और वह अपने इस हवि के द्वारा ब्रह्म को ही प्राप्त होगा। इस श्लोक और इसी प्रकार के अन्य दूसरे वाक्यों के द्वारा ऐसे विद्वान् अपनी पुष्टि कर लेते हैं और ऐसा मानते हैं कि उनके लिए वैदिक कर्म प्रपंच में पड़ने की आवश्यकता नहीं है। जहां तक निदिध्यासन की बात है, कोई भार ढोना ही चाहे तो मनाही नहीं है परन्तु इसकी आवश्यकता भी नहीं है। योग, जप, तप, यह सब कर्म हैं, नीचे की सीढ़ियां निम्न कोटि के अधिकारी के लिए है। जो अधिकारी ऐसा मानता और समझता है कि नेह नाना स्तिकिंचन।

यहां कहीं रत्ती भर भी नानात्व नहीं है। वह किस की उपासना करे और क्यों करे ? किसी ने कहा है :

योग और जाप विन ताप तीनों गयो ज्ञानकारिणी वस्तु गुरु वतायो।
पुन्य और पाठ तप तीर्थहुं ना किया सहज ही मुक्ति फल हाथ आयी ?
कौन सा देव जेहि शीष पाती धर कौन हरिनाम का भार ढोवै
आत्माराम सा देव है आप में, पेट भर खाय सुखनीद सोवै ।

यह किसी वड़े महात्मा का कथन हो या न हो परन्तु वहुत से नये वेदान्तवादियों की भावना को व्यक्त करता है।

निदिध्यासन का काम वह लोग विचार से लेते हैं। विचार के नाम पर उपनिषद् और गीता का जी भर कर अध्ययन करते हैं। नित्यप्रति इन पुस्तकों के नये अनुवाद प्रकाशित होते रहते हैं। वेदान्त सूत्रों का अध्ययन कुछ कम होता है क्योंकि वह ग्रन्थ कुछ कठिन है। उसमें दुरूह शास्त्रार्थ का वाहुल्य है। विशेषतः सन्यासियों में इन ग्रन्थों के सामान्य रूप से अध्ययन के साथ साथ चारों महावाक्यों पर विचार विमर्श करने में अधिक परिश्रम किया जाता है। महाकवाक्य ये हैं :

१. अहम् ब्रह्मास्मि—मैं ब्रह्म हूं ।
२. प्रज्ञानं ब्रह्म—ज्ञान ही ब्रह्म है ।
३. तत्त्वमसि—तू वह है ।
४. अयम् आत्मा ब्रह्म—यह आत्मा ब्रह्म है ।

सभी सम्भव तर्कों के द्वारा इन वाक्यों में व्यक्त हुए तत्त्वों की पुष्टि की जाती है और अन्त में जिज्ञासु अपने को उसकी सत्यता का पूरा विश्वास दिला देता है। वह ऐसा मानने लगता है :

ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या ।

ब्रह्म सत्य है और जगत् मिथ्या है ।

इस वात को भी दृढ़ता के साथ मान लेता है कि वेद में कहीं भी ब्रह्म से इतर किसी पदार्थ का चर्चा नहीं है। सांख्य आदि जितने अन्य दार्शनिक मत हैं वह सव "अशाब्द" हैं अर्थात् वैदिक शब्द में, श्रुति में उनका चर्चा नहीं है, वेद वाह्य हैं। इस प्रकार ज्ञान की जो सामग्री संग्रहीत होती है उसकी सत्यता में मुझको सन्देह नहीं है। परन्तु वौद्धिक साक्षात्कार मात्र की स्थिरता पर सन्देह हैं। इस प्रकार का ज्ञान अध्यात्मिक संकट के समय काम आ सकेगा या मृत्यु के उपरान्त आश्रय देने में समर्थ होगा, यह निश्चय ही सन्देह का विषय है।

वेदान्त के आचार्य समाधि के दो भेद मानते हैं : सविकल्प और निर्विकल्प। सविकल्प वह समाधि है जिसमें द्रष्टा, दर्शन, और दृश्य की त्रिपुटी बनी रहती है। निर्विकल्प में दृश्य मात्र रह जाता है। यह वर्णन समाधि की उस परिभाषा से मिलता है जो इस अध्याय के प्रारम्भ में दी गयी है। परन्तु यह विवाद का विषय हो सकता है कि निदिध्यासन के लिए योग से भिन्न किसी अन्य उपाय का आलम्बन लेकर किसी को कभी भी समाधि का अनुभव हो सकता है या नहीं।

अब मैं प्रकृत विषय पर आता हूं और योगशास्त्र की परिभाषाओं के अनुसार समाधि का जो रूप है उसका वर्णन करूंगा।

सम्प्रज्ञात समाधि

जो चित्त समाधि की ओर झुकता है उसकी अवस्था पतंजलि ने इन शब्दों में वर्णन किया है :

सर्वार्थतैकाग्रतयोः क्षयोदयौ चित्तस्य समाधिपरिणामः। (३, ११)

जिस अवस्था में चित्त में सर्वार्थता का क्षय और एकाग्रता का उदय हो उसको समाधि परिणाम कहते हैं। साधारणतः हमारे चित्त सर्वार्थ होते हैं। अर्थात् एक के बाद एक अनेक पदार्थ उनके विषय बनते हैं। विक्षिप्त चित्त का यही लक्षण है कि वह किसी एक जगह पर देर तक नहीं टिक सकता। विषय से विषयान्तर में फेंका फिरता है ऐसे चित्त में रजोगुण की प्रधानता होती है यद्यपि थोड़ा सा मेल सत्त्वगुण का भी होता है जिसके कारण उसमें थोड़ी थोड़ी देर के लिए कुछ स्थिरता आ जाता है। जब ऐसा होने लगे तो सत्त्वगुण की मात्रा के बढ़ने के फलस्वरूप रजोगुण की मात्रा कम होने से एकाग्रता कुछ बढ़ी अर्थात् दूसरे शब्दों में सर्वार्थता कुछ कम हो तब यह कह सकते हैं कि चित्त में समाधि परिणाम का उदय हुआ। समाधि तत्काल नहीं आ जाती। समाधि परिणाम का उदय धारणा की अवस्था में होगा। धीरे धीरे ध्यान की अवस्था पहुंचते पहुंचते जब प्रत्यय की एकतानता होगी तब वह एकाग्रता परिणाम होगा जिसका चर्चा ध्यान के प्रकरण में आ गया है। जब इस प्रकार ध्यान करते करते एकाग्रता दृढ़ होगी तब चित्त का झुकाव समाधि की ओर बढ़ जायगा और अन्त में वह निरोध परिणाम भी उदय होगा जो समाधि का वास्तविक लक्षण है। उसका चर्चा यथास्थान होगा। सर्वार्थता से एकाग्रता की ओर जाना हंसी खेल नहीं है। चित्त का प्रवाह शान्त और अक्षुब्ध रहे इसके लिए बहुत प्रयास करना पड़ता है जैसा कि पतंजलि ने कहा है :

तस्य प्रशान्तवाहिता संस्कारात्। (३,१०)

अर्थात् चित्त की प्रशान्तवाहिता संस्कार के कारण होती है।

इस सम्बन्ध में भाष्यकार ने कहा है :

निरोधसंस्काराभ्यासपाटवापेक्षा प्रशान्तवाहिता चित्तस्य भवति तत्संस्कारमान्द्ये व्युत्थानधर्मिणा संस्कारेण निरोधधर्मः संस्कारोऽभिभूयते इति ।

चित्त के प्रशान्तवाहति निरोध के अभ्यास में पटुता होने की अपेक्षा करती है। यदि एतद्विषयक अर्थात् निरोध सम्मत संस्कार मंद हुए तो फिर व्युत्थानधर्मी संस्कार मन को दबा लेंगे। इसका तात्पर्य यह है कि चित्त में निरन्तर संघर्ष चलता रहता है। एक ओर तो एकाग्रता की ओर चित्तवृत्ति जाती है दूसरी ओर अनेक जन्म से आयी हुई सर्वार्थता का संस्कार खींचता है। एकाग्रता संस्कार अन्तर्मुख होने की ओर ले जाना चाहता है। सर्वार्थता संस्कार हठात् बहिर्मुख रखना चाहता है। यदि एकाग्रता संस्कार प्रबल पड़े तो चित्त समाधि की ओर जा सकेगा अन्यथा फिर व्युत्थान अर्थात् जगत् की प्रतीति की शिला पर गिरकर चकनाचूर हो जायगा। यदि सौभाग्य से साधक का प्रयास प्रबल और सफल हुआ तो फिर उसको सफलता सूचक एक विशेष उपलब्धि प्राप्त होगी।

पतंजलि के शब्दों में :

क्षीणवृत्तेरभिजातस्येव मणेर्ग्रहीतृग्रहणग्राह्येषु तत्स्थतदञ्जनतासमापत्तिः।
(१,४१)

वृत्ति के क्षीण होने पर पारदर्शक मणि के समान ग्रहीता, ग्रहण और ग्राह्यों में तटस्थता तथा तदञ्जनता की समापत्ति प्राप्त होती है।

जो मनुष्य उपनेत्र (चश्मे) से काम लेता है उसके लिए यह आवश्यक है कि इस उपकरण का शीशा बिल्कुल साफ हो। यदि शीशा में कुछ भी दोष हुआ तो वह दोष उन वस्तुओं पर आरोपित हो जायगा जो चश्मे से देखी जायंगी। या तो उनमें कुछ किसी ओर हल्का सा टेढ़ापन आ जायगा या किसी रंग की प्रतीति होगी। परन्तु यदि शीशा निर्मल हो और उसकी बनावट पूर्णतया ठीक हो तो वस्तु यथावत देख पड़ेगी। जगत् और हमारे बीच में चित्त रूपी चश्मा है। साधारणतया यह चश्मा अपने गुण का आरोप जगत् पर किया करता है। जिसके चश्मे का जैसा शीशा होगा वैसा ही उसका जगत्। किसी के लिए यह जगत् सुखमय है, किसी के लिए दुःखमय, किसी के लिए इस में कुटिल और धूर्त मनुष्य सर्वत्र देख पड़ते हैं किसी के लिए यहां सज्जनों की बस्ती है। फिर जिसको यह जगत् जैसा प्रतीत होता है उसकी प्रतिक्रिया वैसी होती है। वह उस जगत् के प्रति वैसा व्यवहार करता है। जगत् के स्वरूप को यथार्थ न जानकर तथावत् व्यवहार

होता है और ऐसा व्यवहार चश्मे के शीशे को और भी विकृत करता है। हमारे चित्त में और भी विकार उत्पन्न होता है। यह बात चक्रनेमिक्रमेण बराबर होती रहती है। गाड़ी के पहिये का एक भाग ऊपर आता है, घूमकर वह भाग नीचे आता है और फिर घूमकर ऊपर आता है। प्रत्येक बार घूमते समय अपने साथ कुछ न कुछ कूड़ा करकट बटोरता रहता है।

परन्तु जो मनुष्य धारणा के अभ्यास से ध्यान की भूमिका में पहुंचता है और फिर उसकी गति समाधि की ओर बढ़ती है जिसको एकाग्रता की न्यूनाधिक सिद्धि हुई है और इसके फलस्वरूप चित्तवृत्तियों का क्षोभ कम हुआ है। उसके चित्त की अवस्था चश्मे के निर्मल और पारदर्शक शीशे जैसी होती है। इसी को अभिजात मणि कहा है। यह मणि यह शीशा अपनी ओर से कुछ नहीं जोड़ता। जो पदार्थ उसके सामने आता है उसका विषय बनता है, उसको ज्यों का त्यों उपस्थित करता है और पतंजलि के शब्दों में उस पदार्थ में तत्स्थ और उस पदार्थ से रञ्जित होता है। तत्स्थ का अर्थ है उससे उसमें स्थित होना और तदञ्जनता का अर्थ है उससे रंगा जाना। निर्मल शीशा जो पदार्थ उसके सामने आता है उससे तादातम स्थापित कर लेता है। उसके साथ सारूप्य स्थापित कर लेता है। फलतः हम चश्मे के शीशे को नहीं प्रत्युत उस पदार्थ को देखते हैं। किसी प्रकार जब चित्त की वृत्तियां क्षीण होती हैं और वह शुद्ध होता है तो वह उन पदार्थों को जो उसके सामने विषय रूप से आते हैं यथावत् प्रकट करता है। उनके साथ तादात्म्य स्थापित कर लेता है।

वह कौन से पदार्थ हैं जो चित्त के सामने आ सकते हैं? वह तीन प्रकार के हैं। पतंजलि ने उनके लिए ग्रहीता, ग्रहण और ग्राह्य शब्दों का व्यवहार किया है। तीनों की समाप्ति अर्थात् तदात्मता और शुद्ध ज्ञान का अर्थ होता है।

ग्रहीता का अर्थ है पकड़नेवाला अर्थात् ज्ञान का धारण करने वाला। दूसरे शब्दों में द्रष्टा या ध्याता से ग्रहण का अर्थ है ज्ञान और दर्शन का साधन, प्रकरण। ग्राह्य से तात्पर्य है ग्रहण होने योग्य वस्तु अर्थात् वस्तु दृश्य या ध्येय। इन्द्रियों के जितने भी विषय हैं वह सब ग्राह्य शब्द के अन्तर्गत हैं। पंचमहाभूत के अतिरिक्त पंच तन्मात्रा अर्थात् शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध ग्राह्य हैं। इन्द्रियों की भी गणना ग्राह्यों में ही करनी चाहिए। इसके साथ ही इन्द्रियों और अहंकार ग्रहण करने के दर्शन के उपकरण हैं, साधन हैं। अतः यह सब ग्रहण हैं। बुद्धियुक्त पुरुष को ग्रहीता कहते हैं। शुद्ध आत्मा या पुरुष चिन्मय होने से किसी विषय का ज्ञाता नहीं होता। जब उसका बुद्धि से योग होता है तभी वह द्रष्टा और ज्ञाता अर्थात् ग्रहीता हो सकता है। इस सूत्र का अर्थ यह है कि जब चित्त धारणादि के अभ्यास से निर्मल हो जाता है तो वह सभी विषयों का यथार्थ ज्ञान कर सकता है। बिना चित्त के तो किसी प्रकार का ज्ञान हो ही नहीं सकता।

यह शुद्ध चित्त का लक्षण है कि वह अन्य सब विषयों के साथ साथ अपना ज्ञान भी कराता है।

हम पहले कह आये हैं कि जो लोग योगभ्रष्ट होते हैं अर्थात् एक जन्म में योगाभ्यास में पूर्ण सफलता प्राप्त नहीं कर सकते उनका प्रयास अकारथ नहीं जाता। कुछ काल तक ऊंचे लोकों में अपने पुण्य को भोगकर वह फिर मनुष्य योनि में जन्म लेते हैं और अच्छे कुल में शरीर धारण करते हैं। यदि उनके पिछले जन्म का अभ्यास अच्छा रहा तो योगियों के कुल में ही जन्म होता है और इसके बाद अपने पहले जन्म का छोड़ा हुआ अभ्यास फिर से आरम्भ करते हैं। योगभ्रष्टों में कुछ लोग पिछले जन्म के बड़े ऊंचे अभ्यासी होते हैं। उनको नया शरीर धारण करने पर पहले की बहुत सी स्मृति बनी रहती है और नीचे से आरम्भ करने की आवश्यकता नहीं होती। उपदेश और दीक्षा उनके लिए बहाना मात्रा होता है। ऐसे लोगों की समाधि को भव प्रत्यंय कहते हैं। भव प्रत्यय का अर्थ है "जन्म है कारण जिसका"। इन लोगों के लिए इनके जन्म को समाधि का कारण कह सकते हैं। परन्तु ऐसे लोग बहुत थोड़े होते हैं। अधिकांश साधकों को चाहे उन्होंने पिछले जन्म में कुछ अभ्यास किया भी हो एक बार नीचे से ही प्रयत्न करना पड़ता है। इनके लिए समाधि उपाय प्रत्यय है अर्थात् उसका कारण उपाय है। ऐसे लोगों के लिए समाधि की अनुभूति "श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि तथा प्रज्ञापूर्वक" होती है अर्थात् क्रमशः चित्त में इन गुणों का उदय होता है और इनमें से प्रत्येक गुण समाधि प्राप्त करने के लिए उत्तरोत्तर प्रबल साधक होता है।

सबसे पहला गुण श्रद्धा है। किसी पदार्थ पर श्रद्धा रखने का अर्थ है उसके विषय में यह विश्वास रखना कि वह सत्य है। ज्यों ज्यों साधक अभ्यास करता है और उसके अनुभव खुलते हैं त्यों त्यों उसको इस बात की प्रतीति होता जाती है कि मुझको शास्त्र तथा गुरू ने यही तो बतलाया था। अतः शास्त्र और गुरु की सत्यता पर विश्वास बढ़ता जाता है। यह विश्वास उनकी आज्ञा मानने के लिए प्रेरणा देता है। ऐसी प्रेरणा से अभिरुचि बढ़ती है क्योंकि यह विश्वास होता है कि इस मार्ग पर चलने से और जो बातें बतलायी गयी हैं वह भी निश्चय ही सिद्ध होंगी। अतः श्रद्धा से वीर्य उत्पन्न होता है। वीर्य से तात्पर्य शक्ति, तत्परता और उत्साह से है। वीर्य की वृद्धि से स्मृति की परिशुद्धि होती है। स्मृति का साधारणतः अर्थ है अनुभूत विषय का असम्प्रमोष अथात् पहले अनुभव में आयी हुई बात न न भूलना। साधारणतः हम लोग स्मृति शब्द का इसी अर्थ में व्यवहार करते हैं। इस जीवन में जितने अनुभव हुए हैं उनमें से अधिकांश को हम काल पाकर भूल जाते हैं। यदि प्रत्येक समय पुरानी बातों के बोझ ढोने पड़ें तो जगत् व्यवहार कठिन हो जाय। जो बातें भूली हुई हैं विशेष अवसरों पर और विशेष प्रयत्न से याद आ जाती हैं। जब इस जन्म के अनुभवों को ही हम भूल जाते हैं तो पिछले

जन्म के अनुभवों का तो कहना ही क्या है। परन्तु वह अनुभव अपने संस्कार हमारी वुद्धि पर छोड़ गये हैं। सब लोगों के पुराने अनुभव एक से नहीं थे। इसलिए इस शरीर में सब की वुद्धि सबकी रुझान सबकी प्रवृत्तियां, एक सी नहीं हैं। हमारे बहुत से पुराने संस्कार ऐसे हैं जिनका हमको साधारणतः परिचय नहीं मिलता। परन्तु वह कहीं न कहीं भीतर दवे रहते हैं। कभी कभी स्वप्न आदि की अवस्था में कुछ विकृत रूप में सामने आ जाते हैं। परन्तु सामने चाहे न भी आयें, भीतर से किसी दवे हुए स्तर से हमारे जीवन को प्रेरित करते रहते हैं। यदि उनका साक्षात्कार हो जाय तो उनमें से जो वुरे संस्कार हैं हम उनको दवाने का भी प्रयत्न कर सकें। परन्तु सावारणतः यह भी सम्भव नहीं होता। परन्तु जव समावि के पथ पर लगे हुए योगी में श्रद्धा और वीर्य की जागृति होती है तो उसके साथ ही उसकी स्मृति भी जागती है। न केवल इस जन्म की वरन् पहले जन्म के भी अपने संस्कार अपने सामने आते हैं। चित्त में स्वतः कुछ उस ढंग की प्रक्रिया होती है जिसका उपयोग मानस उपायों से मानव रोगों के उपशम के लिए किया जाता है। अपना चित्त स्वयं संस्कारों के उस वोझ को कुछ कुछ पहचानने लगता है जिसको वह अनेक जन्मों से ढोता आया है। ऐसा होने से वह उनका नियंत्रण कर सकता है। जो अच्छे संस्कार हैं उनको फलीभूत होने का अवसर दे सकता है और जो बुरे संस्कार हैं उनका उसी प्रकार शमन कर सकता है जिस प्रकार वह इस जन्म की जागृत प्रावृत्तियों का शमन करता रहा है। इससे एक वड़ा लाभ यह होता है कि जो भोग कभी किसी भावी जन्म में आगे भोगने पड़ते उनमें से कइयों की इसी शरीर से निवृत्ति हो जाती है। इस प्रकार जव स्मृति की शुद्धि होती है तो स्वतः चतुर्मुख शुद्धि होती है और अपनी गुप्त और प्रकट दुर्वलताओं से लड़कर विजयी होने से सावक की शक्ति भी वढ़ती है। इसलिए स्मृति के वाद चित्त में एकाग्रता और स्थिरता की वृद्धि होती है। इसी अर्थ में पतंजलि ने यहां समावि शब्द का व्यवहार किया है।

अनुभवों का होना अच्छा है परन्तु उनके यंत्रवत् होने से कोई विशेष लाभ नहीं होता। अनुभवों की सार्थकता इस वात में है कि उनका एक दूसरे साथ सन्तुलन और समन्वय किया जाय। एक अनुभव दूसरे अनुभव से मिलाया जाय। इस प्रकार जव अनुभवों का एक दूसरे के साथ सम्बन्ध स्पष्ट होता है तभी उनके मिलने से उस ज्ञान का उदय होता है जो योगियों को मोक्ष देने वाला है। जव एकाग्रता दृढ़ होती है तव योगी में प्रज्ञा का उदय होता है।

योगशास्त्र में समावि के दो भेद किये गये हैं: सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात। जिस समावि में विषय का सम्यक् प्रकार से ब्योरेवार ज्ञान हो वह सम्प्रज्ञात है। इससे जो भिन्न है उसे असम्प्रज्ञात कहेंगे। सम्प्रज्ञात समाधि के भी चार भेद या यों कहिए कि चार स्तर माने जाते हैं: वितर्क, विचार आनन्द और अस्मिता। वर्गी-

करण को थोड़ा और आगे बढ़कर वितर्क और विचार के भी दो दो भेद कर दिये जाते हैं: सवितर्क और वितर्क, सविचार और निर्विचार। इस प्रकार सब मिलाकर सम्प्रज्ञात समाधि के छः भेद हुए।

उदाहरण के लिए ऐसा मान लिया जाय कि साधक किसी स्थूल वस्तु जैसे—हाथी के शरीर को धारणा का अवलम्बन बनाता हैं। उसकी धारणा ध्यान में और ध्यान समाधि में परिणत होगा। उसके चित्त में हाथी है परन्तु उसके सामने जो विषय है वह इतना ही नहीं है। हाथी के साथ साथ हाथी का नाम और हाथी का ज्ञान भी है। वह हाथी के सम्बन्ध में कई बातें जानता है। वह सब भी हाथी के शरीर के साथ साथ उसके अनुभव की सामग्री है। इस अवस्था का नाम सवितर्क समाधि है। क्रमशः उसके ध्यान का क्षेत्र और संकुचित होगा। उसके सामने केवल वह पदार्थ रह जायगा जिसे हाथी कहते हैं। नाम और गुण तथा नाम और गुण का ज्ञान, यह ज्ञान कि मैं हाथी को देख रहा हूं, यह सब विलीन हो जायगा और उसका चित्त हाथी मात्र पर एकाग्र होगा। यह निर्वितर्क समाधि है। यह समाधि ग्राह्य वर्ग के उन पदार्थों तक सीमित रहती है जो स्थूल हैं जैसे महाभूत।

इस प्रकार स्थूल विषयों के सम्बन्ध में जो कुछ भी जाना जा सकता है वह निर्वितर्क समाधि की अवस्था में जान लिया जाता है। जब सूक्ष्म ग्राह्य जैसे पांच में से कोई तन्मात्रा एकाग्रता का विषय बनाया जाय तो विचार कोटि की समाधि में प्रवेश होता है। मूल विषय के साथ साथ और दूसरी बातें जिनका साधक को पहले से ज्ञान होता है चित्त में विद्यमान रहती हैं। अतः विषय भी एक प्रकार से मिश्रित रहता है। उस सम्बन्ध की अवस्था सविचार समाधि कहलाती है। जब वह विषय अपने शुद्ध रूप में सामने आता है और उसकी सहवर्ती बातें दब जाती हैं तब निर्विचार समाधि होती है। यहां तक समाधि के क्षेत्र में स्थूल एवं सूक्ष्म ग्राह्य विषय होते हैं।

अब ज्ञान के उपकरणों की बारी आती है। इनमें ज्ञानेन्द्रिय हैं, अहंकार और कुछ हद तक बुद्धि भी है। जब यह विषय समाधि के क्षेत्र में आता है तो उस अवस्था का नाम आनन्द समाधि होता है। सवितर्क और सविचार समाधियों में रजोगुण के साथ साथ सत्त्वगुण काम करता है। आनन्द समाधि में सत्त्वगुण का बाहुल्य है और शेष दोनों गुण प्रायः तिरोहित हो जाते हैं। जब इससे भी ऊपर उठकर ग्रहीता समाधि का विषय बनता है तो प्रायः शुद्ध सत्त्वगुण ही रह जाता है और अपनी सत्ता ही अनुभूतिका विष यहो जाती है। जैसा कि चतुर्थ अध्याय में दिखलाया जा चुका है इस पृथक् सत्ता की अनुभूति के दो अंश हैं। एक तो शुद्ध चित्त पदार्थ और दूसरा कल्पित चित्त पदार्थ। सत्य के ऊपर सदा एक झीना सा पर्दा पड़ा रहता है। यदि वह पर्दा भी हट जाय तो पृथक् सत्ता का

आभास नहीं होगा और समाधि की अनुभूति नहीं होगी। यहां पहुंचकर सम्प्रज्ञात समाधि समाप्त हो जाती है।

इतना स्मरण रखना चाहिए कि जब ग्राह्य विषयीभूत होता है तो उसके साथ साथ ग्रहण और ग्रहीता भी पृष्ठभूमि में रहते हैं और ग्रहण के साथ भी तनु रूप में ग्रहीता का भान होता है। कहने का तात्पर्य यह है कि वितर्क समाधि के पीछे विचार, आनन्द और अस्मिता की भी हल्की सी प्रतीति होती रहती है। विचार के साथ इसी प्रकार आनन्द और अस्मिता बने रहते हैं और आनन्द की भी आड़ में अस्मिता झांकती रहती है। सम्प्रज्ञात समाधि को सबीज समाधि भी कहते हैं क्योंकि इस समाधि का सुख चाहे कोई व्यक्ति लाखों वर्ष तक लेता रहे फिर भी संसार की ओर लाने वाले संस्कार विद्यमान रहेंगे। यही बीज हैं। इनसे फिर संसाररूपी महावटवृक्ष हरा भरा हो जायगा।

एक बात बहुत महत्त्व की है और उसकी ओर मैं विशेष रूप से ध्यान दिलाना चाहता हूं।

समाधि के वितर्क आदि भेदों की गौणता

ऊपर समाधि के वितर्क आदि के भेद बतलाये गये हैं। उनसे किसी जिज्ञासु के चित्त में दो शंकायें उठ सकती हैं। क्या प्रत्येक व्यक्ति के लिए किसी स्थूल ग्राह्य पदार्थ को धारणा बनाकर चलना होगा और वितर्क समाधि के अन्त होने पर किसी सूक्ष्म ग्राह्य पदार्थ को धारणा का अवलम्बन बनाकर नयी यात्रा आरम्भ करनी होगी? और क्या यही क्रम आनन्द और अस्मिता के लिए होगा? इससे तो चित्त की प्रशान्त धारावाहिक गति टूट जायगी। मेरा कथन यह है कि शास्त्र की मर्यादा की दृष्टि से मैंने इन बातों का चर्चा किया है। परन्तु किसी ऐसे साधक को जो मुमुक्षु हो इन बातों की ओर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता नहीं है। उसको चाहिए कि नाद या अन्य जिस किसी आलम्बन को उसके गुरु ने धारणा का सहारा बतलाया हो उसको पकड़कर चला जाय। बार बार धारणा के विषय को बदलने की कोई आवयकता नहीं है। चित्त समाधि परिणाम की ओर अग्रसर होकर निरोध परिणाम के मार्ग को अपने आप पकड़ लेगा और वितर्क तथा विचार की भूमियों में बिना भटके उसकी गति आनन्द और अस्मिता तक हो जायगी जहां से यदि उससे बन पड़े तो वह असम्प्रज्ञात समाधि के क्षेत्र में भी प्रवेश कर सकता है।

तो यह प्रश्न हो सकता है कि पतंजलि ने इस विषय का यहां चर्चा ही क्यों किया? एक बात ध्यान रखने की है। जिन सूत्रों में समधि के इन भेदों का चर्चा है वह विभूतिपाद को दृष्टि में रखकर बने हैं। इस पाद में यह बतलाया गया है कि योगी को किस प्रकार की सिद्धियां अर्थात् विशेष शक्तियां प्राप्त हो सकती हैं। पतंजलि ने यह दिखलाया है कि

हर सिद्धि के लिए किसी न किसी विशेष विषय पर संयम करना होगा अर्थात् धारणा से लेकर समाधि तक का प्रयास करना होगा। जितने उपाय उन्होंने बतलाये हैं उन सब में धारणा का सहारा या तो स्थूल है या सूक्ष्म। मैंने हाथी का उदाहरण भी उनके ही एक सूत्र से लिया है। उस सूत्र में कहा गया है कि :

बलेषु हस्तिबलादीनि । (३,२३)

यदि कोई चाहता है कि मेरे शरीर में हाथी जैसा बल आ जाय तो उसको हाथी के शरीर पर संयम करना चाहिए। धारणा से लेकर समाधि तक का विषय हाथी होगा। यह स्पष्ट ही है कि ऐसे प्रसंग में जो समाधि होगी वह या तो वितर्क या विचार कोटि की होगी। इस बात को ध्यान में रखकर पतंजलि को समाधि के इन भेदों का चर्चा करना पड़ा। असम्प्रज्ञात समाधि की ऊंची भूमिका तक पहुंचकर तथा योग के सब मंजिलों को पार करके योगी जो चाहे कर सकता है। ऐसा योगी कपिल के शब्दों में : सर्वविज्ञ, सर्व-कर्त्ता—सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान होगा। बिना परिश्रम के वह इच्छामात्र से जो कुछ चाहेगा जान सकेगा और जो कुछ चाहेगा कर सकेगा। परन्तु अभ्यास की अवस्था में स्थूल सूक्ष्म विषयों को लक्ष्य बनाकर वितर्क और विचार समाधि की बात सोचने की रत्ती भर आवश्यकता नहीं है।

इस अवस्था तक पहुंचे हुए साधक को दो क्षमतायें अनायास ही प्राप्त हो जाती हैं जिनका पतंजलि ने इन शब्दों में वर्णन किया है :

१. ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा। (१,४८)
२. परमाणुपरममहत्त्वान्तोऽस्य वशीकारः। (१,४८)

१. उसकी प्रज्ञा ऋतम्भरा होती है या उसमें ऋतम्भरा प्रज्ञा उत्पन्न होती है।
२. परमाणु से लेकर परम महत् पदार्थ तक उसके वश में हो जाता है।

ऋतम्भरा का अर्थ है ऋत से अर्थात् सत्य से परिपूर्ण या परिपोषित। वह जिस विषय का ज्ञान चाहता है उसके विषय में निर्भ्रान्त और सम्पूर्ण जानकारी प्राप्त होती है।

वितर्क और विचार समाधियों के विषय में जो उपाय बतलाया गया है उसके द्वारा छोटे से छोटे और से बड़े से बड़े, स्थूल से स्थूल और सूक्ष्म से सूक्ष्म, विषय को आलम्बन बनाकर वह जानकारी प्राप्त करता है।

अशरीरी योगियों के दर्शन

जो साधक किसी विभूति को प्राप्त करने के लिए संयम की विधि से काम

लेता है वह वस्तुतः अपनी शक्ति और जीवन की घड़ियों को नष्ट कर रहा है। उसका प्रयास वैसा ही है जैसे किसी का वन्दूक से मक्खी का शिकार करना। इस सम्बन्ध में लोक में एक कथा प्रसिद्ध है। किसी नदी के किनारे एक महात्मा का आश्रम था। उनका एक शिष्य जो नदी के दूसरे किनारे पर कुटी बनाकर रहता था कई सालों के वाद अपने गुरु से मिलने आया। वर्षा का दिन था। नदी में वाढ़ आयी हुई थी। वड़ी तेज हवा चल रहीं थी। प्रणाम, आशीर्वाद के वाद गुरु ने पूछा कि इस वक्त तो ऋतु वड़ा खराब है। तुम कैसे आये? उसने कहा कि महाराज, आपके आशीर्वाद से मैं जल पर यों ही टहलता हुआ चला आया। गुरु ने कहा "यह तुमने वड़ा भारी काम किया। पांच छः वर्षों के वाद तुम्हारे दर्शन हुए। इतने दिनों में तुमने दो पैसे वचा लिये। इसके लिए तुमको ववाई देता हूं। वह इस वात को कुछ समझ नहीं पाया। इसका अर्थ पूछा। गुरु ने कहा दूसरा आदमी होता तो मल्लाह को तो दो पैसे देकर इस पार आता। तुमने पांच वर्ष तक घोर तपस्या करके और योग का अभ्यास करके वह सिद्धि प्राप्त की जिससे तुम्हारे दो पैसे वच जायंगे। वह लज्जित हुआ और उसकी समझ में आ गया कि मैंने सचमुच व्यर्थ का प्रयास किया। इतने दिनों के वैराग्य और अभ्यास के वाद ऐसी सिद्धियों के पीछे दौड़ा जो सव किसी न किसी प्रकार इन्द्रियों के विषय हैं। अस्तु, यदि किसी को ऐसी चीजों की इच्छा है तो मुझे उससे कुछ नहीं कहना है। परन्तु जब जिज्ञासु आत्मा-साक्षात्कार के लिए अभ्यास करता है और यहां तक पहुंच चुका है तो उसको दो अवधान देने हैं। पतंजलि ने एक सूत्र में कहा है :

स्थान्युपनिमंत्रणे संगस्मयाकरणं पुनरनिष्टप्रसंगात् । (३,५०)

जो साधक क्रमशः समाधि की भूमिकाओं में आगे वढ़ता है उसको कई प्रकार के अनुभव होते हैं। इनमें से कुछ की ओर पिछले अध्याय में संकेत किया जा चुका है। केवल भांति भांति के शब्द आदि गोचर नहीं होते प्रत्युत सूक्ष्म लोकों का भी साक्षात्कार होता है। लोक शब्द से घवराना नहीं चाहिए। इस शब्द का व्यवहार भौगोलिक अर्थ में नहीं हुआ है। कई ऐसी पुस्तकों में जिनके रचयिता योगी समझे जाते हैं या स्वयं योगी होने का दावा करते हैं ऐसी भाषा का प्रयोग होता है जैसे पृथिवी पर की किसी यात्रा का वर्णन किया जा रहा हो। अमुक लोक से इतनी दूर पर अमुक लोक है। उसके दाहिने या वायें या ऊपर इतना योजन चलने से अमुक लोक मिलता है, इत्यादि इत्यादि। यहां इतने कोस या योजन चल कर कोई यात्रा समाप्त की जाती है, न कहीं उत्तर दक्षिण, पूर्व या पश्चिम का कोई संकेत है, दिक् कव का लुप्त हो चुका होता है। दाहिने, वायें, ऊपर, नीचे जैसे शब्द निरर्थक हैं। यह सव लोग तो यहां हैं, सर्वत्र हैं और कहीं नहीं हैं। जितने सत्य या असत्य, भूर्लोक है उतने ही सत्य और उतने ही असत्य वह सव लोक भी हैं।

पृथिवी पर हमको जो अनुभव होता है उसको हम यों व्यक्त कर सकते हैं कि हम इस समय मनुष्य लोक में हैं परन्तु इसके साथ ही हमको दूसरे शरीरधारियों की भी प्रतीति होती है। युगपत् एक ही जगह मनुष्य लोक भी है। पिपीलिका लोक भी है, गो लोक भी है, श्व लोक भी है। कुछ जीव इतने सूक्ष्म हैं कि हमको देख नहीं पड़ते। कुछ को हम किसी यंत्र के द्वारा भी देख नहीं सकते। केवल उनके कार्यों से उनका अनुमान कर सकते हैं। उनके भी सूक्ष्म लोक हैं। इसी प्रकार ऐसे भी शरीरधारी हैं जिनकी हम कल्पना तक नहीं कर सकते। उन्होंने अपने अपने कर्म के अनुसार अपने अपने शरीर धारण किये हैं। हम उनके समुच्चयों को उनका लोक कह सकते हैं। अस्तु, साधक को बहुत से सूक्ष्म लोकों का अनुभव होता है। इनमें कुछ अनुभव सुखद हैं कुछ दुखद। जहां सुखद अनुभव होते हैं उनको देव लोक कहने का चलन है।

देव दो प्रकार के होते हैं: आजान और कर्म। जो लोग अपनी दीर्घ तपस्या और योगचर्या के द्वारा सूक्ष्म लोकों में रहकर जगत् का नियंत्रण करते हैं वह आजान देव हैं। वह दूसरे जीवों को आध्यात्मिक जीवन में आगे बढ़ने में सहायता देते हैं। कभी दंड भी देते हैं तो हित के लिए। ऐसे लोग साध्य भी कहलाते हैं। उनकी ही लोग पूजा करते हैं और उनसे ही याग आदि के द्वारा प्रार्थनायें की जाती हैं। श्रौतवाङ्मय में इनका चर्चा बराबर आया है। देवों के लोक को वेदों में बहुधा नाक कहा गया है। नाक का अर्थ है न + अ + क—नहीं + नहीं + सुख, अर्थात् सुख। ऐसे लोग भी होते हैं जो अपने पुण्य और पाप तप के बल से कुछ दिनों के लिए देव लोक में जाते हैं। इनको वहां के सुख तो मिलते हैं परन्तु अधिकार नहीं। अधिकारी देवों को आजान देव और इन दूसरे वर्ग के व्यक्तियों को कर्मदेव कहते हैं। इनकी पूजा नहीं की जाती। जो भाग्यवान साधक हैं उनको आजान देवों के भी दर्शन हो सकते हैं। यह लोग जिन स्थानों के अध्यक्ष हैं वहां के स्थानी कहे गये हैं। जब कोई साधक उधर से निकलता है तो स्थानी उसको निमंत्रण देता है कि आप आइये हमारे इस लोक में विश्राम कीजिए। यहां आपको अमुक अमुक सुख प्राप्त होंगे। ऐसे ही प्रलोभन यम ने नचिकेता को दिये थे और ऐसे प्रलोभनों का सामना प्रायः हर अच्छे साधक को करना पड़ता है। पतंजलि यह परामर्श देते हैं कि जब स्थानियों की ओर से इस प्रकार का निमंत्रण मिले तो न संग करना चाहिए न स्मय। संग का अर्थ है उस निमंत्रण को स्वीकार करके वहां के भोगों का आस्वादन करना। स्मय का अर्थ है मुस्कराना अर्थात् इस बात का अभिमान करना कि अब मैं इतना बड़ा व्यक्ति हो गया कि देवगण भी मेरे प्रति चाटुकारिता दिखलाते हैं, मेरी खुशामद करते हैं। पतंजलि का कहना है कि उभयतः अनिष्ट की आशंका है। दोनों दिशाओं में पतित होने की आशंका है। इतने ऊपर जा कर भोगों में फंसना था तो भोग तो नीचे रहकर भी प्राप्त हो सकता था और अभिमान तो बहुत सी बुराइयों की

जड़ है। सावक को नम्रता के साथ स्थानियों को प्रणाम करके आगे बढ़ना चाहिए। नचिकेता के शब्दों में तवैव वाहा तव नृत्यगीते—यह नाच गाना, सवारी, सबको कृपा करके अपने ही पास रखें। जहां तक मेरी बात है मैं तो एक उद्देश्य लेकर आगे चल रहा हूं :

नहि नचिकेता वरमन्यं वृणीते।

नचिकेता कोई दूसरा वर नहीं मांगता।

स्थानियों के दर्शन के सिवाय एक और बात का भी अनुभव हो सकता है। विश्व में बहुत से अशरीरी तपस्वी और योगी रहते हैं। उनमें से कुछ को योगभ्रष्ट कहा जा सकता है। कुछ ऐसे हैं जो अपनी इच्छा से योग की उच्चतम भूमिकाओं तक नहीं जाते। वह जीवों पर दया करके एक दो शरीर और धारण करना चाहते हैं ताकि दूसरों को सन्मार्ग दिखला सकें। उनको पृथिवी पर कर्मवशात् शरीर नहीं धारण करना है। ऐसे लोगों का चर्चा प्राचीन वाङमय में बहुत आता है। ऐसा लिखा मिलता है कि अमुक महात्मा अमुक जगह बैठकर तप कर रहे हैं ताकि किसी अगले जन्म में शरीर धारण करके लोगों को धर्म और ज्ञान का मार्ग दिखला सकें। यदि मैं भूलता नहीं तो कुछ पुराणों में ऐसा उल्लेख है कि वशिष्ठ कहीं हिमालय पर तप कर रहे हैं और अगले कल्प में उनको ब्रह्मा होना है। बौद्ध आध्यात्मिक वाङमय में भी ऐसे बहुत से महात्माओं के जिक्र हैं। उनको बोधिसत्व कहते हैं। बोधिसत्व अपनी इच्छा से निर्वाण न लेकर एक बार शरीर और धारण करते हैं। उस शरीर में वह बुद्ध कहलाते हैं। पद्मनाभ, वज्रपाणि, मंजूश्री आदि कई बोधिसत्वों के नाम मिलते हैं। ऐसे महाभागों के भी कभी कभी दर्शन मिल जाते हैं। वह स्वयं किसी पर कृपा करके उसको उपदेश देने के लिए दर्शन दे सकते हैं। ऐसा उपदेश भाषा के द्वारा नहीं हुआ करता। किन्हीं पुराणों में कहा है कि सनकादि किसी समय शंकर से कुछ सीखने गये थे। उस समय "गुरोस्तु मौनं व्याख्यानाम् शिष्यास्तु छिन्नसंशयाः।"

गुरु का व्याख्यान मौन रूप से हुआ और शिष्यों के सब संशय दूर हो गये। यदि सौभाग्य से किसी को सिद्ध दर्शन होता है तो उसे उनका पूर्णरूपेण समादर करना चाहिए। उनके साथ भी वैसा ही वर्ताव करना जो स्थानी के साथ किया जाता है वह अनर्थकारी होगा।

अध्याय १६

योग के अंग—समाधि (असम्प्रज्ञात)

पिछले अध्याय में सम्प्रज्ञात समाधि का चर्चा किया गया था। जो साधक उस स्तर तक पहुंचता है उसके सम्वन्ध में पतंजलि ने कहा है :

तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्णचम् । (१,१६)

वह (वैराग्य) ऊंचा है। पुरुषख्याति के उदय होने से गुणों के प्रति वितृष्णा हो जाती है।

पुरुषख्याति कहते हैं पुरुष को ऐसा अनुभव होना कि मैं शरीर और चित्त आदि से पृथक् हूं, इनसे मेरा कोई सम्वन्ध नहीं है। साधारण अवस्था में मनुष्य शरीर और चित्त के धर्मों से तादात्म्य रखकर अपने को दुबला, मोटा, धनी, निर्धन, सुखी, दुखी आदि मानता है। परन्तु जब समाधि की ऊंची भूमिकाओं में पहुंचता है तो उसको यह प्रतीत होता है कि इस प्रकार का तादात्म्य करना भूल है। मेरा इन वस्तुओं से कोई सम्वन्ध नहीं है। यह सव तीनों गुणों की विकृतियां हैं और इन्होंने मुझे बांध रखा है। इस प्रतीति के होने से गुणों और उनकी विकृतियों की ओर से खिंचाव का अन्त हो जाता है। तव फिर दृष्ट और आनुश्रविक विषयों के प्रति जो वैराग्य चित्त में पहले से चला आता था वह और भी दृढ़ हो जाता है। उसका स्तर और ऊंचा हो जाता है।

अव साधक के चित्त में असम्प्रज्ञात समाधि के लिए पृष्ठभूमि तैयार हो रही है। सम्प्रज्ञात में तो विषयों का सम्यक् रूप से व्यौरेवार ज्ञान होता है। असम्प्रज्ञात में यह सव कुछ नहीं होता। सम्प्रज्ञात में कोई न कोई स्थूल या सूक्ष्म विषय चित्त का आलम्वन होता है। असम्प्रज्ञात समाधि में कोई आलंवन नहीं रहता। सम्प्रज्ञात में संस्कारों का वह बीज रहता है जो फिर संसार की ओर ला सकता है। असम्प्रज्ञात में वह बीज भी दग्ध हो जाता है। इसलिए उसको निर्वीज समाधि कहते हैं। सम्प्रज्ञात समाधि अस्मिता तक आ कर रुक जाती है और जहां तक अस्मिता है वहां तक अविद्या है। असम्प्रज्ञात समाधि का पर्यवसान जाकर निरोध पर होता है। उसके सम्वन्ध में पतंजलि ने यों लिखा है :

विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वः संस्कारशेषोऽन्यः । (१,१८)

अन्य, सम्प्रज्ञात से भिन्न अर्थात् असम्प्रज्ञात समाधि वह है जिसके पूर्व और विराम प्रत्यय का अभ्यास होता है और जिसमें संस्कार मात्र शेष रह जाता है। विराम प्रत्यय शब्द के दो अर्थ हो सकते हैं—चित्तवृत्तियों का विराम अर्थात् रुक जाना, उनके निरोध की प्रत्यक्ष अनुभूति—यह एक अर्थ है। यदि यह अर्थ माना जाय तो इस सूत्र का अर्थ यह होगा कि वृत्तियों के प्रवाह के रुक जाने की जो अनुभूति होती है उसका अभ्यास किया जाय। बार बार वह अनुभूति चित्त में लायी जाय। आरम्भ में यह बात सुकर नहीं हो सकती। वृत्तियों का प्रवाह रुक जाय अर्थात् निरोध हो जाय यही ऐसी अनुभूति है जो प्रायः सहज रूप से किसी को नहीं होती। उसके अभ्यास करने का अर्थ होगा बराबर लड़ते रहना और जो भी चित्त में कोई वृत्ति उठे उसको दबा देना। ऐसा करते करते सूत्रकार के कहने के अनुसार एक दिन सचमुच विराम की अवस्था आ जायगी। उस अवस्था में चित्त का कोई आलम्बन नहीं रह जायगा। केवल झीना सा संस्कार बच रहेगा।

यदि दूसरा अर्थ लेना हो तो ऐसा मानना होगा कि प्रत्यय शब्द का प्रयोग कारण के अर्थ में हुआ है। तब फिर विराम के कारण या कारणों का अभ्यास करना होगा। चित्त के विराम के कारण परम वैराग्य हो सकता है। ऊपर जो सूत्र उद्धृत किया गया है उसमें गुण वैतृष्ण का उल्लेख है। उसी भाव को चित्त में दृढ़ करना होगा। जब किसी भी दिशा में चित्त चले तो यह भावना करनी होगी। यह तो गुणों का विकार है, इससे मुझसे कोई सम्बन्ध नहीं है। जब इस प्रकार का प्रयास करते करते चित्त के किसी भी गुणजन्य पदार्थ से लगाव नहीं रह जायगा तब आपसे आप ही निरोध रूप असम्प्रज्ञात समाधि आ जायगी।

चित्त में निरोध परिणाम का स्थापित होना या तो कहिए कि निरोध की ओर उसका झुकाव होना एक गहरे संघर्ष के परिणाम पर निर्भर करता है। एक ओर तो व्युत्थान के संस्कार हैं। समाधि से भिन्न चित्त की जो अवस्था होती है उसको व्युत्थान कहते हैं। वह तमोगुण और रजोगुण प्रधान होती है। यों कुछ छींटे सत्त्वगुण के भी पड़ते रहते हैं। चित्त की व्युत्थान अवस्था इस जन्म में ही नहीं वरन् पिछले जन्मों में रही है। उन जन्मों में जो अनुभव हुए उनके संस्कार बहुत प्रबल हैं। इसके विरुद्ध समाधिजन्य संस्कार एक दो जन्मों से पड़ने लगे हैं। चित्त में आधिपत्य के लिए दोनों प्रकार के संस्कारों में संघर्ष होता है। यदि व्युत्थान जन्य संस्कार प्रबल हुए तो चित्त ढीला पड़ जायगा। परन्तु यदि भाग्य से योगाभ्यासजन्य संस्कार प्रबल हुए तो निश्चय ही चित्त असम्प्रज्ञात समाधि की ओर बढ़ेगा।

इस जगह कई शंकायें उठती हैं। इनमें से एकाध की ओर तो आरम्भ में ही ध्यान आकृष्ट किया गया था जहां पतंजलि के संकल्पसूत्र अर्थात् पहले सूत्र पर विचार हुआ था। वहां यह प्रतिज्ञा की गयी थी कि ऐसी शंकाओं का विचार किया जायगा। पहली शंका तो यह होती है कि चित्त में सम्पूर्ण निरोध हो सकता है या नहीं और यदि किसी प्रकार से हुआ तो उसका परिणाम क्या होगा ? निरोध का अर्थ हुआ रुक जाना। चित्त के निरोध का तात्पर्य हुआ कि चित्त की वृत्तियों का रुक जाना, चित्त में वृत्तियों का न उठना। परन्तु चित्त अपनी वृत्तियों से पृथक् कोई वस्तु नहीं है। जिस प्रकार पानी की बूंदों के समुच्चय का नाम लहर है उसी प्रकार वृत्तियों के समुच्चय का नाम चित्त है। अब मान लिया जाय कि किसी उपाय से निरोध हुआ तो इस कहने का उद्देश्य यह होगा कि वृत्तियां नहीं रहीं। दूसरे शब्दों में चित्त नहीं रहा, चित्त का अभाव हो गया। चित्त के अभाव और चित्त के निरोध में कोई अन्तर नहीं हो सकता। एक क्षण के बाद दूसरे क्षण में कोई वृत्ति उठती है तो पहले क्षण वाली वृत्ति अपने नाश होने के पहले अपने संस्कार परवर्ती क्षण में उदित होनेवाली वृत्ति को दे जाती है। परन्तु जब किसी क्षण विशेष में चित्त का अभाव हो गया तो दूसरे क्षण के लिए कुछ मिलने को नहीं रहा। देने वाला नष्ट हो गया। चित्त नहीं रहा। वही संस्कारों का आश्रय था। बिना संस्कारों की सम्पत्ति पाये चित्त का व्यापार नहीं चल सकता। अतः दूसरे क्षण में भी चित्त का अभाव होगा और दूसरे ही नहीं तीसरे, चौथे और पांचवें, आने वाले अनन्त क्षणों में चित्त का अभाव होगा। यह तभी सम्भव है जब उस क्षण में जब उसके चित्त का निरोध हो साधक की मृत्यु हो जाय। वह समाधिस्थ हो कर बैठे और फिर उस समाधि से न उठे। स्पष्ट ही सूत्रकार का यह तात्पर्य नहीं है। परन्तु निरोध का को दूसरा परिणाम हो भी नहीं सकता।

उस सूत्र को लीजिए जो थोड़ी देर पहले अवतरित हुआ था और यह मान लिया जाय कि उसमें जो प्रत्यय शब्द है उसका वही अर्थ है जो मैंने पहले कहा था। विराम प्रत्यय का अभ्यास कैसे होगा ? विराम का ठीक अर्थ तो निरोध हो सकता है। किसी क्षण विशेष के पहले निरोध हुआ नहीं था। अब यदि निरोध होता है तो वह आशंका उठ खड़ी होती है, जिसका अभी उत्थापन हुआ है। तब निरोध का अभ्यास, निरोध की अनुभूति का दुहराया जाना कैसे होगा ? यदि निरोध का वैसा अर्थ न करके इतना ही मान लिया जाय कि चित्त को निरालम्ब नहीं परन्तु यथाशक्य आलम्बनहीन बनाने का प्रयास हो रहा है तो तात्पर्य यह होगा कि उसका आलम्बन शून्य होगा। कई दृष्टियों से यह अवस्था सुषुप्ति, औषध-मुग्धता (बेहोशी) यह महाप्रलय जैसी होगी। वृत्तियां प्रलीन हो जायंगी परन्तु कहीं जायंगी नहीं। काल पाकर फिर उठेंगी और फिर संसार का अनुभव होगा। इससे कैवल्य नहीं मिल सकता।

यदि प्रत्यय शब्द का दूसरा अर्थ लिया जाय और यह माना जाय कि विराम प्रत्यय से वृत्तियों के कारण अर्थात् गुणों से संबंध राहित्य प्रयोजन है तब भी काम नहीं बनता। बार बार और निरन्तर यह भावना की जा सकती है कि मेरा गुणों से कोई सम्बन्ध नहीं है। गुणों की विकृतियों से मैं सर्वथा निर्लिप्त हूं और मुझे उनसे कुछ नहीं लेना देना है। परन्तु इस प्रकार के अभ्यास से क्या होगा ? चित्त में, एक नकारात्मक वृत्ति व्याप्त हो जायगी। "यह नहीं है" ऐसा तो भान हो सकता है। परन्तु "क्या है" इसकी अनुभूति नहीं होगी। बौद्ध योगी जिसको शून्य कहते हैं, जो अभावात्मक है उसको जगह तो चित्त में बन जायगी परन्तु क्या है, वास्तविकता का स्वरूप क्या है, इसके लिए कोई स्थान न होगा। सच तो यह है कि श्रुति ने जो यह कहा था:

ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः ।

ज्ञान के बिना अविद्या के बंधन से छुटकारा नहीं मिलता है, वैसा ज्ञान इस प्रकार असम्प्रज्ञात समाधि में पहुंचकर भी नहीं हुआ। "क्या नहीं है", यह तो कुछ समझ में आया पर "क्या है" इससे बुद्धि पहिले ही की भाँति दूर रही।

ऐसा कहा है कि असम्प्रज्ञात समाधि संस्कार शेष है। उसमें कौन से संस्कार अवशिष्ट रहते हैं और किस सीमा तक ? पतंजलि ने स्वयं कोई सीमा नहीं बतायी। इसलिए ऐसा मानना चाहिए कि जब तक असम्प्रज्ञात समाधि रहेगी तब तक संस्कार भी अवशिष्ट रहेंगे। इसका तात्पर्य तो यह हुआ कि सम्पूर्ण निरोध की अवस्था में भी संस्कार रह जायगा। इससे एक आपत्ति तो दूर हो जाती है। समाधि से उतरना समझ में आ सकता है। जो संस्कार शेष रह जायंगे वह जागेंगे और साधक फिर व्युत्थान अवस्था में आ जायगा। एक दिन सारे बचे हुए संस्कार समाप्त हो जायंगे। उस दिन मृत्यु हो जायगी। परन्तु जहां एक आपत्ति दूर होती है वहां दूसरा दोष बना रहता है। जिस अवस्था में कुछ संस्कार शेष रहेंगे उसका नाम निरोध कैसे हो सकता है ? भले ही वह निरोधप्राय हो। उसके लिए निरोध नाम सार्थक नहीं होगा।

किसी वस्तु से विरति होने से उसका अभाव नहीं हो जाता। भले ही किसी को गुणों से वितृष्णा हो जाय परन्तु गुणों की सत्ता नहीं मिट सकती। जिस समय साधक को ऐसी भावना होगी कि मेरा गुणों की विकृतियों से कोई सम्बन्ध नहीं है उस समय उसके चित्त की अवस्था को यों दिखला सकते हैं: बीच में एक गहरा रंग का गोला हो उसके चारों तरफ एक हल्के रंग का वलय बनाइये। ऐसा कभी कभी चन्द्रग्रहण में देख पड़ता है और ऐसे ग्रहण को वलय ग्रहण कहते ही हैं। भले ही पूरी शक्ति लगाकर उसके चित्त की वृत्ति अपने स्व पर केन्द्रित की जाय परन्तु "स्व" के चारों ओर "अस्व" की भी प्रतीति रहेगी। मैं (अहम्) के न मैं (अनहम्) के घेरे में अनुभूति किया जायगा।

यदि अहम् के साथ साथ अनहम् की प्रतीति न होती तो मैं अनहम् नहीं हूं या अनहम् से असम्बद्ध हूं ऐसी प्रतीति हो ही नहीं सकती। जो पदार्थ चित्त में नहीं है उससे व्यावर्तन, अतादात्म्य, किया ही नहीं जा सकता। इसका तात्पर्य यह है कि जब तक गुणों के विकारों से अपने पार्थक्य का अभ्यास किया जायगा तब तक गुण भी ध्यान और समाधि के विषय बने रहेंगे। उनसे इस प्रकार छुट्टी नहीं मिलने की। न—मैं की ही पृष्ठभूमि में मैं का साक्षात्कार हो सकेगा। यह द्वैत वुद्धि सदा रहेगी। इसलिए न गुणों से पूर्ण रूप से छुटकारा मिलेगा न कभी कैवल्य या मोक्ष होगा।

और फिर यह शंका तो है ही। यदि कैवल्य हो भी गया तो फिर बंधन न होगा इसका कोई निश्चय नहीं है। वेदान्त के अनुसार बंधन मायाकृत अर्थात् काल्पनिक है। जीव जीव का भेद काल्पनिक है। वहां यह आपत्ति नहीं उठ सकती परन्तु सांख्य योग के सिद्धान्तों के अनुसार जहां पुरुष नित्य है वहां प्रधान भी नित्य है और पुरुष प्रधान का सम्बन्ध भी नित्य ही हो सकता है। यह तो हो ही सकता है कि कैवल्य प्राप्ति के वाद उस पुरुष की दृष्टि फिर प्रधान पर पड़े और फिर उसके लिए जगत् का आविर्भाव हो जाय। उसको अपने पूर्व जगत् की स्मति नहीं हो सकती। क्योंकि वह प्रधान की विकृतियों को छोड़ चुका होगा। वुद्धि का परित्याग कर चुका होगा। ऐसी दशा में स्मृति का कोई आधार उसके पास न होगा।

इस प्रकार की शंकायें पंतजलि के बतलाये हुए असम्प्रज्ञात समाधि के सम्बन्ध में सहज ही खड़ी होती हैं।

आज से लगभग डेढ़ साल होते हैं, काशी के "सूर्योदय" पत्र ने योगदर्शनांक के नाम से एक विशेषांक निकाला था। उसमें प्रसिद्ध विद्वान् पंडित गोपीनाथ कविराज ने असम्प्रज्ञात समाधि के सम्वन्ध में जो टिप्पणी लिखी वह भी विचारणीय है। वह इस प्रकार है :

"साधकसमाजेषु योगिनां वास्तविकी योगावस्था उपायप्रत्ययात्मकेन असम्प्रज्ञातसमाधिरूपेणैव परिचीयते। अत्र उपायो नाम प्रज्ञा, अर्थात् शुद्धज्ञानमेवावधेयम्। सम्यग्ज्ञाने समुत्पद्य निरुद्धे सति योऽसम्प्रज्ञातसमाधिः आविर्भवति, न स ज्ञानानुदयकालीनेन असम्प्रज्ञातसमाधिना तुलनीयः। भवप्रत्ययावस्थाया कियत्कालं यावत् चित्ते निरुद्धे सत्यपि कालान्तरे तदुत्थानम् अवश्यम्भावि। यतो हि तावत्पर्यन्तं चित्तसंस्काराः पूर्णतया तिष्ठन्ति। किन्तु प्रज्ञायाः समुत्पत्तौ क्रमशः संस्कारदाहाद् योऽसम्प्रज्ञातसमाधिः प्रादुर्भवति, तत्र व्युत्थानस्य न काऽपि आशंका। वस्तुतः स एव प्रकारान्तरेण कैवल्यस्य पूर्वास्वादो वक्तुं शक्यः।

बौद्धैर्योगिभिः प्रतिसंख्याऽप्रतिसंख्यानामकौ निरोधस्य यौ द्वौ प्रकारौ वर्ण्येते, प्रायस्तौ उपायप्रत्ययरूपस्य असम्प्रज्ञातसमाधेस्तुल्यौ। सम्प्रज्ञातसमाधौ प्रवेश-

मन्तरा असम्प्रज्ञातसमाधेरधिगमः कदापि योगिभिर्न प्रार्थनीयः । अविद्यादिक्लेशान् अदग्ध्वा केवलं वृत्तिनिरोधकरणेनैव पुरुष आत्मस्वरूपेऽवस्थातुं क्षमो न भवति । ज्ञान-मन्तरा अविद्याबीजनाशस्य न कोऽप्युपायो वरीवर्ति । क्रियायोगद्वारा अर्थात् तपः-स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानां यथाविधि अनुष्ठाने कृतेऽपि अविद्यासंस्कारा न दग्धुं शक्याः किन्तु एतेन नेदं वक्तुं शक्यं यत् क्रियायोगो निष्फल इति । यतो हि क्रियायोगप्रभावादेव संस्काराणां स्थूलरूपं छिद्यते, ते च सूक्ष्ममाकारं धारयन्ति । ततः परं प्रसंख्याने ज्ञानाग्नौ वा प्रज्वलिते तूर्णं ते दग्धा जायन्ते, पुनर्जागरणशक्त्या च रहिता भवन्ति । सम्प्रज्ञातसमाधेः प्रत्येकभूमिकायामेव तदाश्रयेण ज्ञानं विकसति । ततः सस्मिताभूमौ सालम्बज्ञानस्य चरमा शुद्धिः सम्पद्यते । श्रद्धा, वीर्यम्, स्मृतिः, समाधिः, प्रज्ञा चेति ज्ञानप्राप्तेः स्वाभाविकः क्रमः ।"

अर्थात्, साधक समाजों में योगियों की वास्तविक योगावस्था उपाय, प्रत्ययात्मक असम्प्रज्ञात समाधि के रूप से ही जानी जाती है। यहां उपाय का अर्थ प्रज्ञा अर्थात् शुद्ध ज्ञान ही समझना चाहिये। असम्प्रज्ञात समाधि में उत्पन्न होकर निरुद्ध होने पर जो असम्प्रज्ञात समाधि का आविर्भाव होता है वह ज्ञान के अनुदय काल की असम्प्रज्ञात समाधि से तुलनीय नहीं है। भव प्रत्यय अवस्था में कुछ काल के लिए चित्त चाहे निरुद्ध हो भी जाय परन्तु कालान्तर में उसका व्युत्थान अवश्य होगा क्योंकि तब तक चित्त के संस्कार विद्यमान रहते हैं। लेकिन प्रज्ञा के उत्पन्न होने पर क्रमशः संस्कारों के दग्ध हो जाने से जो असम्प्रज्ञात समाधि प्रादुर्भूत होती है, वहां व्युत्थान की कोई आशंका नहीं होती। वस्तुतः उसी को कैवल्य का पूर्वास्वाद कह सकते हैं।

बौद्ध योगियों के द्वारा जो प्रतिसंख्या अप्रतिसंख्या नाम के दो प्रकार के निरोध बतलाये गये हैं वह प्रायः उपाय प्रत्यय असम्प्रज्ञात के ही तुल्य हैं। सम्प्रज्ञात समाधि में प्रवेश होने के बिना योगियों को कदापि असम्प्रज्ञात समाधि के अधिगम की इच्छा नहीं करनी चाहिए। अविद्या इत्यादि क्लेशों को दग्ध किये बिना केवल वृत्ति निरोध के द्वारा पुरुष आत्मस्वरूप में स्थित होने के योग्य नहीं होता। ज्ञान के सिवाय अविद्या के बीज के नाश का कोई उपाय नहीं है। क्रिया योग अर्थात् तप, स्वाध्याय, ईश्वर प्रणिधान के अनुष्ठान करने पर भी अविद्या का संस्कार नहीं जलाया जा सका। इससे यह नहीं कह सकते कि क्रिया योग निष्फल है क्योंकि उसके प्रभाव से ही संस्कारों का स्थूल रूप नष्ट हो सकता है और वह सूक्ष्म आकार धारण कर लेते हैं। इसके बाद ज्ञान अग्नि के जलने पर वह जल्दी से जल जाते हैंऔर फिर उनमें जागरण की शक्ति नहीं रह जाती। असम्प्रज्ञात समाधि की प्रत्येक भूमिका में उसके आश्रय से ज्ञान का विकास होता है। तब सस्मिता भूमि में सालम्बन ज्ञान की चरम शुद्धि सम्पन्न होती है। श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि, प्रज्ञा यह ज्ञान प्राप्ति का स्वाभाविक क्रम है।

यहां से हमें फिर पिछले अध्याय की ओर लौटना चाहिए। वहां सम्प्रज्ञात समाधि का चर्चा करते हुए इस बात का तो उल्लेख हुआ कि जिन साधकों को उपाय प्रत्यय समाधि प्राप्त होती है उनमें क्रमशः श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि अर्थात् एकाग्रता और प्रज्ञा का उदय होता है। प्रज्ञा के विषय में कुछ कहना चाहिए था। परन्तु मैंने जान बूझ कर वहां ऐसा नहीं किया था। उसकी प्रासंगिकता इस जगह अधिक है।

प्रज्ञा का अर्थ तो है प्रकृष्ट ज्ञान, शुद्ध सम्पूर्ण शंका आदि से रहित ज्ञान। प्रश्न यह हो सकता है कि साधक के चित्त में जिस समय सवितर्क आदि समाधि भेद प्रकट हो रहा हो उस समय उस चित्त में किस प्रकार की प्रज्ञा होती है। इस सम्बन्ध का पतंजलि का सूत्र है :

तस्य सप्तधा प्रान्तभूमिः प्रज्ञा। (२,२७)

उस योगी की सात प्रकार की प्रज्ञा होती है। प्रज्ञा के इन प्रकारों को भूमि या भूमिका भी कहते हैं। पतंजलि ने केवल इतना ही कहा है। उन्होंने प्रज्ञा के इन भेदों का स्वयं कोई चर्चा नहीं किया है। परन्तु उनके भाष्यकार और टीकाकारों ने इस सम्बन्ध में विस्तार से लिखा है। भोजवृत्ति के अनुसार विवेकी पुरुष के चित्त में निम्नलिखित सात प्रकार की प्रज्ञा का उदय होता है।

(१) हेय को जान लिया गया। अव इसको फिर जानने की कोई आवयश्कता नहीं है।

(२) हेय का हेतु क्षीण हो गया। अव फिर उनको क्षीण नहीं करना है।

(३) निरोध समाधि के द्वारा हान का साक्षात्कार कर लिया गया।

(४) विवेकख्याति रूप हानोपाय की भी भावना हो गयी।

(५) बुद्धि चरिताधिकारा हो गयी।

(६) तीनों गुण पहाड़ के शिखर पर से गिरे हुए पत्थर के टुकड़ों के समान निराधार हो गये हैं और अव अपने कारण में लय होने की दिशा में हैं। उसके साथ ही अस्त होंगे। प्रलीन हुए गुणों का अव फिर उत्पाद नहीं होगा।

(७) इस अवस्था में गुणों से सम्वन्ध को पार करके स्वरूपमात्र से पुरुष स्थित रहता है। इस दशा में उसे केवली कहते हैं।

जो पुरुष इस प्रकार सात प्रकार की प्रज्ञाओं का अनुभव कर लेता है उसको कुशल भी कहते हैं।

इनमें से प्रथम चार प्रज्ञा भूमियों को क्रिया विमुक्ति और पिछले तीन को चित्त विमुक्ति कहते हैं।

ऊपर के वर्णन में कुछ तो योगशास्त्र के पारिभाषिक शब्द आये हैं जैसे हान, हानोपाय, हेय और हेय हेतु। इन शब्दों की व्याख्या पहले बतलायी जा चुकी है। इसके सिवाय प्रज्ञा की सात भूमियां दिखलायी गयी हैं। यह प्रायः शब्दान्तर से वेदान्त की भी कई पुस्तकों में मलिती हैं। अन्तर यह है कि यहां योग की दार्शनिक पृष्ठभूमि में ही सब कुछ कहना था। यदि इनका विश्लेपण किया जाय तो यह स्पष्ट प्रतीत होगा कि क्रमशः साधक की बुद्धि आत्मज्ञान की ओर जाती है और उसको स्वयं इस बात का अनुभव होता है कि उसके प्रतिबंध दूर हो रहे हैं और वह अपने शुद्ध स्वरूप में स्थित हो रहा है। उदाहरण के लिए, दूसरी क्रिया विमुक्ति यह मानी जाती है कि अब हेय के हेतुओं का क्षय हो गया। योगशास्त्र में जैसा कि पहले बतलाया जा चुका है अनागत दुःख को हेय माना है और अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश को हेय का हेतु माना है। इनमें भी अविद्या का स्थान प्रथम है। अविद्या का स्वरूप है : अतस्मिंस्तद् अर्थात् जो अचित है उसको चित्त मानना, जो अशुचि है उसको शुचि मानना, इत्यादि। इस द्वितीय प्रज्ञा भूमि तक पहुंचते पहुंचते साधक की अविद्या दूर हो गयी। तब फिर उसका अनागत दुःख भी दूर हो गया। अतः अब पुनर्जन्मों से भी छुटकारा मिल गया। जिसको इस शरीर में ही अविद्या के क्षय की अनुभूति हो रही हो और इस बात का विश्वास हो कि अब पुनर्जन्म नहीं होना है उसमें और वेदान्त प्रशस्त मुक्त पुरुष में क्या अन्तर है? यदि सच पूछा जाय तो इसके बाद जिन प्रज्ञाभेदों का उल्लेख किया गया है वह पिष्टपेषण मात्र है। जो बात एक वाक्य में कह दी गयी उसकी केवल विशद व्याख्या है। यदि इन सब को पृथक् गिनने की आवश्यकता रही भी हो तो इनका मथितार्थ यही निकलता है कि समाधि की अवस्था में साधक जिस प्रज्ञा से युक्त होता है वह वही वस्तु है जिसकी वेदान्त के आचार्य भी प्रशस्ति करते हैं। सातवीं प्रज्ञा भूमि में पहुंचकर साधक अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है। उसका जो स्वरूप है उसका परिचय उसको यहां तक पहुंचते पहुंचते ही मिल जायगा।

मेरे कहने का तात्पर्य यह है कि असम्प्रज्ञात समाधि के सम्बन्ध में पतंजलि और उनके व्याख्याकारों ने जो लिखा है उससे मैं अपने को सहमत नहीं पाता। यह कहना कि असम्प्रज्ञात समाधि में चित्त का निरोध होता है मेरी सम्मत्ति में ठीक नहीं है। इसका कारण ऊपर बतला चुका हूं। मेरा ऐसा विश्वास है कि प्रज्ञा की चरम सीमा तक पहुंचते पहुंचते साधक जिस अवस्था में होता है उसे असम्प्रज्ञात समाधि कहते हैं। उस अवस्था में चित्त निरुद्ध नहीं होता प्रत्युत प्रज्ञा से परिपूर्ण होता है। निरुद्ध होकर चित्त एक प्रकार की विमूढ़ावस्था में गिर जायगा। परन्तु प्रज्ञा के पूर्ण प्रकाश में वह स्वयंज्योति से व्याप्त होगा। जो कुछ जानना था वह जान लिया गया। उपनिषद् में शिष्य ने पूछा था कि आप मुझे वह वस्तु बतलाइये :

यस्मिन् ज्ञाते सर्वमिदं ज्ञातम् भवति ।

जिसको जान लेने से ही सब ज्ञात हो जाता है। गुरु ने उसको वही विद्या बतलायी थी और उसी वस्तु का साक्षात्कार कराया था। इसके बाद फिर कुछ करने धरने को नहीं रहता। जब तक शरीर रहता है तब तक वह साधक जीवन्मुक्त कहलाता है। शरीर छूटने पर विदेहमुक्त हो जायगा।

जीवन्मुक्त का चित्त निरन्तर आनन्द से व्याप्त रहता है। यह आनन्द भौतिक सुख का अपर पर्याय नहीं है। उस आनन्द से भी बहुत दूर है जिसका अनुभव साधक ने कभी विचार समाधि के बाद सानन्द समाधि में किया था।

इस आनन्द का कुछ वर्णन तैत्तिरीयोपनिषद् में करने का प्रयत्न किया गया है। प्रयत्न इसलिए कहता हूं कि शब्दों के देखने से ही प्रतीत हो जायगा कि उनकी शक्ति कितनी कम है और जिस बात को समझाना चाहते हैं उसको समझाने में कितने अक्षम और असमर्थ हैं :

सैषानन्दस्य मीमांसा भवति। युवा स्यात्साधुयुवाध्यापक आशिष्ठो द्रढिष्ठो बलिष्ठस्तस्येयं पृथिवी सर्वा वित्तस्य पूर्णा स्यात्। स एको मानुष आनन्दः।

ते ये शतं मानुषा आनन्दाः। स एको मनुष्यगन्धर्वाणामानन्दः। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य।

ते ये शतं मनुष्यगन्धर्वाणामानन्दाः। स एको देवगन्धर्वाणामानन्दः। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य।

ते ये शतं देवगन्धर्वाणामानन्दाः। स एकः पितॄणां चिरलोकलोकानामानन्दः। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य।

ते ये शतं पितॄणां चिरलोकलोकानामानन्दाः। स एक आजानजानां देवानामानन्दः। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य।

ते ये शतमाजानजानां देवानामानन्दाः। स एकः कर्मदेवानां देवानामानन्दः ये कर्मणा देवानपियन्ति। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य।

ते ये शतं कर्मदेवानां देवानामानन्दाः। स एको देवानामानन्दः। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य।

ते ये शतं देवानामानन्दाः। स एक इन्द्रस्यानन्दः। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य।

ते ये शतमिन्द्रस्यानन्दाः। स एको बृहस्पतेरानन्दः। श्रोत्रियस्य चाकाम-हतस्य।

ते ये शतं बृहस्पतेरानन्दाः स एकः प्रजापतेरानन्दः। श्रोत्रियस्य चाकाम-हतस्य।

ते ये शतं प्रजापतेरानन्दाः। स एको ब्रह्मण आनन्दः। श्रोत्रियस्य चाकाम-हतस्य।

स यश्चायं पुरुषे यश्चासावादित्ये स एकः। स य एवं विदस्माल्लो-कात्प्रेत्य। एतमन्नमयमात्मानमुपसंक्रामति। एतं प्राणमयमात्मानमुपसंक्रामति। एतं मनोमयमात्मानमुपसंक्रामति। एतं विज्ञानमयमात्मानमुपसंक्रामति। एतमानन्दमय-मात्मानमुपसंक्रामति।।

अव आनन्द विषयक विवेचन किया जाता है—सदाचारी युवक, शिष्ट, वेदा-वेदाध्ययनयुक्त, स्वस्थ, बलिष्ठ हो, इस पर भी उसे वैभवयुक्त पृथिवी मिल जाय तो यह संसार में एक मानुष आनन्द है।

मनुष्यों के सौ आनन्द मनुष्य गंधर्वों के एक आनन्द के तुल्य हैं। वे आनन्द शुद्ध अन्तःकरण वाले श्रोत्रिय मनुष्य के लिए प्राप्य हैं।

मनुष्य गंधर्वों के सौ आनन्द देवगंधर्वों के एक आनन्द के बराबर हैं और जिसकी कामनाएं नष्ट हो चुकी हैं, उस श्रोत्रिय मनुष्य को वे ही प्राप्त हैं।

देवगन्धर्व के सौ आनन्द पितृलोक में स्थायी रूप से निवास करने वाले पितरों के एक आनन्द के बराबर हैं। और कामनायुक्त श्रोत्रिय पुरुष को प्राप्त हैं।

जो पितर स्थायी रूप से पितृलोक पा चुके हैं उनके सौ आनन्द आजानज संज्ञक देवों का एक आनन्द है और वे कामनामुक्त वेदवेत्ता को प्राप्त हैं।

आजानज संज्ञक देवों के सौ आनन्द कर्म संज्ञक देवों के एक आनन्द के तुल्य हैं, जो कामना रहित श्रोत्रिय हैं उन्हें वे आनन्द प्राप्त हैं।

जो कर्म देवों के सौ आनन्द हैं, वह देवों के एक आनन्द के समान हैं, और नष्टकाम वेदज्ञ के लिए वे आनन्द ही प्राप्त हैं।

देवों के सौ आनन्दों के समान इन्द्र का एक आनन्द है। और कामनामुक्त वेदवेत्ता के लिए वह संभाव्य है।

इन्द्र के सौ आनन्दों के समान बृहस्पति का एक आनन्द है। जो वेदवेत्ता कामनाओं से मुक्त हो चुका है, वह उस आनन्द को प्राप्त कर लेता है।

बृहस्पति के सौ आनन्दों के समान प्रजापति का एक आनन्द है। वेद के जानने वाला, मुक्तकाम पुरुष उस आनन्द को पा लेता है।

प्रजापति के सौ आनन्दों के समान ब्रह्म का एक आनन्द है। वेद का जानने वाला, कामनाओं से मुक्त पुरुष उस आनन्द को प्राप्त कर लेता है।

मनुष्य में और सूर्य में निहित है, वह एक ही है। इस प्रकार जानने वाला ज्ञानी इस लोक को त्याग कर अन्नमय आत्मा को प्राप्त होता है। वह इस प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय, आनन्दमय आत्मा को प्राप्त होता है।

ऐसे व्यक्ति की मनोदशा, उसकी अनुभूतियों का वर्णन करना असम्भव है।

बाबा अगम अगोचर कैसा, ताते कहि समझाओ ऐसा।
जो दीसै सो तो है नाहीं, है सो कहा ना जाई।
सैना बैना कहि समझाओ, गूंगे का गुड़ भाई।
दृष्टि न दीसै मुष्टि न आवै, विनसै नाहिं नियारा।
ऐसा ज्ञान कथा गुरु मेरे, पंडित करौ विचारा।
बिन देखे परतीति न आवै, कहे न कोउ पतियाना।
समुझा होय सब्दै चीन्है, अचरज होय अयाना।
कोई ध्यावै निराकार को, कोइ ध्यावै आकारा।
वह तो इन दोऊ ते न्यारा, जानै जाननहारा।
काजी कथै कतेब कुराना, पंडित वेद पुराना।
वह अच्छर तो लखा न जाई, मात्रा लगै न काना।
नादी बादी पढ़ना गुनना, बहु चतुराई भीना।
कहैं कबीर सो पड़ै न परलय, नाम भक्ति जिन चीन्हा।

(कबीर)

श्री रामसहाय के शब्दों में :

लाभ लबालब जाम हुआ तब क्यों नहि होवै छलक छलक।
खिल रही चांदनी चार तरफ महबूब का जलवा झलक झलक,
असमान इश्क में घूम रहा अकसर जमीन हो थलक थलक,
दिल डूब के राम सहाय देख दरयाव अमृत का हलक हलक॥
मीममस्त मज़ाक फकीरों का इसलाम कुफ्र से न्यारा है।
यहां होशके होश वो हवास खता वो अक्लने किया किनारा है,
चतुराई चौपट ज्ञान गुप्त विज्ञान खड़ग चहु धारा है,

आशिक़सहाय मनमुर्दों ने मजहब का मजहब मारा है ॥
नूं नूर जमीन असमान अग्नि यह नूर पवन अरु पानी ।
रवि चंद्र नछत्तर नूर नूर सब माया नूर निशानी है ।
जिव नूर नूर शिव नूर नूर यह नूर ज्योति निर्वानी है,
देखो सहाय सूरति समाय सब सृष्टि नर से सानी है ।

(श्री रामसहाय के उर्दू अखरावत से)

उसके लिए किसी शास्त्र का बंधन नहीं होता ।

निस्त्रैगुण्ये पथि विचरतां को विधिः को निषेधः ।

जो निस्त्रैगुण्य अर्थात् त्रिगुण से पार पथ पर चलते हैं, न उनके लिए कोई विधि है न निषेध है, न कोई शास्त्र यह आज्ञा दे सकता है कि ऐसा करो, न कोई ऐसी आज्ञा दे सकता कि ऐसा मत करो। न इस विश्व में उसके लिए कुछ भी ज्ञेय है और न कुछ अशक्य है ।

ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्ताद् ब्रह्म पश्चाद् ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरेण ।
अधश्चोर्ध्वं च प्रसृतं ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम् ॥

यह ब्रह्म अमृत रूप है, यही सामने और पीछे है, दायें और बायें ओर भी यही हैं, नीचे और ऊपर की ओर भी वही विस्तृत है। यह सम्पूर्ण विश्व ही महान ब्रह्म है ।

ऐसा मनुष्य सर्वदा सबके लिए पूज्य है । जैसा कि मुंडकोपनिषद् का कहना है।

यं यं लोकं मनसा संविभाति,
विशुद्धसत्त्वः कामयते यश्च कामान् ।
तं तं लोकं जयते तांश्च कामान्,
तस्मादात्मज्ञं ह्यर्चयेद् भूतिकामः ॥

ऐश्वर्य की अभिलाषा वाले मनुष्य आत्मज्ञानी की सेवा करे। क्योंकि शुद्ध मन वाला ज्ञानी मन से जिस लोक के जिन भोगों की इच्छा करता है वह उस लोक तथा उन उन भोगों को प्राप्त करने में समर्थ होता है ।

असम्प्रज्ञात समाधि के पद तक पहुंचे हुए साधक के सम्बन्ध में बहुधा धर्ममेघ शब्द का व्यवहार सुनने में आता है। कहा जाता है कि ऐसा योगी धर्ममेघ अवस्था में निरन्तर रहता है। इस सम्बन्ध में पतंजलि कहते हैं :

प्रसंख्यानेऽकुसीदस्य सर्वथा विवेकख्यातेर्धर्ममेघः समाधिः। (४,२९)

प्रसंख्यान में भी कुसीद की इच्छा न रखने वाले व्यक्ति को सर्वथा विवेकख्याति होने पर धर्ममेघ समाधि प्राप्त होती है। कुसीद कहते हैं ब्याज को। साधारण मनुष्य जब कोई पुण्य कार्य करता है तो उससे ब्याज के रूप में किसी लाभ की इच्छा रखता है। परन्तु जो योगी प्रसंख्यान अर्थात् ज्ञान की ओर से भी विरक्त हो गया है उसको प्रतिक्षण शास्त्र विवेकख्याति अर्थात् प्रधान और उसके विकारों की ओर से पृथक्ता की ही अनुभूति होती है। यह वह अवस्था है जिसमें योगी को विवेकख्याति की ओर से भी विरक्ति हो जाती है क्योंकि विवेकख्याति बुद्धि का धर्म है और अब वह बुद्धि से भी सम्बन्ध नहीं रखना चाहता। ऐसी अवस्था में ऐसा कहा जाता है कि उसको धर्ममेघ समाधि प्राप्त हो गयी है। यहां धर्म शब्द का अर्थ है परम पुरुषार्थ का साधक ज्ञान। उसकी निरन्तर वर्षा योगी पर होती रहती है।

यह अर्थ व्यास भाष्य और भोजवृत्ति के अनुसार किया गया है। सम्भव है कि यही यथार्थ हो परन्तु मेरी समझ में इस सूत्र का एक और अर्थ हो सकता है। ऐसी अवस्था तक पहुंचा हुआ योगी जिसको ज्ञान संग्रह की ओर से भी विरक्ति हो चुकी होगी लोक कल्याण या ऐसे किसी उद्देश्य से प्रेरित हो कर कर्म में प्रेरित हो इसकी भी कम ही सम्भावना है परन्तु वह समाज में रहता है। दूसरे मनुष्यों से कुछ न कुछ कभी न कभी सम्पर्क होता है। मेरा ऐसा विश्वास है कि उसके सम्पर्क से ही लोगों का निश्चय ही कल्याण होता है। जिस प्रकार मेघ जल गिराता है उसका स्वभाव है परन्तु इस वृष्टि से जो मेघ की ओर से संकल्पपूर्वक नहीं की जाती लोगों का अगत्या कल्याण हो जाता है। इसी प्रकार ऐसे योगी के चारों ओर के पर्यावरण में बिना उसके संकल्प के ही धर्म की वृष्टि होती है। उसके इंगितों से, बातचीत से, शरीर की सहज मुद्राओं से, गति से, उसके पर्यावरण में उसके सन्निकर्ष से परमाणुओं में उत्पन्न हुये क्षोभ से, चारों ओर धर्म की वृष्टि होती है, धर्म की प्रवृत्ति बढ़ती है और इस प्रकार अगत्या लोगों का कल्याण होता है।

अध्याय १७

परम पुरुषार्थ

महर्षि कपिल ने सांख्यदर्शन के प्रथम सूत्र में कहा है :

अथ त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थः ।

अर्थात् आधिभौतिक, आधिदैविक, और आध्यात्मिक दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति को अत्यन्त पुरुषार्थ कहते हैं। इन दुःखों की निवृत्ति के बहुत से उपाय हैं। उदाहरण के लिए, अच्छा वैद्य बहुत से तापों का शमन कर सकता है और फिर सबसे बढ़कर वह उपाय हैं जिनका उपदेश वेदादि ग्रन्थों में मिलता है। कपिल भी इस बात को मानते हैं। परन्तु उनका यह कहना है कि :

न दृष्टात्तत्सिद्धिर्निवृत्तेऽप्यनुवृत्तिदर्शनात् ।

अर्थात् दृष्ट से इसकी सिद्धि नहीं होती। निवृत्ति होन पर भी अनुवृत्ति के देख पड़ने से।

उपायों के होने में कोई सन्देह नहीं है परन्तु ऐसा कोई भी उपाय नहीं देखा गया जिससे अत्यन्त निवृत्ति होती हो। कष्ट की निवृत्ति होती है परन्तु फिर या तो वही कष्ट पुनः उत्पन्न हो जाता है या किसी दूसरे कष्ट का उदय होता है। कष्टों से छुटकारा नहीं मिलता। इसलिए किसी भी उपाय से अत्यन्त पुरुषार्थ की सिद्धि नहीं होती। पुरुषार्थ, पुरुष का अर्थ, पुरुष का अभीष्ट, तापत्रय के शमन में है। सो तो थोड़ा बहुत हो जाता है परन्तु पूर्णतया शमन नहीं होता। इसलिए सबसे बड़ा पुरुषार्थ सिद्ध नहीं होता। इसका कारण वही है जो साधारण रोगों में भी लागू होता है। यदि चिकित्सक ने व्याधि के तत्त्व को पहचान लिया अर्थात् यह जान लिया कि व्याधि का मूल कारण क्या है तब तो वह उपचार कर सकता है। केवल बाहरी और आनुषंगिक लक्षणों से उलझने के बदले मूल कारणों को ही दूर करने का प्रयास करेगा। यदि वह अपनी विद्या में कुशल है तो उसको सफलता भी होगी, रोग दूर हो जायगा। परन्तु यदि वैद्य अकुशल है या वह व्याधि के मूल कारण को नहीं पहिचान सकेगा तो रोग बना रहेगा। कपिल की कुशलता के

सम्बन्ध में कोई सन्देह नहीं हो सकता। उनका स्थान इतना ऊंचा है कि उनके कई सहस्र वर्ष बाद श्रीकृष्ण ने अपनी विभूतियों की चर्चा में कहा था कि मैं सिद्धों में कपिल मुनि हूं। लोक में भी उनके सम्बन्ध की बहुत सी कथायें फली हुई हैं। कहा जाता है कि उन्होंन आसुरि को अपना दार्शनिक सिद्धान्त निर्माण काय के द्वारा सिखाया था। ऐसे सिद्ध पुरुष ने आध्यात्मिक व्याधि तत्त्व के सम्बन्ध में जो कुछ कहा है वह निश्चय ही गम्भीर और आदरास्पद है और सच तो यह है कि मनोविज्ञान के बहुत से रहस्यों पर उनसे अनुपम प्रकाश पड़ता है। उनका कहना है कि पुरुष और प्रधान का संयोग ही त्रिविध ताप का मूल कारण है। वस्तुतः संयोग नहीं हो सकता। इन दोनों का मेल वैसे ही होगा जैसे पानी और तेल का। पुरुष चिन्मय और अपरिवर्तनशील है। प्रधान अचित् और परिवर्तनशील है। परन्तु इस विश्व में दोनों ही हैं। सदा से हैं और सदा रहेंगे क्योंकि दोनों ही नित्य हैं। सन्निकर्ष के कारण एक की परछाईं दूसरे पर पड़ती है। पुरुष की परछाईं पड़ने से प्रधान में परिवर्तन होने लगते हैं, जिनके परिणामस्वरूप यह विस्तृत जगत् खड़ा हो जाता है। प्रधान के परिवर्तन के फलस्वरूप पुरुष उसकी विकृतियों के अनुरूप अपने को सुखी, दुःखी, बड़ा, छोटा आदि मानने लगता है। अकेले न पुरुष कुछ कर सकता है, न प्रधान। इनके संयोग को समझाने के लिए एक उपमा दी जाती है कि दो व्यक्ति हों जिनमें से एक अंधा हो और दूसरा लंगड़ा। अपने दोनों में से कोई भी नहीं जा सकता। परन्तु यदि अन्धे के कन्धे पर लंगड़ा बैठ जाय तो वह मार्ग बताता जायगा और लंगड़ा चलता जायगा। यहां पुरुष लंगड़ा है और प्रधान अन्धा। जो बात हो नहीं सकती उसको इस प्रकार की उपमाओं से समझना कठिन होता है। परन्तु जैसा कुछ भी हो सांख्यदर्शन के आचार्यों ने ऐसे ही निदर्शन दिये हैं। अस्तु, जब तक पुरुष प्रधान को देखता रहेगा और प्रधान उसके लिए अपने कलेवर में से नाना वस्तुओं को निकालती रहेगी तब तक तापों की अत्यन्त निवृत्ति नहीं हो सकती। इस सम्बन्ध को किसी प्रकार तोड़ना चाहिए। कपिल ने अपने ग्रन्थ में इसके अनेक उपाय दिये हैं जिनमें से कइयों की शब्दावली भी योगदर्शन के सूत्रों से बहुत कुछ मिलती है, जैसे :

निरोधश्च छर्दिविधारणाभ्याम्। स्थिरसुखमासनम्। वैराग्याभ्यासाच्च।

इन सब सूत्रों के द्वारा जो कुछ कहा गया है उसका मथितार्थ यह है कि यह सम्बन्ध विच्छेद योगाभ्यास के द्वारा ही हो सकता है। यह मुख्य साधन है। इसके साथ साथ स्वाध्याय और सत्पुरुषों के सत्संग में बैठकर शास्त्रीय दृष्टि से इन प्रश्नों पर मनन करना चाहिए। पतंजलि की ही भांति उन्होंने भी वैराग्य का साग्रह समर्थन किया है। इस सम्बन्ध में उन्होंने एक बड़ा अच्छा उदाहरण लिया है।

नोपदेशश्रवणेऽपि कृतकृत्यता परामर्शादृते विरोचनवत् ।

उपदेश के श्रवण करने पर भी कृत कृत्यता नहीं होती, जब तक परामर्श न किया जाय विरोचन के समान ।

वृहदारण्यकोपनिषद् में एक कथा है कि एक बार देवराज इन्द्र और दैत्य राज विरोचन दोनों साथ साथ आत्म ज्ञान सीखने के लिए ब्रह्मा जी के पास गये । उन्होंने दोनों को द्वार पर रुकवा दिया और यह कहलाया कि चारसौ वर्ष तपस्या करने के बाद मेरे पास आवें । चार सौ वर्ष के बाद दोनों गुरु के पास उपस्थित हुए । ब्रह्मा जी ने दोनों से कहा कि एक स्वच्छ निर्मल तालाब के जल में झांक कर देखो । दोनों को अपनी अपनी सूरत देख पड़ी । ब्रह्मा जी ने कहा यही ब्रह्म है । सुनकर दोनों बाहर चले आये । फिर इन्द्र के मन में शंका उठी और वह फिर ब्रह्मा जी के यहां गये । सब मिलाकर सोलह सौ वर्ष की तपस्या के बाद इन्द्र को ब्रह्मज्ञान प्राप्त हुआ । विरोचन ने कुछ सोचा विचारा नहीं और अपनी समझ में ब्रह्मज्ञानी होकर घर लौट गये । इस सूत्र में यही कहा गया है कि मनन करना भी परम आवश्यक बात है नहीं तो विरोचन की भांति ज्ञान से पूर्ण उपदेश भी अज्ञान सा ही रह जायगा । अस्तु, इस प्रकार दीर्घकाल तक योग और वैराग्य के अभ्यास करने से व्यक्ति को विवेकख्याति होती है अर्थात् उसे इस बात का ज्ञान हो जाता है कि मेरा प्रधान से कोई सम्बन्ध नहीं है । "इस जगत् में जो कुछ हो रहा है वह गुणों का ही खेल है । मैं इस खेल से सर्वथा पृथक् हूं ।" ऐसा ज्ञान एक जन्म में ही हो सकता है और अनेक जन्मों में भी । इस सम्बन्ध में कहा है कि :

न कालनियमो वामदेववत् ।

काल नियम नहीं है वामदेव की भांति । कहा जाता है कि पूर्व जन्म के अभ्यास के फलस्वरूप वामदेव को गर्भ में ही पूर्व जन्म की स्मृति हो आयी और आत्मज्ञान हो गया । इस सम्बन्ध का मंत्र भी वेद में है :

अहम् मनुरभवम् इन्द्रश्च ।

वह गर्भ में ही बोल उठे "मैं मनु हुआ था और इन्द्र भी हुआ था" इत्यादि । अस्तु, खैर, इस प्रकार यत्न करने से त्रिविध ताप से निवृत्ति हो सकती है परन्तु कपिल ने अपने बताये हुए साधनों के लिए आग्रह नहीं किया है । ग्रन्थ के अन्तिम सूत्र में उन्होंने कहा है :

यद्वा तद्वा तदुच्छित्तिः परमपुरुषार्थः ।

जैसे तैसे उसका उच्छेद परम पुरुषार्थ है। कहने का तात्पर्य यह है कि जिस किसी भी प्रकार से हो सके पुरुष और प्रधान के संयोग का उच्छेदन करना, उनके सम्वन्ध को काट देना, परम पुरुषार्थ है। ग्रन्थ के आदि में उन्होंने अत्यन्त पुरुषार्थ शब्द का व्यवहार किया है। यहां परम पुरुषार्थ कहा है। यह स्पष्ट है कि इन दोनों शब्दों का अर्थ एक ही है। सांख्यदर्शन के अनुसार एक बार संयोग के उच्छेदन के बाद फिर ऐसा संयोग स्थापित नहीं होता। जो पुरुष इस संयोग के वंधनों में पड़ा है वह जगत् के सुख दुःख को भोगता है परन्तु जिस पुरुष ने इससे छुटकारा पा लिया उसके लिए संसार का अन्त हो गया।

अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां
बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः।
अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते
जहात्येनां भुक्तभोगां तथान्यः॥

एक स्त्री है जो अजा है जिसका कभी जन्म नहीं हुआ अर्थात् जो नित्य है। वह लाल, श्वेत और कृष्ण वर्णवाली है। लाल रंग रजोगुण का, श्वेत रंग सत्वगुण का और कृष्ण तमोगुण का प्रतीक है। सत्व, रज, तम तीनों उसके वर्ण हैं। महत् तत्व से लेकर स्थूल भूतों तक जगत् की सारी स्थूल और सूक्ष्म वस्तु उसकी संतति है। दो पुरुष हैं जो दोनों अज हैं अर्थात् नित्य हैं, दोनों प्रत्येक वात में एक दूसरे से सदृश हैं। एक तो उस अजा के साथ शयन करता है और दूसरा उसका भोग कर चुका है, एक उसको त्याग देता है। स्पष्ट ही यहां दूसरी पंक्ति के पूर्वार्ध में ऐसे पुरुष की ओर संकेत है जो प्रधान के साथ संयुक्त है, और संसारी सुखों को भोग रहा है। दूसरा संकेत उस पुरुष की ओर है जिसने प्रधान की ओर से मुंह फेर लिया है। अव उसके सब ताप निवृत हो गये हैं और उसने परम पुरुषार्थ को प्राप्त कर लिया है।

तांत्रिक दृष्टि में भी मोक्ष परम पुरुषार्थ है। इस सम्वन्ध में गोरखनाथ और उनके सम्प्रदाय के दूसरे महात्माओं को स्थूल रूप से तांत्रिक मान्यताओं का प्रतीक माना जा सकता है। इस जगत् की उत्पत्ति परम शिव से हुई जो अपने को प्रकाश और विमर्ष इन दो रूपों में व्यक्त किये हैं। इन दोनों को शिव और शक्ति भी कह सकते हैं। परन्तु शक्ति के सम्वन्ध में तांत्रिक मत उससे भिन्न है जिसका प्रतिपादन कई वैदिक सम्प्रदायों में किया जाता है। उदाहरण के लिए वैष्णव विचारधाराको देख सकते हैं। लक्ष्मी विष्णु रूपी परमात्मा की शक्ति है। परन्तु उनका जहां भी चर्चा होता है वह इस रूप में कि विष्णु उनके स्वामी हैं। विष्णु क्षीरसागर में शेष शय्या पर

लेटे रहते हैं और लक्ष्मी उनका पांव दबाती रहती हैं या पंखा झलती रहती हैं। यह स्पष्ट ही सिद्ध करता है कि उनका पद विष्णु से नीचा माना जाता है। परन्तु तांत्रिक दृष्टि से शक्ति का पद नीचा नहीं है। शिव और शक्ति एक ही सिक्के के दो चेहरे हैं। दोनों का पद बराबर है। एक के बिना दूसरा रह नहीं सकता। इस भावना की अभिव्यक्ति अर्द्धनारीश्वर विग्रह में होती है जिसमें आधा शरीर शिव और आधा शक्ति का है। दोनों अर्द्धों के मिलने से ही पूर्ण विग्रह बनता है। यह जगत् परम शिव की लीला है। इस लीला के लिए कोई कारण नहीं बतलाया जा सकता। इस सम्बन्ध में एक मुस्लिम सूफी नियाज ने कहा है :

दीद अपने की थी उसे ख्वाहिश
आपको हर तरह बना देखा।

दीद की ख्वाहिश का कोई कारण नहीं बतलाया जा सकता। यही कह सकते हैं कि यह परम शिव परमात्मा का स्वभाव है। वह परमात्मा के रूप में भी हैं और युगपत् जीव के रूप में भी। जिस जीव में मोक्ष की इच्छा जागती है उसके लिए एक ही उपाय है, योग। और जो भी उपाय कहे जाते हों वह सब या तो व्यर्थ हैं या योग के आनुषंगिक हैं। योग की चरम सीमा समाधि के सम्बन्ध में गोरक्ष ने कहा है :

यत्समत्वं द्वयोरत्र, जीवात्नपरमात्मनोः ।
समस्तनष्टसंकल्प, समाधिः सोऽभिधीयते ॥
यदा संलीयते जीवो, मानसं च विलीयते ।
तदा समरसत्वं हि, समाधिरभिधीयते ॥
नाभिजानाति शीतोष्णं, न दुःखं न सुखं तथा ।
न मानं नापमानं च, योगी युक्तः समाधिना ॥
निरालम्बे निराधारे, निराकारे निरामये ।
योगी योगविधानेन, परब्रह्मणि लीयते ॥
यथा घृते घृतं क्षिप्तं, घृतमेव हि जायते ।
क्षीरे क्षीरं तथा योगी, तत्त्वमेव हि जायते ॥

जीवात्मा और परमात्मा इन दोनों में जिस अवस्था में समत्व हो जाता है और सारे संकल्प नष्ट हो जाते हैं उस अवस्था को समाधि कहते हैं।

जब जीव लय हो जाता है और मन भी लय हो जाता है उस समय जो समरसत्व होता है उसको समाधि कहते हैं।

समाधि से युक्त योगी न सर्दी, गर्मी को जानता है न दुःख सुख को जानता है, मान अपमान को जानता है।

योग के विधान से योगी निरालम्ब, निराधार, निराकार, निरामय परम ब्रह्म में लीन हो जाता है। जैसे घी में घी डालने से घी ही रह जाता है और दूध में दूध मिलाने से दूध ही बच रहता है, उसी प्रकार समाधि की अवस्था में योगी तत्व रूप अर्थात् परम शिव या पर ब्रह्म रूप ही रह जाता है।

ऊपर उद्धृत किये हुए श्लोकों में से दूसरे में समरसत्व शब्द आया है। गोरक्ष उसको समाधि का ही लक्षण मानते हैं।

यह लोग भी ऐसा मानते हैं कि साधक को संवेग के अनुसार मोक्ष एक ही जन्म में मिल सकता है या उसमें कई जन्म लग सकते हैं। एक ही जन्म में मिलनेवाले मोक्ष को सद्योमुक्ति कहते हैं और जिसमें कई जन्म लगते हैं उसको क्रमिक मुक्ति। क्रमिक मुक्ति में देर तो होती है परन्तु उस देरी में भी योगभ्रष्ट साधक उत्तरोत्तर उन्नति करता जाता है। एक शरीर से दूसरे शरीर में जाने के संक्रमण काल में उसको अपनी योग्यता के अनुसार ऊंचे लोकों का आनन्द प्राप्त होता रहता है। यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि परम पुरुषार्थ अर्थात् परम शिव के साथ तादात्म्य हो जाने पर फिर बंधन की और पुनर्जन्म की सम्भावना नहीं रहती।

इस पुस्तक के छठे अध्याय में पुरुषार्थों के सम्बन्ध में कुछ चर्चा किया गया है। हमने वहां देखा कि दो पुरुषार्थ अर्थात् अर्थ और काम तो ऐसे हैं कि जो पशु पक्षी में भी पाये जाते हैं। वह सहज हैं तथा उनके लिए किसी शिक्षा की आवश्यकता नहीं है। तीसरा पुरुषार्थ धर्मबीज रूप से मनुष्य से भिन्न कुछ जीवों में पाया जाता है। कई प्रकार के जीव ऐसे हैं जो कुछ देर के लिए अपने व्यक्तिगत अर्थ और काम की प्रवृत्ति को दबाकर सम्भूय समुत्थान—मिलकर उन्नति करने—के सिद्धान्त पर काम करते हैं और अपने को भय स्थानों में डालकर अपने झुंड के दुर्बल प्रायणियों की रक्षा करते हैं। वह ऐसा संकलपपूर्वक या बुद्धिपूर्वक भले ही न करते हों परन्तु उनकी यह यह सहज प्रवृत्ति ही मनुष्य में आकर अधिक विकसित होती है और मनुष्य के विचार करने की शक्ति इसकों धर्म पुरुषार्थ का रूप दे देती है। इसके बाद वह पुरुषार्थ है जो किसी अन्य प्राणी में नहीं मिलता। इस पुरुषार्थ को मोक्ष का नाम दिया गया है और समझदार मनुष्य के लिए इसका महत्त्व सबसे अधिक है। यह मनुष्य का परम पुरुषार्थ है।

हमने छठे और इसके बाद के कई अध्यायों में देखा कि जिस मनुष्य में उस परम पुरुपार्थ को प्राप्त करने की भावना जागती है वह किस प्रकार काम करता है। इस भावना के साथ साथ उसने और कौन कौन से गुण उदात्त रूप धारण करके प्रकट होते हैं। इस प्रकार उसमें संसारी जीवन की ओर से विरक्ति जागती है और उत्तरोत्तर

बढ़ती जाती है। हमने यह भी देखा कि किस प्रकार उसके चरित्र का विकास होता है और वह कर्मयोग में पवृत्त होता है। यह कर्मयोग दूसरों पर दया मात्र से प्रेरित नहीं होता। ज्यों ज्यों इस मार्ग पर विचार अग्रसर होता है त्यों त्यों कर्मयोग की प्रवृत्ति भी नया रूप धारण करती है। दूसरे पर दया भाव की जगह अपने में कर्तव्य भाव बढ़ता है। यह भावना कम होती जाती है कि मैं दूसरे लोगों के कष्टों का निवारण कर रहा हूं। इसकी जगह यह विचार घर करने लगता है कि इन लोगों की मेरे ऊपर बहुत बड़ी कृपा है कि मुझको अपनी सेवा करने का अवसर देते हैं और इस प्रकार मेरे चरित्र को ऊपर उठने का और विकसित होने का अवकाश देते हैं। जिज्ञासु की कर्म में प्रवृत्ति जो साधारणतः बंधन का हेतु हो सकती है बंधन से छुटकारे का भी एक साधन बन जाती है और कभी कभी थोड़ी देर के लिए उस तादात्म्य की एक झलक दी जाती है जो मुक्त अवस्था का लक्षण है। कर्मयोग के साथ साथ हमने यह भी देखा कि भक्तियोग किस प्रकार उपयोगी हो सकता है। हमारे सामने वह अवस्था भी आयी जब जिज्ञासु को किसी मार्ग दर्शक की अनिवार्य आवश्यकता प्रतीत होने लगी और वह गुरु की शरण गया।

हम अपने मुमुक्षु मित्र की आध्यात्मिक यात्रा में बराबर साथ रहे हैं और उनके बदलते मनोभावों से परिचय प्राप्त करने के अवसर पाते रहे हैं। यह स्पष्ट है कि उनका प्रत्येक कदम सुविचारित ढंग से ही उठाया गया था। क्षणिक आवेग में आकर कोई काम नहीं किया गया था। गम्भीर विचार उनको धर्म पुरुषार्थ से मोक्ष तक लाया और यह बात चित्त में बैठ गयी कि मोक्ष ही मनुष्य का परम पुरुषार्थ है। स्वभावतः उसकी सिद्धि के उपायों का अनुसंधान हुआ। शास्त्रों में अनेक उपाय बतलाये गये हैं। उन सब के सम्बन्ध में गम्भीरता से विचार किया गया। जहां तक सम्भव हुआ दूसरों से विचारों का आदान प्रत्यादान भी हुआ। परन्तु समस्या जल्दी से सुलझने वाली नहीं थी। जो तर्क एक ओर से बड़ी दृढ़ता से उपस्थित किया जाता था वही दूसरी ओर से काट दिया जाता था। किसी एक मार्ग का चयन करना कठिन था। परन्तु इस अन्धकार के बीच में भी प्रकाश की एक किरण मिली। अनेक मतभेद होते हुए सभी विभिन्न शास्त्रों ने योग का समर्थन किया, योग के दार्शनिक आधारों का नहीं वरन् योग की प्रक्रिया का। ऐसा विचार उठना स्वाभाविक था कि जिस उपाय का सभी समर्थन करते हों वह निश्चय ही करणीय है। पहिले कुछ अनुभव हो ले फिर सिद्धान्त स्थिर होते रहेंगे। यह प्रसिद्ध है कि गौतम बुद्ध ने भी कुछ ऐसी ही प्रणाली को अपनाया था। उनके पीछे बौद्ध दर्शन का बहुत बड़ा विस्तार हुआ परन्तु उन्होंने दार्शनिक प्रश्नों का कभी कोई स्पष्ट उत्तर नहीं दिया। उनका एक ही कहना था कि जिस मार्ग का मैं प्रतिपादन कर रहा हूं उस पर चलो। चलने के फलस्वरूप तुम्हारे अनुभव में जो

कुछ आ जाय, तुम्हारी बुद्धि जिस बात को स्वीकार करे, वही सिद्धान्त ठीक है। जब एक बार योग करने का निश्चय हुआ तो फिर मार्ग बतलाने वाले की भी आवश्यकता पड़ी। बतलाने वाला भी मिला और उसके आदेशों का विधिवत् पालन भी हुआ। यथाशक्य योग के अंगों को अपनाया गया। निश्चय ही अन्तिम अंग के सम्बन्ध में चित्त में शंका उठी। उसका उठना अनिवार्य था। परन्तु योग जहां तक ले जा सकता था ले गया। योगशास्त्र के आचार्यों के मत के अनुसार परम पुरुषार्थ हस्तामलकवत् लब्धप्राय हो गया। इस अवस्था के सम्बन्ध में पतंजलि ने कहा है :

विशेषदर्शिन आत्मभावभावनानिवृत्तिः। (४।२५)

विशेष दर्शी की आत्मभाव भावना निवृत्त हो जाती है।

इस सूत्र का दो तीन प्रकार से अर्थ लगाया जा सकता है। एक तो यह है कि जो विशेष दर्शी हैं अर्थात् जो विवेक ख्याति के द्वारा गुणों और उनकी विकृतियों से अपने भेद को जान गया है उसकी आत्मभाव भावना दूर हो जाती है। आत्मभाव भावना का अर्थ भाष्यकार ने इस प्रकार किया है :

मैं कौन हूं? पहले क्या था? कहां था? आगे मेरा क्या होगा? यह सब शंकाएं आत्मभाव भावना हैं। यह शंकायें सहज ही दूर हो जाती हैं। यह दूसरे शब्दों में वही बात कही जा रही है जो उपनिषद् का यह मंत्र कहता है :

भिद्यते हृदयग्रन्थिः, छिद्यन्ते सर्वसंशयाः। ४

हृदय की ग्रन्थियों का भेदन हो जाता है और सब संशयों का छेदन हो जाया करता है।

भोजवृत्ति के अनुसार कर्तृत्व, ज्ञातृत्व, भोक्तृत्व का अभिमान दूर हो जाता है। इसके बाद "तदाविवेकनिम्नं कैवल्यप्राग्भारं चित्तम्"—तब चित्त विवेक से निम्न हुआ और कैवल्य के भार से बोझिल हो जाता है। कहने का तात्पर्य यह है कि जब गुणों और उनकी संतति की ओर से विरक्ति होती है, उनसे सम्बन्ध विच्छिन्न सा हो जाता है, तब चित्त विवेक से दब जाता है वैसे ही जिस प्रकार किसी तराजू पर एक ओर अधिक भार होने से वह पलड़ा दब जाता है। यही बात उत्तरार्द्ध में भी कही गयी है। विवेक से निम्न होना, दूसरे शब्दों में कैवल्य के भार से बोझिल होना है अर्थात् अब कैवल्य की प्राप्ति में कोई देर नहीं है। विवेक की कमी से ही साधक के लिए संसार था। जितना ही विवेक बढ़ता गया उतना ही संसार क्षीण होता गया और कैवल्य उतना ही निकट आता गया। अन्त में :

पुरुषार्थशून्यानां गुणानाम् प्रतिप्रसवः
कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तिः । (४,३४)

पुरुषार्थ से शून्य गुणों के प्रति प्रसव या चिति शक्ति का अपने स्वरूप में स्थित होना कैवल्य है ।

सांख्ययोग दर्शन के अनुसार त्रिगुणात्मिका प्रधान का अस्तित्व पुरुष के लिए है। गुण पुरुष का क्या काम करते हैं, इस प्रश्न का उत्तर यह है कि पुरुष को बंधन में डालते हैं और फिर बंधन से छुड़ाने में भी सहायक होते हैं। यह कोई बड़ी बुद्धिमत्ता की बात तो नहीं प्रतीत होती। यदि इस जगत् का कोई स्रष्टा माना जाता है तो उसका यह काम हास्यास्पद होता कि गुणों की इसलिए सृष्टि की जाये कि एक बार पुरुषको बंधन में डाले और फिर जब वह छूटने का यत्न करे तो ऐसा करने में उसकी सहायता करे। परन्तु जब जगत् का कोई स्रष्टा नहीं है और यह नाटक अनादि काल से चला आ रहा है तो दोष दृष्टि के उत्थापन से कोई लाभ नहीं है। ऐसा ही यह मान लेना चाहिए। गुण तब तक पुरुष के काम आ सकते हैं जब तक वह उनसे किसी न किसी प्रकार का सम्बन्ध रखना चाहता हो। परन्तु जब विवेकख्याति और वैराग्य की चरम सीमा तक पहुंच कर वह सर्वथा अपने को उनसे अलग कर लेता है तो उनके लिए कोई काम नहीं रह जाता। अब वह पुरुष को बांध नहीं सकते। उसको जगत् रूपी नाटक का कोई दृश्य दिखा नहीं सकते। ऐसी अवस्था में गुण पुरुषार्थ शून्य हो जाते हैं अर्थात् अब उनको पुरुष के लिए कुछ नहीं करना है। गुणों की साम्यावस्था मूल प्रकृति या प्रधान है। साम्यावस्था के विक्षुब्ध होने पर ही बुद्धि आदि की क्रम से उत्पत्ति होती है और जगत् का दर्शन होता है। अब पुरुषार्थ शून्य हो जाने पर गुणों का प्रतिप्रसव हो जाता है अर्थात् प्रधान मे लय हो जाता है वह फिर साम्यावस्था को प्राप्त हो जाते हैं। इसका नाम पुरुष का कैवल्य है। यही बात दूसरे शब्दों में भी कहीं हुई है : चित्ति शक्ति या चेतना शक्ति अर्थात् पुरुष जब अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है तब उसकी अवस्था को कैवल्य कहते हैं। साधारणतः वह प्रधान के विकारों से रंजित रहता है इसलिए वह अपने को स्थूल सूक्ष्म, दुःखी, सुखी, अल्पज्ञ, बहुज्ञ, दुर्बल सशक्त मानता है। यह सब उसका स्वरूप नहीं है। स्वरूपतः तो वह चिन्मात्र है। अब जब तीनों गुण प्रतिप्रसव अवस्था को प्राप्त हो गये हैं तो पुरुष फिर अपने चिन्मात्र स्वरूप में स्थित हो जाता है। यहां दो दृष्टिकोणों से कैवल्य का स्वरूप समझाया गया है। गुणों की दृष्टि से उनका पुरुषार्थ शून्य हो जाना, उनके लिए किसी काम का न रहना, पुनः साम्यावस्था को प्राप्त कर लेना और पुरुष की दृष्टि से गुणों के प्रतिप्रसव होने पर अपने स्वरूप में स्थित हो जाना यह दोनों बातें कैवल्य का लक्षण हैं। यह कैवल्य ही सांख्ययोग दर्शनों की दृष्टि में परम पुरुषार्थ है।

वेदान्त भी मोक्ष को परम पुरुषार्थ कहता है। यों तो वेदान्त के कई भेद हैं परन्तु यहां मैं अद्वैतवाद का ही संक्षिप्त चर्चा करना चाहता हूं। इस सिद्धान्त के अनुसार सिवाय ब्रह्म के और कुछ नहीं है। उस ब्रह्म में अध्यास के कारण इस जगत् की प्रतीति होती है। जो वस्तु जहां न हो वहां उसकी प्रतीति हो इसको अध्यास कहते हैं। जैसे रस्सी में सर्प की प्रतीति। यह अध्यास अज्ञान के कारण होता है, सद्ज्ञान होने से ही इसकी निवृत्ति हो जाती है। इसलिए कहा जाता है कि ब्रह्म सत्यम्‌जगन्-मिथ्या—परन्तु जब कोई अद्वैतवादी जगत् को मिथ्या कहता है तो उसका तात्पर्य यह होता है कि जो प्रतीति हो रही है वह मिथ्या है, आधार मिथ्या नहीं है। प्रतीयमान सर्प मिथ्या है परन्तु रस्सी मिथ्या नहीं है। आवश्यकता इस बात की है कि इस प्रतीति को दूर किया जाय और जो सत्य है, वास्तविक है, उसका साक्षात्कार किया जाय। जब तक ऐसा नहीं होगा हमारा आचरण भी यथावत् नहीं हो सकता। जब तक यह भ्रान्ति बनी रहेगी कि यहां सांप है तब तक डर भी बना रहेगा। सच्चे सांप के देख पड़ने पर जैसा आचरण होता है हमारा आचरण भी वैसा ही होगा पर जब यह भ्रान्ति दूर हो जाय और हमको यह ज्ञान हो जायगा कि यह सांप नहीं रस्सी है तो फिर उसके आकार से डरने का प्रश्न ही नहीं उठेगा।

वेदान्त के सम्बन्ध में एक बड़ी आपत्ति यह की जाती है कि वह मनुष्य को निष्क्रिय बना देता है। यह आपत्ति नासमझ वेदान्तियों के आचरण के कारण उठती है। इसके साथ ही आपत्ति करने वाला भी कम दोषी नहीं है। केवल दौड़ते रहना, कुछ करते रहना, बुद्धिमत्ता का सूचक नहीं है। जो काम हो वह परिस्थिति के अनुकूल होना चाहिये। यदि यह थोड़ी देर के लिए मान लिया जाय कि जगत् वस्तुतः मिथ्या है तो फिर हमको आचरण भी वैसा ही करना चाहिए। जगत् के सत्य होने पर जैसा आचरण उचित होता वह उसके मिथ्या होने पर सर्वथा अनुचित होगा। मरुभूमि में गर्मी के दिनों में कभी प्यासे व्यक्ति को कुछ दूर पर जल देख पड़ता है। उसको मृग-मरीचिका या मृगतृष्णा कहते हैं। यह समझ कर कि यहां वस्तुतः पानी है मृग उधर दौड़ता है और कोसों दूर चला जाता है। ज्यों ज्यों आगे बढ़ता जाता है पानी पीछे हटता जाता है। इस दौड़ धूप में ही उसकी बची खुची शक्ति नष्ट हो जाती है। यह कोई बुद्धिमत्ता की बात तो नहीं हुई। यदि वह जान सकता कि यह जल मिथ्या है तो क्यों इस प्रकार का प्रयत्न करता। पहले हमको भलीभांति विचार करके यह निश्चय कर लेना चाहिए कि वस्तुतः जगत् सत्य है या मिथ्या और फिर तदनुसार आचरण करना चाहिए। वेदान्त के आचार्य कहते हैं कि यह जो मिथ्या प्रतीति हो रही है उसको दूर करना चाहिए और दूर करने के सम्बन्ध में उनका यह कहना है कि जो जगत् हमारे लिए बंधन हो रहा है वह बंधन से छुटकारा पाने का साधन भी हो सकता है। आवश्यकता

इस बात की है कि हम उसका ठीक ठीक उपयोग कर सकें। यदि कोई मनुष्य नदी के किनारे से फिसल कर पानी में गिर जाय तो केवल पानी को गाली देने से छुटकारा नहीं हो सकता। उसको तैरना होगा। वही पानी जिसने उसको बन्दी बना रखा है उसके बाहर निकलने का भी साधन हो जायगा। शास्त्रीय विधि से आचरण करना, धर्म पालन करना, जगत् का सदुपयोग है और चित्त को शुद्ध करना है। चित्त के शुद्ध होने पर मोक्ष की इच्छा भी प्रकट होती है और फिर वश शमादि गुणों का अर्जन करके तथा वैराग्य भावना को उद्दीप्त करके सद्गुरु के उपदेश के अनुसार श्रवण आदि उपायों से काम लेता है। एक दिन वह भी आता है जब निदिध्यासन के उपरान्त उसको आत्मसाक्षात्कार होता है और वह अपने और ब्रह्म के अभेद का अनुभव करता है। ब्रह्म के स्वरूप का वर्णन इस पुस्तक में कई जगह आ चुका है। जो ब्रह्म का स्वरूप है वही आत्मा का स्वरूप है। ऐसे पुरुष के लिए जिसको इस प्रकार परम पुरुषार्थ की सिद्धि हो गयी है :

नेह नानास्ति किंचन ।

कहीं रत्ती भर भी नानात्व नहीं है। उसके लिए सर्वत्र सब कुछ वही ब्रह्म है जो एकमेवा द्वितीय—एक और अद्वितीय है। ऐसे व्यक्ति के लिए पुनर्जन्म का प्रश्न उठ ही नहीं सकता। जब तक जगत् की प्रतीति होती है तब तक लोक है, शरीर है, भोक्तव्य वस्तु है, गन्तव्य स्थान है, आना है, जाना है। जब यह प्रतीति दूर हो गयी तो कौन कहां जायगा, किसलिए जायगा। इसीलिए कहा है :

न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति । न स पुनरावर्तते ।

अर्थात् उसके प्राण उत्क्रमण नहीं करते, एक शरीर को छोड़कर दूसरे शरीर में नहीं जाते, वह लौट कर फिर नहीं आता।

मनुष्य के कर्म तीन प्रकार के होते हैं : संचित, प्रारब्ध और क्रियमाण। जितने कर्म उसने पिछले जन्म में किये हैं उन सब के संस्कार एकत्र होते रहते हैं। उनको ही संचित कहते हैं। उनमें से कुछ ऐसे हैं जो परिपक्व हो गये हैं जिनका फल इस जन्म में भोगना है उनको प्रारब्ध कहते हैं। और सब संचित कर्मों का फल एक साथ नहीं भोगा जा सकता, यह बात स्पष्ट है। संचित कोष में से थोड़ा ही अंश प्रारब्ध के रूप में परिवर्तित होता है। इस जन्म में जो कर्म किये जा रहे हैं उनको क्रियमाण कहते हैं। उनके संस्कार संचित में जुड़ जायंगे। यह सामान्य मनुष्य की कथा है। आत्मज्ञानी की गति दूसरी ही होती है। वह वासनाओं को जीत चुका होता है। उसके क्रियमाण कर्म सब निष्काम होते हैं। इसलिए उनके संस्कार संचित के भंडार में स्फीति नहीं करते।

यह प्रश्न बहुधा उठता है कि पहले कर्म हुआ या कर्म फल। कर्म से फल होता है और फल से कर्म होता है, ऐसा देखा गया है। ऐसे प्रश्न का उत्तर देना वैसे ही असम्भव है जैसे यह बताना कि पहले बीज हुआ कि वृक्ष। बीज और वृक्ष की परम्परा अनादि है पर अनन्त नहीं है। यदि बीज जला दिया जाय तो बोने पर भी उससे वृक्ष उत्पन्न नहीं होगा। इसी प्रकार कर्म और संस्कार का सम्बन्ध अनादि है। परन्तु यदि वासना का बीज दग्ध कर दिया जाय तो नये संस्कार नहीं बनेंगे। जहां तक संचित कर्मों की बात है आत्मज्ञानी पुरुष का ज्ञान ही उनको नाश कर देता हैं। कर्म तो इस जगत् में किये जाते हैं। मेरा शरीर, दूसरों के शरीर, एक या दूसरे के साथ व्यवहार, यह सब मिथ्या प्रतीति मात्र है। जिसको ऐसा अनुभव हो गया उसके लिए न पिछले कर्मों के संस्कारहैं, न पिछले कर्म थे, न अतीत और अनागत का भेद है। अब जहां तक प्रारब्ध कर्मों का प्रश्न है उनको आत्मज्ञानी पुरुष भोग लेता है। जिस तरह कुम्हार अपने चक्की को घुमाकर छोड़ देता है, फिर भी वह कुछ देर तक घूमती रहती है। इसी प्रकार प्रारब्ध-वशात् इस शरीर की क्रियायें चलती रहती हैं। आत्मज्ञानी पुरुष के अधिकार में है कि इसका घूमना रोक दे या इसको फिर से घुमाकर और देर तक घूमने दे। परन्तु साधारणतः वह इन दो में से एक काम को भी नहीं करता।

वेदान्तदर्शन के अन्त में परम पुरुषार्थ प्राप्त करने वाले पुरुष के सम्बन्ध में व्यास ने कहा है :

अनावृत्तिः शब्दात् ।

शब्द के कारण अनावृत्ति।

शब्द अर्थात् वेद ऐसा कहते हैं कि इस पुरुष की अनावृत्ति होगी अर्थात् अब इस संसार में नहीं आयेगा। जन्म मरण के बंधन से छूट गया क्योंकि इस जन्म मरण का जो मूल कारण था वह अज्ञान अब नष्ट हो गया।

परम पुरुषार्थ के बाद साधक की जो मनोदशा होती है वह कुछ कुछ निम्नांकित अवतरणों में व्यक्त होती है।

मनोबुद्ध्यहंकारचित्तानि नाहं न च श्रोत्रजिह्वे न च घ्राणनेत्रे ।
न च व्योम भूमिर्न तेजो न वायुश्चिदानंदरूपः शिवोऽहं शिवोऽहम् ।।

न च प्राणसंज्ञो न वै पंचवायुर्न वा सप्तधातुर्न वा पंचकोशः ।
न वाक्पाणिपादं न चोपस्थपायुश्चिदानंदरूपः शिवोऽहं शिवोऽहम् ।।

न मे द्वेषरागौ न मे लोभमोहौ मदो नैव मे नैव मात्सर्यभावः ।
न धर्मो न चार्थो न कामो न मोक्षश्चिदानंदरूपः शिवोऽहं शिवोऽहम् ।।

न पुण्यं न पापं न सौख्यं न दुःखं न मन्त्रो न तीर्थं न वेदा न यज्ञाः ।
अहं भोजनं नैव भोज्यं न भोक्ता चिदानंदरूपः शिवोऽहं शिवोऽहम् ।।

न मृत्युर्न शंका न मे जातिभेदः पिता नैव मे नैव माता च जन्म ।
न बंधुर्न मित्रं गुरुर्नैव शिष्यश्चिदानंदरूपः शिवोऽहं शिवोऽहम् ।।

अहं निर्विकल्पो निराकाररूपो विभुत्वाच्च सर्वत्र सर्वेन्द्रियाणाम् ।
न चासंगतं नैव मुक्तिर्न मेयश्चिदानंदरूपः शिवोऽहं शिवोऽहम् ।।

न मैं मन, वुद्धि, अहंकार या चित्त हूं, न ज्ञानेन्द्रियों का समुच्चय हूं, न मैं पंचमहाभूत हूं, मैं चिदानन्द रूप शिव हूं। न मैं पंचप्राण हूं न सप्तधातु हूं, न पंचकोश हूं, न क कर्मों का समूह हूं मैं तो चिदानन्द रूप शिव हूं। न मुझ में रागद्वेष है न लोभ, न मोह है न मद और मात्सर्य है, न मेरा सम्वन्ध चारों पुरुषार्थों में से किसी से है, मैं तो चिदानन्द रूप शिव हूं। न मुझे पुण्य पाप से कोई तात्पर्य है न सुख दुःख से, न मंत्रों न तीर्थों से न वेदों से, न यज्ञों से, न मैं भोजन हूं न भोज्य हुं, न भोक्ता हुं, मैं तो चिदानन्द रूप शिव हूं। न मेरी मृत्यु होनेवाली है, न कोई शंका है न कोई जाति भेद है न मेरा पिता है न माता है न मेरा जन्म हुआ, न वन्धु है न मित्र है न गुरु है न शिष्य है। मैं चिदानन्द रूपी शिव हूं। मैं निर्विकल्प निराकार रूपी हूं, सर्वत्र सब इन्द्रियों में व्याप्त हूं न असंगत हूं न मेरी मुक्ति है न मेय (ज्ञातव्य वस्तु) हूं। मैं तो चिदानन्द रूपी शिव हूं।

इसी प्रकार के भाव कुछ संतों की इन वाणियों से भी व्यक्त होते हैं :

सखिया वा घर सब से न्यारा, जहं रिन पुरुष हमारा ।
जहं नहिं सुख दुख सांच झूठ नहिं, पाप न पुन्न पसारा ।
नहिं दिन रैन चन्द नहिं सूरज, विना जोति उंजियारा ।
नहिं तहं ज्ञान ध्यान नहि जप तप, वेद कितेव न वानी ।
करनी धरनी रहनी गहनी, ये सब उहां हिरानी ।
घर नहिं अधर न वाहर भीतर, पिंड ब्रह्मंड कछु नाहीं ।
पाँच तत्व गुन तीन नहीं तहं, साखी सब्द न ताहीं ।
मूल न फूल वेलि नहिं बीजा, विना वृच्छ फल सोहै ।
ओहं सोहं अर्ध उर्ध नहि, स्वासा लेख न को है ।
नहिं निर्गुन नहिं सगुन भाई, नहिं सूच्छम अस्थूलं ।
नहि अच्छर नहि अविगत भाई. ये सब सब जग के भूल ।

जहां पुरुष तहवां कछु नाहीं, कहै कबीर हम जाना ।
हमरी सैन लखै जो कोई, पावे पद निरवाना ।।

(कबीर)

नजर महै सब की पड़ै कोऊ देखे नाहि ।

कोऊ देखे नाहि सीस पै सब के छाजै ।
पूरन ब्रह्म अखंड सकल घट आयु बिराजै ।।

दिवसै फिरै भुलान रहै तिरगुन महं माता ।
देखि देखि दे छाड़ि पंडित पहं पूजन जाता ।।

भूला सब संसार भेद नाहि जानै वा की ।
देखत है इस संत ज्ञान को दीठी जाकी ।।

पलटू खाली कहूं नहि, परगट है जग माहि ।
नजर मंहै सब की पड़ै, कोऊ देखे नाहि ।।

(पलटू)

अध्याय १८

कुछ अन्य देशीय साधकों के अनुभव

मैं इस स्थल पर कुछ अभारतीय महात्माओं की रचनायें देना चाहता हूं, इनको मैं धारणा, ध्यान, सम्प्रज्ञात या असम्प्रज्ञात समाधि तथा परम पुरुषार्थ के शीर्षकों में विभक्त नहीं कर रहा हूं। इसलिए इनको उन सब अध्यायों के अन्त में संयोजनीय सामग्री के रूप में दे रहा हूं। इन लोगों ने योग की क्रियाओं और अपने अनुभवों को जिस प्रकार व्यक्त किया है वह बहुत ही चित्ताकर्षक है। उसमें अगत्या उन्होंने अपने समय और अपने समाज में प्रचलित प्रतीकों, उपमाओं और लोकोक्तियों से काम लिया है। भारतीय हों या अभारतीय, रचना पद्य में हो या गद्य में, ऐसे महापुरुषों की भाषा में एक अपूर्व लालित्य होता है। वह लालित्य मेरे रूखे अनुवादों में नहीं आ सकता, इस बात को मैं जानता हूं। वस्तुतः मैंने अनुवाद न देकर, केवल भाव को व्यक्त करने का प्रयत्न किया है। फिर भी मेरा विश्वास है कि भारतीय महात्माओं की कृतियों के साथ सन्तुलित करने और मूल तत्त्व को पहचानने में विशेष कठिनाई न होगी।

शाहिदे दिलरुवाये मन, मीकुनद अज बराये मन।
नकशो निगारो रंगबू, ताजा बताजा नौ बनौ।
चूं सनमे बलाबुती, खुशबनशी व खिलवते।
बोसः सिवां बकाअजोअ ताजा बताजा नौ बनौ।
वर जे हयात कै खुरी, गर न मदाम मय खुरी।
बादा व खुर बयादे ऊ ताजा बताजा नौ बनौ।
बादे सबा चूं बेगुजरी, वर सरे कूए आं परी।
क़िस्सए हाफ़िज़श बगौ ताजा बताजा नौ बनौ॥

(हाफ़िज़)

मेरा मनमोहक प्रेमी मेरे लिए नित्य नये और ताजे सुन्दर रूप और सजावट, रंग और सुगन्धि उत्पन्न करता है। जब तुम एकान्त में उस प्रेमपात्र के साथ विहार करने बैठो तो तालू से उसका चुम्बन करना, नित्य ताजा और नया।

जीवन से तुमको लाभ क्या हुआ यदि तुम निरन्तर शराव न पीते रहोगे। उसकी याद में शराव का प्याला पीते रहो, नित्य ताजा और नया। हे शीतल समीर, जब तुम उस परी की गली में से वहती हुई निलकना तो उससे हाफ़िज़ की कथा भी कहती जाना, नित्य ताजी और नयी।

वह शराव कैसे पी जायगी? वह नित्य ताजा और नया दृश्य कैसे देखा जायगा? वह कौन सा समीर है जो हाफिज की कथा उस परी तक ले जायगी? यह सब बातें तो किसी जानकार, किसी गुरु, से ही प्राप्त हो सकती हैं। इस सम्वन्ध में भी हाफ़िज ने यों कहा :

ज़े मय सज्जादा रंगीं कुन, गरत पीरे मुगां गोयद।
कि सालिक बेख़बर न वुअद, ज़े राहोरस्मे मंज़िलहा॥

यदि तुमको शराव खाने का वृद्ध पुरुष आदेश दे तो अपने नमाज़ पढ़ने के आसन को शराव से तर कर लेना क्योंकि सालिक[1] उस मार्ग के नियमों से भलीभांति परिचित होता है।

एक और सूफी महात्मा ने कहा है :

मना नूरम कि अन्दर लामकां मौजूद बूदस्तम्।
वहुस्ने रूए खुद हम शाहिदो मशहूद बूदस्तम्॥

मैं वह प्रकाश पुंज हूं जो दिक् से परे लोक में स्थित था और अपने चेहरे के सौन्दर्य का आप ही द्रष्टा और आप ही दृश्य था।

पश्चिम के सभी साधकों ने वाइविल से स्फूर्ति ली है। मेरी समझ में तो इस ग्रन्थ में अध्यात्म के तीन मूल सूत्र हैं।

(१) आरम्भ में शव्द था और शव्द परमात्मा के साथ था और परमात्मा था।
(२) मैं अ और ह हूं।
(३) मैं अपने पिता से अभिन्न हूं[2]

जहाँ मैंने "शव्द" कहा है वहां मूल में लोगॉस आया है। लोगॉस के दो अर्थ होते हैं: (१) शव्द और प्रज्ञान। यदि यहां लोगॉस शव्द के अर्थ में प्रयोग हुआ हो तो इस

---

१ फकीर दो प्रकार के माने जाते हैं, सालिक और मजज़ूव। मजज़ूव वह लोग हैं जो ब्रह्मानन्द में निरन्तर डूबे रहते हैं। किसी को उनसे दीक्षा मिलना प्रायः असम्भव होता है। सालिक वह लोग हैं जो दूसरों को उपदेश दे सकते हैं।

२. (सेण्ट जॉन के गॉस्पेल से)

वाक्य में इस भारतीय विचार की ध्वनि निकलती है कि जगत् का मूल आदि शब्द ओंकार है जो परमात्मा का प्रतीक है और परमात्मा से अभिन्न है। परन्तु यदि यहां लोगॉस का अर्थ विचार हो तो यह इस भारतीय सिद्धान्त को दुहराता है कि 'हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे —आरम्भ में हिरण्यगर्भ था। जैसा कि मैं चौथे अध्याय में दिखला आया हूं, हिरण्यगर्भ परमात्मा से अभिन्न है परन्तु दूसरी दृष्टि से वह परमात्मा का चित्त है

(२) मूल में आलफा और ओमिगा का व्यवहार हुआ है। यह ग्रीक वर्णमाला के आदि और अन्त के अक्षर हैं।

कहने का तात्पर्य यह है कि मैं ही इस विश्व का आदि और अन्त हूं। सब कुछ मैं ही हूं: 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म।'

(३) तीसरे वाक्य में जीवात्मा के लिए मैं और परमात्मा के लिए पिता आया है। कहने का तात्पर्य यह है कि जीवात्मा परमात्मा से अभिन्न है: अयम् आत्मा ब्रह्म।

अन्धेरी रात में
प्रेम के आवेग से परितप्त

(ओह, पीड़ामयी, आनन्दमयी अवस्था।)
मैं गया किसी ने मुझको देखा नहीं।
अपने घर से जहां सब कुछ शान्त था।
रात के समय ताकि कोई देख न सके
वेष बदलकर एक गुप्त सीढ़ी से

(ओह पीड़ामयी, आनन्दमयी अवस्था।)
रात के समय चुपके से।
जहां सब कुछ शान्त था।
अभिसार करने की कैसी पवित्र रात थी।
गुप्त रूप से जब मुझे कोई देख न सके।
न मैं कुछ देख सकूं।
मार्ग बताने के लिए कोई प्रकाश भी नहीं था।
सिवाय उसके जो मेरे हृदय में उद्दीप्त हो रहा था।
उस प्रकाशपुंज के सहारे मैं आगे बढ़ती गयी।

दोपहर के सूर्य का प्रकाश भी इतना विश्वसनीय नहीं हो सकता था।
वह मुझे वहां ले गया
जहां मैं जानता था कि कोई
मेरे आने की प्रतीक्षा कर रहा था
जहां वह रहता था
उसके सिवाय और कोई नहीं रह सकता।
ओह ऐसी रात जिसने इस प्रकार मार्ग दिखलाया।
ओह ऐसी रात जो उषः काल से भी अधिक प्यारी लगती थी।
ओह ऐसी रात जो ले आयी
एक प्रेमी को दूसरे प्रेमी के समक्ष।
प्रेमी और प्रेमिका का आनन्दपूर्ण विवाह कराया।
मेरे पुष्पित वक्षस्थल पर
जो उसके लिए, केवल उसके लिए ही था।
मैं ने मधुर आराम दिया
अपने प्रियतम को।
और उस समय देवदार के वृक्ष धीरे धीरे पंखा झल रहे थे।[1]

---

१. "Upon an obscure night
Fevered with Love's anxiety
(O Hapless, happy plight)
I went, none seeing me,
Forth from my house, where all things quiet be.

By night, from sight
And by a secret stair, disguisedly,
(O hapless, happy plight)
By night, and privily
Forth from my house, where all things quiet be.

Blest night of wandering
In secret, when by none might be spied,
Nor I see anything,
Without a light to guide
Save that which in my heart burnt in my side.

यह सेण्ट जान आफ दि क्रास की बड़ी सुन्दर रचना है। इसमें साहित्यिक रस और आध्यात्मिक गाम्भीर्य का अद्भुत सम्मिश्रण हुआ है।

फाटक मेरे लिए इस तरह खुल गया कि एक घंटे के चतुर्थांश में मैंने इतना देखा और इतनी बातें जान लीं जो कि कई साल तक विश्वविद्यालय में पढ़कर भी नहीं सीख सकता था।[1]

(बेहम)

उसने कई बार मेरी आत्मा में प्रवेश किया। मुझे कभी उसके आने के ठीक क्षण का तो पता नहीं लगा परन्तु मुझे यह याद पड़ता है कि वह मेरे पास था। कभी कभी मुझे यह भी पता चलता था कि अब वह आने वाला है परन्तु उसके आने जाने के ठीक

That light did lead me on,
More surely than the shining of noontide
Where well I knew that One
Did for my coming bide
Where He abode might none but He abide.
O night that didst lead this,
O night more lovely than the dawn of light
O night that brought us,
Lover to lover's sight,
Lover to loved, in marriage of delight

Upon my flowery breat
Wholly for Him and save Himself for none
There did I give sweet rest
To my beloved one :
The fanning of the cedars breathed thereon":

(St. John of the Cross)

---

१. The gate was opened to me, that in one quarter of an hour I saw and knew more than if I had been many years together at an University.

(Boehme)

क्षण का पता नहीं चलता था। यह मैं आज तक नहीं जानती कि वह कहां से मेरी आत्मा में प्रवेश करता था और फिर उसको छोड़कर कहां जाता था या किस प्रकार आता था और जाता था। उसका प्रवेश आंखों के द्वारा हो नहीं सकता क्योंकि उसका ऐसा कोई रूपरंग नहीं है जिसको आंखें देख सकें। न वह कानों के द्वारा आता है क्योंकि उसके आने से कोई शब्द नहीं होता न वह नाक के द्वारा आता है, वह हवा से नहीं, बल्कि चित्त से मिलकर एक हो जाता है। फिर वह किस मार्ग से आया या स्यात् यह बात हो कि न वह बाहर से आया, न उसने कभी प्रवेश किया। मैं अपने से ऊपर गयी और यह देखा कि वह वहां भी उपस्थित है। मैं अपने से ही नीचे गया और मैंने देखा कि वह नीची से नीची जगह विद्यमान है। यदि मैंने अपने बाहर देखा तो उसको अपने बाहर पाया और यदि अपने भीतर देखा तो उसको भीतर भी पाया।[1]

---

१. He has freqently entered into my soul, I have never at any time been sensible of the precise moment of His coming. I have felt that He was present, I remember that He has been with me, I have sometimes been able even to have presentiment that he would come, but never to feel His coming nor His departure. For whence He came to enter my soul, or whither He went on quitting it, by what means He has made entrance or departure, I confess that I know not even this day.

It is not by the eyes that He enters, for He is without form or colour that they can discern, nor by the ears, for His coming is without sound, nor by the nostrils, for it is not with the air but with the mind that He is blended...By what avenue then has He entered ? or perhaps the fact may be that He has not entered at all, nor indeed come at all from outside: for not one of these things belongs to outside. I have ascended higher than myself, and lo, I have found the Word above me still. My curiosity has led me to descend below myself also, and yet I have found Him still at a lower depth. If I have looked without myself, I have found that He is beyond that which is outside of me; and if within, He was at an inner depth still.

सेण्ट वर्नर्ड के इन शब्दों में कुछ ध्वनि मीरा के उस प्रसिद्ध भजन की मिलती है :

मने चाकर राखो जी।

विशेपकर उनकी वह पंक्ति याद आती है :

आधी रात प्रभु दर्शन दीना प्रेम नदी के तीरा।

यदि मुझे परमात्मा का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है तो मुझको उसके तद्रूप और उसको मेरे तद्रूप हो जाना चाहिए ताकि यह वह और यह मैं दोनों मिलकर एक "मैं" वन जाय।[1]

(एक हार्ट)

जव परमात्मा का सच्चा सेवक अपने स्वामी के आनन्द में प्रवेश करता है तो वह ईश्वर के वैभव के नशे में डूव जाता है। उसको वही अनुभव होता है जो किसी शरावी को होता है। वह अपने को भूल जाता है कि उससे अपनी पृथक् सत्ता की चेतना नहीं रहती। वह स्वयं खो जाता है और ईश्वर में मिल जाता है। उसके साथ एक आत्मा वन जाता है जैसे कि पानी का एक वूंद शराव के एक वहुत वड़े मटके में मिलकर तदात्म हो जाता है। क्योंकि ठीक जिस तरह वह पानी का वूंद गायव हो जाता है उसका स्वाद और रंग शराव जैसे हो जाता है वही दशा उन लोगों की होती है जिनके ऊपर परमात्मा की पूरी पूरी कृपा होती है। उनकी सभी संसारी इच्छायें विचित्र ढंग से उनसे दूर कर दी जाती हैं। वह अपने से वाहर खींच लिये जाते हैं और परमात्मा की सत्ता में मग्न कर दिये जाते हैं।[2]

१. If, I am to know God directly, I must become completely He and He I : so that this He and this I become one I.

(Eckhart)

२. When the good and faithful servant enters into the joy of his Lord, he is inebriated by the riches of the house of God; he feels, in an ineffable degree, that which is felt by an inebriated man. He forgets himself, he is no longer conscious of his selfhood, he disappears and loses himself in God, and becomes

रोले कहते हैं कि आत्मा को उस समय बड़ा आनन्द मिलता है जब चारों ओर से उसके ऊपर मधुर और चित्ताकर्षक ध्वनि अवतरित होती है जिसमें उसको आनन्द मिलता है और मीठे राग रंग में चित्त मोहित कर लिया जाता है।[1]

मैंने ऐसे स्वरों को सुना जो प्रकाशमान थे और ऐसे रंगों को देखा जिनमें से मधुर संगीत निकल रहा था।—कार्पेण्टर[2]

---

one spirit with Him, as a drop of watcr which is drowned in a great quantity of wine. For even as such a drop disappears, taking the colour and the taste of wine, so it is with those who are in full possession of blessedness. All human desires are taken from them in an indeseribable manner, they are rapt from themselves, and are immersed in the Divine will.

---

१. "Sweetest forsooth", says Rolle again, "is the rest which the spirit takes whilst sweet goodly sound comes down, in which it is delighted and in most sweet song and playful the mind is ravished."

(Rolle)

२. I heard notes that shown and saw colours that dispensed sweet music.

(Carhentcr)

अध्याय १९

योगाभ्यास में विघ्न

यों तो योगाभ्यासी के मार्ग में बहुत से विघ्न आते हैं। जिनमें से कुछ का चर्चा इस अध्याय में होगा भी, परन्तु सबसे बड़ा विघ्न तो स्वयं अभ्यासी है। भले ही उसमें मोक्ष की इच्छा जागी हो और संसारी बातों की ओर से राग कुछ कम हुआ हो परन्तु है तो वह साधारण मनुष्य ही जिसका चित्त अभी विक्षेप की सीमा का अतिक्रमण नहीं कर पाया है। उसके हृदय में अनेक जन्मों से अर्जित सहस्रों वासनायें संजोयी हुई हैं। अविद्या के सेनापतित्व में प्रतिक्षण उस पर राग और द्वेष के अस्त्रों का प्रक्षेप होता रहता है। संसार भर की सुन्दर वस्तुयें इन्द्रियों के द्वारों पर खड़ी अन्तःकरणरूपी प्रासाद में प्रवेश करने के लिए लालायित रहती है। जितनी दिशायें हैं उतने ही युद्ध स्थल हैं, किस किस से लड़े। अपना ही चित्त अपने साथ शत्रु जैसा व्यवहार करता है। ऐसा लगता है कि जैसे वह सदा इस प्रयत्न में रहता हो कि किस प्रकार साधक की हार हो। जैसा कि उपनिषदों में काव्यमयी भाषा में कहा गया है: इन्द्रियों के द्वार पर बैठे हुए देवगण विषयों की हवा को आते देखकर द्वार खोल देते हैं ताकि वह हवा अपनी शीतलता और मोहकता से साधक को मुग्ध कर दे और साथ ही उसके हृदय में प्रज्वलित वैराग्य और विवेक के प्रदीप को बुझा दे। चित्त बच्चों की तरह मचलता है, हठ करता है, रूठता है और अन्त में अपनी बात मनवा लेता है। पूरा प्रयत्न इस बात का होता है कि इस नये और अनभ्यस्त मार्ग को छोड़कर उसी मार्ग का अवलम्बन किया जाय जिस पर चलने का असंख्य जन्मों का अभ्यास है।

शरीर भी इस काम में चित्त का साथ देता है। उसके भी सहस्रों वर्षों के अभ्यास का झुकाव उसी ओर है और फिर बहुत सी ऐसी बाहरी वस्तुयें एकत्र हो जाती हैं जो चित्त और शरीर को इस कृत्य में सहायता देने लग जाती हैं। पतंजलि ने मुख्य विघ्नों को इस प्रकार गिनाया है:

व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्याविरतिभ्रान्तिदर्शनालब्धभूमिकत्वानवस्थितत्वानि विक्षेपास्ते अन्तरायाः। (१,३०)

और फिर

दुःखदौर्मनस्यांगमेजयत्वश्वासप्रश्वासा विक्षेपसहभुवः । (१,३१)

अर्थात् , व्याधि स्त्यान, संशय, प्रमाद, आलस्य, अविरति भ्रान्तिदर्शन, अलब्धभूमिकत्व, अनवस्थितत्व, यह चित्त के विक्षेप हैं और यही विघ्न हैं।

और फिर दुःख, दौर्मनस्य, अंगमेजयत्व और श्वास प्रश्वास विक्षेपों के साथ होते हैं।

विक्षेप का अर्थ है विशेष रूप से फेंकना। जो बात चित्त को इधर उधर फेंकती फिरती हैं अर्थात् उसे एकाग्र नहीं होने देती उसको विक्षेप कहते हैं। जैसा कि हम पूर्व के अध्यायों में देख आये हैं योग में आगे बढ़ने के लिए एकाग्रता की बड़ी आवश्यकता है। अतः यह स्पष्ट ही है कि जो वस्तु विक्षेपकारी होगी वह निश्चय ही योगसिद्धि के लिए अन्तराय (विघ्न) का काम करेगी।

इनमें कई शब्द तो ऐसे हैं जो सामान्य बोलचाल में आते हैं। इसलिए उनका अर्थ स्पष्ट है। व्याधि का अर्थ रोग है। यों तो प्रत्येक मनुष्य को स्वस्थ रहने का प्रयत्न करना चाहिए। पर योगी के लिए यह बहुत आवश्यक है। खान पान के जो नियम पहले बतलाये गये हैं उन पर ध्यान रखने से स्वास्थ्य ठीक रह सकता है। परन्तु कभी कभी व्यतिक्रम हो ही जाता है। इस व्यतिक्रम के शिकार बहुधा वह लोग होते हैं जिनको समाज में रह कर दूसरों से मिलना जुलना पड़ता है। ऐसे लोग पूर्णतया स्वतंत्र नहीं रह सकते। उनको खाने पीने में दूसरों का साथ देना पड़ता है। और इसके लिए व्याधि के रूप में दंड भी सहना पड़ता है।

स्त्यान कहते हैं मानस आलस्य को। कभी कभी ऐसा होता है कि कोई काम करने को जी नहीं चाहता। जो काम करना है वह अच्छा लगता है, उसका महत्त्व स्वीकार किया जाता है परन्तु चित्त कुछ ढीला पड़ जाता है। जो तत्परता दिखलानी चाहिए वह नहीं होती।

संशय और प्रमाद का अर्थ स्पष्ट है। अभ्यासी को दो प्रकार का संशय हो सकता है। कुछ दिनों अभ्यास करने के बाद विद्या के ऊपर संशय उत्पन्न हो सकता है कि इस मार्ग पर चलने से सफलता हो भी सकती है या नहीं और यदि हो भी तो वह उपादेय है या नहीं। दूसरा संशय अपने प्रति होता है कि मुझ में इतनी क्षमता है या नहीं कि योग मार्ग पर चलकर सफलता प्राप्त कर सकूं। प्रमाद का वही अर्थ है जिसे बोलचाल में लापरवाही कहते हैं, काम को करना परन्तु उसको पूरा अवधान न देना, केवल औपचारिक ढंग से कुछ कर देना।

आलस्य का अर्थ भी स्पष्ट है। आलस्य शारीरिक और बौद्धिक दो प्रकार का हो सकता है। अविरति का तात्पर्य है चित्त का वैराग्य की ओर से हट जाना और ऐन्द्रिय विषयों की ओर आकृष्ट होना। भ्रान्ति दर्शन का अर्थ है मिथ्या ज्ञान। अलब्धभूमिकत्व का अर्थ है भूमिका का लाभ न करना अर्थात् प्रयत्न करने पर भी आध्यात्मिक उन्नति का न होना और योग की ऊंची भूमियों में प्रवेश न करना। अनवस्थितत्व का अर्थ अवस्थित न होना, किसी ऊंची भूमि में पहुंचकर फिर जल्दी से चित्त का नीचे उतर आना। दुःख और श्वास प्रश्वास का प्रयोग सामान्य बोलचाल के अर्थ में होता है। दौर्मनस्य कहते हैं चित्त में निराशा के भाव का आ जाना। अंगमेजयत्व शरीर के कांपने को कहते हैं।

यह सब ऐसी बातें हैं जो सहज में ही समझ में आ सकती हैं। इनमें कुछ का सम्बन्ध शरीर से है और कुछ का चित्त से। शरीर सम्बन्धी दोष भी अन्ततोगत्वा चित्त को प्रभावित करते ही हैं। जिस किसी ने कुछ भी अभ्यास किया होगा उसके जीवन में यह सभी अनुभव हुए होंगे। छोटी छोटी सी बातें कभी कभी बाधा डाल सकती हैं। यदि वह स्थान जो अभ्यास के लिए चुना गया हो उपयुक्त न हो, वहां छोटे बड़े किसी प्रकार के कीड़े मकोड़े हों, तो वह कुछ देरतक बैठना असम्भव कर सकते हैं। मनुष्य के शरीर में कभी कभी खुजली हो ही जाती है। यह कोई असाधारण बात नहीं है परन्तु ऐसा देखा गया है कि कभी कभी अभ्यास के समय विशेष रूप से खुजली होने लगती है। किसी एक जगह खुजली हुई और वहां हाथ गया, हाथ जाने के साथ ही उधर ध्यान गया। एक दो बार ऐसा होने पर यह विचार उठता है कि आज मुझे बार बार क्यों खुजली हो रही है और बस खुजली का तांता बंध जाता है। एकान्त में बैठने का परिणाम यों तो अच्छा होना चाहिए और उससे एकाग्रता में सहायता मिलनी चाहिए परन्तु कभी कभी परिणाम उल्टा सा हो जाता है और चित्त ऐसी बातों की ओर चला जाता है जिनका साधारणतः उस समय ध्यान भी न आता। फ़ारसी के प्रसिद्ध कवि शेख़ सादी ने कहा है :

> शब चूं दिल बर नमाज़ बरबन्दम्।
> चे खुरद बामदाद फ़रज़न्दम्।

जब मैं रात के एकान्त में ध्यान करने के लिए बैठता हूं तो उस समय यह विचार मन में आता है कि कल सवेरे मेरा लड़का क्या खायेगा।

पतंजलि ने ऊपर दिये हुए दोनों सूत्रों में जिन विघ्नों का चर्चा किया है वह निश्चय ही महत्त्वपूर्ण हैं और सावधानी से उनके ऊपर विजय पाने का यत्न करना चाहिए। परन्तु चित्त की कुछ ऐसी अवस्थायें हैं जिनको एक शब्द में कोई नाम देना बड़ा कठिन

होता है और वह समाधि की प्राप्ति में घोर बाधा डालती हैं। जिन लोगों ने योग का अभ्यास किया होगा उनमें से प्रायः सबको ऐसी मानस अवस्थाओं का अनुभव होगा। मैं नहीं कह सकता कि संस्कृत या हिन्दी के वाङ्मय में किसी ने उनका विस्तृत वर्णन किया है या नहीं, मेरे देखने में नहीं आया। परन्तु यूरोप के कुछ साधकों ने इस सम्बन्ध में पर्याप्त लिखा है। मैं उनके कुछ अवतरण देता हूं।

उन लोगों का कहना है कि अभ्यासी के सामने ऐसी अवस्था आ जाती है जिसको वह आत्मा की काली रात[1] कहते हैं। उन्होंने इस अवस्था का जो वर्णन किया है उस पर आधुनिक मनोविज्ञान से कुछ प्रकाश पड़ता है। साधक आगे बढ़ता चलता है और उसको ऐसा विश्वास है कि मैं आध्यात्मिक उन्नति करता चला जा रहा हूं। सिद्धि मुझ से दूर नहीं है। उसका ऐसा सोचना बिल्कुल निराधार न हो परन्तु यदि उसमें कुछ कमियां रह गयी हैं तो उनको भी दूर करना ही होगा और यह बात आत्मा की काली रात में ही होती है। साधक को ऐसा लगता है कि मैं उस आध्यात्मिक शिखर से नीचे गिरा दिया गया जहां पहुंच गया था और अब किसी प्रकार भी ऊपर चढ़ नहीं सकता। वह घबराता है, रुदन करता है, इस तरह विलाप करता है जिस तरह कोई स्त्री अपने पति के वियोग में करती है और जब यह अवस्था और गहिरी होती है तो उसको अपने दोषों, दुर्बलताओं और कमियों का पता चलने लगता है। भला मेरे जैसा अपूर्ण प्राणी उस ऊंची जगह टिकने का पात्र कैसे हो सकता है? उसका यह विलाप उसके दोषों का मार्जन कर देता है। उसके चित्त में छिपी हुई जो दुर्बलतायें थीं वह सामने आ जाती हैं और आंसुओं में घुल जाती हैं। इस प्रकार पवित्र होकर वह फिर ऊपर उठता है। वियोग की जगह फिर संयोग होता है।

एक प्रसिद्ध साधक मादाम गायन लिखती हैं:

एक बार मेरे हृदय में ऐसा गहरा घाव करने के बाद, परमात्मा, तू ने अपने को मुझ से दूर करना आरम्भ किया और तेरे वियोग का दुःख मेरे लिए इसीलिए अधिक तीव्र हो गया कि तेरा संयोग मेरे लिए इतना मधुर रहा था। तेरा प्रेम मेरे चित्त में इतना प्रगाढ़ था। ईश्वर, जिस प्रकार तू ने मुझको मृत्यु[2] की अवस्था में प्रवेश कराया वह वैसा ही था जैसा कि मृत्यु हुआ करती है।

कभी कभी तू अपने को छिपा लेता था और मैं अपनी सैकड़ों दुर्बलताओं के बीच में अकेली पड़ी रहती थी। कभी कभी अतिप्रेम और माधुर्य के साथ थोड़ी देर के लिए अपनी झलक दिखला देता था ज्यों ज्यों आत्मा मृत्यु की अवस्था के निकट पहुंचती

---

१. The Dark Night of the Soul.

२. कुछ पाश्चात्य सन्तों ने आत्मा की काली रात की अवस्था को मृत्यु भी कहा है।

जाती थी, उसकी पीड़ा की मात्रा और अवधि बढ़ती जाती थी, उसकी दुर्बलताओं में वृद्धि होती जाती थी, उसके सुख का काल भी छोटा होता जाता था। एक दिन वह भी आया जब तू ने अपने को बिल्कुल हटा लिया।[१]

सेण्ट जान आफ दि क्रास के इन शब्दों को देखिए :

इस सन्तप्त आत्मा को सबसे बड़ा दुःख इस विश्वास से होता है कि अब ईश्वर ने उसका परित्याग कर दिया। इस विषय में उसको कोई सन्देह नहीं रह गया। ऐसा लगता है कि ईश्वर ने उसे निकृष्ट वस्तु समझकर अन्धकार में फेंक दिया। मृत्यु की छाया तथा नरक की पीड़ाओं और यातनाओं का बहुत गहरा अनुभव हो रहा है और इसका मुख्य कारण यह है कि ऐसा लगता है कि ईश्वर ने परित्याग कर दिया है और उसके क्रोध के कारण दंड मिल रहा है। यह सब और इससे भी कहीं अधिक कष्ट आत्मा को हो रहा है क्योंकि ऐसी भयानक आशंका हो रही है कि यह अवस्था अब सदा रहेगी। ईश्वर ही नहीं, ऐसा लगता है कि सभी प्राणियों ने परित्याग कर दिया है और सभी लोग विशेषतः मित्रगण घृणा की दृष्टि से देखते हैं।[२]

---

१. After Thou hadst wounded me so deeply as I have described, Thou didst begin, oh my God, to withdraw Thyself from me : and the pain of thy absence was the more bitter to me, because the presence had been so sweet to me, Thy love so strong in me.... Thy way, oh my God, before thou didst make me enter into the state of death, was the way of the dying life; sometimes to hide Thyself and leave me to myself in a hundred weaknesses, sometimes show Thyself with more sweetness and love. The nearer the soul drew to the state of death the more her desolations were long and weary, her weaknesses increased and also her joys became shorter, but purer and more intimate, until the time in which she fell into total privation.

२. That which this anguished soul feels most deeply, is the conviction that God has abandoned it, of which it has no doubt, that He has cast it way into darkness

पतंजलि ने विघ्नों में स्त्यान का नाम लिया है। परन्तु कोई कोश और व्याकरण इस छोटे से शब्द के अर्थ को ठीक ठीक समझा नहीं सकता। इसका अनुभव तो किसी अभागे साधक को ही होता है। सेंट टेरिसा ने इसका इस प्रकार वर्णन किया है :

यद्यपि यह अवस्था थोड़ी ही देर तक रहती है परन्तु ऐसा लगता है कि शरीर के अवयव सब अलग हो गये हों। नाड़ी वैसी ही धीमा चलने लगती है जैसे कि मृत्यु के समय। यह एक प्रकार से वैसी ही अवस्था है भी। शरीर के भीतर गर्मी जवाब दे जाती है और इसके साथ ही जो गर्मी प्रकृति का अतिक्रमण करके शरीर में आती है, उसकी आंच इतनी तेज होती है कि यदि उसमें थोड़ी सी और वृद्धि हो तो मृत्यु की इच्छा पूरी होने में कोई देर न रहेगी।

आप यह कह सकते हैं कि ईश्वर को देखने की इस इच्छा में अपूर्णता है। यह पूछ सकते हैं कि जब इस आत्मा ने अपने को पूर्णतया ईश्वर को भेंट कर दिया है तो फिर वह क्यों नहीं अपने को ईश्वर की इच्छा पर छोड़ देती। बात यह है कि अब तक तो वह ऐसा कर सकती थी और अपना जीवन इसके लिए भेंट कर सकती थी परन्तु अब ऐसा करना उसके लिए सम्भव नहीं है। अब उसकी बुद्धि ऐसी जगह पहुंच गयी है कि वह स्वयं अपने ऊपर अधिकार नहीं रखती और बस केवल अपनी पीड़ा की बात सोच सकती है। ईश्वर से इतनी दूर होकर वह क्यों जीने की इच्छा करे? वह एक विचित्र अकेलेपन का अनुभव करती है। न तो किसी मनुष्य के साथ अच्छा लगता है और न मेरा ऐसा विश्वास है कि उसे स्वर्गवासी देवों के साथ अच्छा लगेगा। उस समय किसी के साथ रहने में उसको घोर पीड़ा होती है। वह त्रिशंकु की भांति हवा में लटकी हुई है। उसकी गति ऐसी है कि न वह पृथिवी पर उतर सकती है न स्वर्गारोहण कर सकती है। प्यास के मारे प्राण निकल रहे हैं परन्तु जल छूने की सामर्थ्य नहीं है और

---

as an abominable thing....the shadow of death and torments of hell are most acutely felt, and this comes from the sense of being abandoned by God, beidg chastised and cast out by His wrath and heavy displeasure. All this and even more the soul feels now, for a terrible apprehension has come upon it that thus it will be with it for ever. It has also the same sense of abandonment with respect to all creatures, and that it is an object of contempt to all, especially to its friends.

यह एक ऐसी प्यास है जिसको न तो सहन किया जा सकता है और न बुझाया ही जा सकता है।—सेण्ट तेरीसा[१]

यह सब कष्ट—सच तो यह है कि कष्ट बहुत ही सरल शब्द है—और आकुलता सही नहीं जाती। परन्तु अच्छे साधकों का कहना है कि उसकी बहुत बड़ी आवश्यकता भी है। वह ऐसा समझते हैं कि बिना इसके आत्मा पूर्ण शुद्ध नहीं होती और बिना पूर्ण शुद्धि के आत्मा परमात्मा के साथ एकाकार नहीं हो सकती। इस

---

१. Although this state lasts but a short time, the limbs seem to be disjointed by it. The pulse is as feeble as if one were at the point of death; which is indeed, the case, for whilst the natural heat of the body fails, that which is supernatural so burns the flame that with a few more degrees God would satisfy tho soul's desire for death. You will say, perhaps, that there is imperfection in this desire to see God and ask why this soul does not conform herself to his will, since she has so completely surrendered herself to it. Hitherto she could do this and consecrated her life to it, but now she can not, for her reason is reduced to such a state that she is no longer mistress of herself and can think of nothing but her affliction. Far from her Sovereign Good, why should she desire to live ? She feels an extraordinary lonelinss, finds no companionsship in any earthly creature; nor could she I believe among those who dwell in heaven, since they are not her Beloved. Meanwhile all company is torture to her. She is like a person suspended in mid air, who can neither touch the earth, nor mount to heaven. She burns with a consuming thirst, and cannot reach the water. And this is a thirst which cannot be borne, but one which nothing will quench.

—St. Teresa

प्रकार के अनुभव से आत्मा का अभिमान पूर्ण चूर्ण हो जाता है और वह अपनी अशुद्धियों और अपूर्णताओं को विशाल परिताप की अग्नि में भस्म करके नग्न और निर्मल हो जाती है। इस रूप में वह नग्न और निर्मल परमात्मा से तादात्म्य स्थापित कर सकता है। सब दोषों से मुक्त, सब दुर्बलताओं के ऊपर पहुंचे हुए, सब विशेषणों के पहुंच के बाहर, स्थित आत्मा और परमात्मा के लिए नग्न शब्द सर्वथा उचित है।

और कई ऐसी बातें हैं जो योगी के रास्ते में बाधा डालती हैं। इनमें से एक पांडित्य प्रेम है। मैंने स्वयं ऐसे लोगों को देखा है जो अभ्यास में अच्छी उन्नति कर रहे थे। एकाएक उनको पढ़ने की इच्छा उत्पन्न हुई। विद्या का व्यसन बुरा नहीं है। श्रोत्रियता की मैंने भी भूरि भूरि प्रशंसा की है परन्तु अति हर जगह वर्जित है। जब मैं किसी योगाभ्यासी को न्याय पढ़ते देखता हूं तो देखकर कांप जाता हूं। उन लोगों की स्मृति जाग उठती है जिनको मेरी जानकारी में न्याय ने पथभ्रष्ट किया था। दूसरा अपराधी वेदान्त है। कभी कभी धर्म भावना भी बाधक हो जाती है। किसी ने ठीक कहा है कि :

बड़ी विपत्ति महन्ती आयी

जीवों का उद्धार करने का विचार अच्छा है इसमें सन्देह नहीं। यदि अपने पास लोग सत्संग और शंकानिवृत्ति के लिए आते हैं तो उनको भगाया नहीं जा सकता। परन्तु यही सद्विचार उस वृक्ष का बीज है जिसमें मठ सम्प्रदाय के फल लगते हैं। अन्त में एक बहुत छोटी सी बात की ओर ध्यान आकृष्ट करना चाहता हूं। उसकी ओर कबीर ने इस पंक्ति में संकेत किया है :

मितऊ देहलऽ न जगाय, निंदिया बैरिन भइलीं ना।

इन विघ्नों को दूर करने के लिए पतंजलि ने कहा है :

तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्त्वाभ्यासः। (१,३२)

उनका प्रतिषेध करने के लिए एक तत्त्व का अभ्यास करना चाहिए। कठिनाई यह है कि उन्होंने यह नहीं बतलाया कि किस तत्त्व का अभ्यास किया जाय। कई टीकाकारों का यह मत है कि यहां एक तत्त्व से ईश्वर से तात्पर्य है। यह हो सकता है कि पतंजलि के ध्यान में इस सूत्र की रचना करते समय ईश्वर की सत्ता रही हो क्योंकि इसके पहले जो सूत्र हैं उनमें ईश्वर का ही चर्चा है। परन्तु एक शंका होती है कि यदि उनका संकेत ईश्वर की ओर है तो फिर यह सूत्र अनावश्यक हो जाता है। उसके ठीक पहले के सूत्र में उन्होंने कहा है :

ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च। (१,२९)

जो व्यक्ति ईश्वरवाची प्रणव का जप करता है, और ईश्वर की भावना करता है उसको जो लाभ होते हैं उनमें अन्तराय का अभाव विघ्नों का अभाव, भी कहा गया है, फिर उसी बात को दुहराना अनावश्यक लगता है। फिर एक तत्त्व का क्या अर्थ होगा ? मेरी समझ में पतंजलि ने इस प्रश्न का उत्तर जानबूझकर छोड़ दिया है। प्रत्येक साधक को इस बात का अधिकार है कि जो कोई वस्तु उसको अभीष्ट हो और चित्त को एकाग्र करने में सहायता देती हो उसकी भावना करे अर्थात् बार बार उसका चिन्तन करे इससे विघ्न धीरे धीरे कम हो जायगा। किसी साधक को किसी इष्टदेव पर श्रद्धा हो सकती है, किसी को अपने गुरुदेव पर। ईश्वर तो मुख्य तत्त्व के रूप में है ही। यह निश्चय होना चाहिए कि मेरे ऊपर अवश्य कृपा होगी और इस आध्यात्मिक कर्दम में से अवश्य ही मेरा उद्धार होगा। ऐसा विश्वास भी मानस विघ्नों को दूर करने में समर्थ होगा। शारीरिक विघ्न तो मानस विघ्न के शमन के बाद प्रायः आपसे आप शान्त हो जाता है।

कुछ ऐसी भी बातें होती हैं कि यदि योगाभ्यास की ओर थोड़ी बहुत प्रगति हुई भी तो उधर बढ़ने नहीं देतीं। उनको भी विघ्नों में ही गिनना चाहिए। ऐसी बातों में पांडित्य और जाति के अभिमान का मेरी समझ में प्रथम स्थान है। धन, सन्तति या इसी प्रकार की कोई और संसारी वस्तु मांगने के लिए साधु महात्माओं के पास जाने में किसी को संकोच नहीं होता। यह अपने देश की बहुत पुरानी परम्परा है। परन्तु जो अपने से कम पढ़ा लिखा हो उससे ज्ञान की भिक्षा मांगने में लज्जा का अनुभव होता है। साधारणतः पंडित समुदाय ब्रह्मनिष्ठा से कोसों दूर है। इसलिए जिन शास्त्रों को पढ़ता है उनके रहस्य और वास्तविक अर्थ को बिल्कुल नहीं समझता। परन्तु अभिमान इतना होता है कि अपने से कम पढ़े लिखे के पास जिज्ञासा लेकर नहीं जा सकता। श्रुति कहती है :

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यः, न मेधया न बहुना श्रुतेन।

यह आत्मा न तो प्रवचन से प्राप्त होती है न मेधा के द्वारा, न पढ़ने लिखने से। ऐसे वाक्यों को पंडित समुदाय पढ़ लेता है परन्तु इन पर गम्भीरता से विचार नहीं करता। स्वयं कुछ न जानते हुए भी दूसरों को उपदेश देने का दुस्साहस करता है। इसी प्रकार जो अपने से हीन वर्ण का माना जाता है उससे भी ज्ञान की भिक्षा मांगने में लज्जा लगती है। दुःख की बात यह है कि शंकराचार्य जैसे महापुरुषों ने भी इस भ्रान्त भावना को पुष्ट किया उन्होंने परिश्रम करके यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि शूद्र आत्मज्ञान का अधिकारी नहीं है। इस प्रकार का प्रयास शास्त्रीय ज्ञान और विद्या का दुरुपयोग है। विद्वान् को अपनी प्रतिमा ऐसे क्षुद्र सिद्धान्तों

के पोषण में नहीं लगानी चाहिए। परन्तु प्राचीन काल से ही इस बात को सुनते सुनते लोगों के हृदय पर यह बात बैठ गयी है। परिणाम यह है कि अब्राह्मण, विशेषतः शूद्र कुल में जन्म लेने वाले व्यक्ति, के पास ब्रह्मज्ञान की दीक्षा लेने की बात सोचकर भी बहुत से लोगों को हिचक होती है।

इधर पिछले लगभग एक सहस्र वर्षों में बहुत से महात्मा हुए हैं। जहां पांडित्य का अभिमान और ऊंचे कुल का गर्व दोनों बातें हों, वहां तो और भी कठिनाई है। अभ्यास करने पर विघ्न उपस्थित होना तो अलग रहा, यहां तो ऐसी स्थिति उत्पन्न होती है कि अभ्यास आरम्भ होने ही नहीं पाता। किसी ऐसे व्यक्ति को जो अपंडित हो और किसी तथोक्त नीची जाति में उत्पन्न हुआ हो गुरु रूप में मानना एक ऐसी खाई है जिसको बहुत से लोग पार करने में असमर्थ होते हैं।

अध्याय २०

विभूतियां

विभूतियों के लिए लोक में सिद्धि शब्द अधिक प्रचलित है। इसलिए इस अध्याय में मैं बहुधा उससे ही काम लूंगा। विभूति का अर्थ है ऐश्वर्य, विशेष शक्ति। साधारणतः यों कह सकते हैं कि जिन कामों के सम्पादन में ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों से काम न लिया जाय या प्राकृतिक नियमों का उल्लंघन और अतिक्रमण हो वह काम कर्त्ता की किन्हीं विशेष विभूतियों के द्वारा सम्पादन किये गये हैं। इस प्रकार के कोई काम होते हैं या नहीं, यह विवादास्पद प्रश्न है। मेरा ऐसा दृढ़ मत है कि जो प्रसिद्ध योगी हो गए हैं उनमें से किसी ने भी इस बात का दावा नहीं किया है कि वह प्राकृतिक नियमों का उल्लंघन कर सकता है परन्तु और लोग निश्चय ही ऐसा मानते हैं। और मानने का बड़ा भारी कारण अज्ञान है। जब हम यह कहते हैं कि अमुक काम प्राकृतिक नियमों के अनुसार नहीं हो सकता तो हमारे इस कथन के पीछे यह दर्पोक्ति छिपी हुई है कि हमें सारे प्राकृतिक नियमों का ज्ञान है। परन्तु यह दर्पोक्ति अन्य दर्पोक्तियों की भांति मिथ्या और निराधार है।

अस्तु, महात्माओं की बात जाने दें। भौतिक जगत् में पिछले पचास साठ वर्षों में ही हमारे इस प्रकार के अज्ञान और अभिमान का बुरी तरह प्रदर्शन हो चुका है। जब पहले कुछ लोगों ने यह प्रस्ताव उपस्थित किया कि समुद्र में चलने वाले जहाजों को धातु से बनाया जाय तो उनकी बुरी तरह हंसी उड़ायी गयी। यह कहा गया कि जल पर वही वस्तु तैर सकती है जो जल से हल्की हो। धातु कदापि नहीं तैर सकता। जहाज पानी में डालते ही डूब जायगा परन्तु धातु के जहाज बने और आज भी बन रहे हैं। यही बात अधिक आग्रह के साथ उस समय कही गयी जब वायुयान को बनाने का प्रस्ताव उपस्थित किया गया। आज वायुयान भी चल रहे हैं। सच बात तो यह है कि मनुष्य को प्रकृति के सम्बन्ध में बहुत कम जानकारी है। न्यूटन अपने समय के बहुत बड़े विज्ञानवेत्ता थे। परन्तु धार्मिक स्वभाव के होने के कारण उनमें नम्रता भी बहुत थी। उन्होंने अपने सम्बन्ध में लिखा था: मेरी अवस्था उस छोटे से बालक जैसी है जो समुद्र के किनारे से थोड़े से पत्थर के रंगीन टुकड़े एकत्र कर सका है। वह भले ही उन पर

मुग्ध हो परन्तु इस विश्व में जो सुन्दर वस्तुयें हैं उनके अनुपात में उन टुकड़ों का महत्त्व नहीं के तुल्य है। आज मनुष्य का ज्ञान भंडार निश्चय ही बहुत विस्तीर्ण हो गया है परन्तु अब भी अज्ञात की अपेक्षा ज्ञात का अनुपात बहुत कम है।

आजकल परा मनोविज्ञान का अध्ययन प्रायः सभी देशों में हो रहा है। अमेरिका के ड्यूक विश्वविद्यालय के प्रो० राइन एक प्रकार से इस नये शास्त्र के प्रवर्तक कहे जा सकते हैं। परन्तु आजकल इसमें से कई ऐसी शाखा प्रशाखायें निकलीं हैं जिनके सम्बन्ध में ड्यूक विश्वविद्यालय के अतिरिक्त अन्य स्थानों में बहुत खोज हुआ है और हो रहा है। इतना ही नहीं, अभी तो इस विद्या ने अपने शैशव काल में ही पांव रखे हैं परन्तु अभी से इसके उपयोग की बात भी सोची जाने लगी है और, जैसा कि आजकल प्रायः सभी विद्याओं के साथ होता है, सबसे पहले युद्ध और राज्य विस्तार के क्षेत्र में ही उपयोग ढूंढ़ा जाता है।

परा मनोविज्ञान के शोध करने वालों ने देखा है कि मनुष्य कई विलक्षण काम कर सकता है। जैसे किसी मेज पर एक पेन्सिल पड़ी हो। कुछ देर तक उस पर चित्त एकाग्र करने से वह खड़ी हो जाती है या अपने स्थान से हट जाती है। दूसरों के चित्त में सम्प्रति किस प्रकार के विचार उठ रहे हैं इसका भी कुछ ज्ञान हो सकता है। यह ऐसी बातें हैं जिनका निश्चय ही भौतिक कामों के लिए उपयोग हो सकता है। पेन्सिल का स्थानान्तरण हो सकता है तो शत्रु के दफ्तर में रखे हुए गुप्त कागज अपने यहां क्यों नहीं मंगाये जा सकते ? यह बातें सुन कर हास्यास्पद प्रतीत होती हैं। परन्तु इस समय कई विद्वान् इन बातों को लक्ष्य करके प्रयोग कर रहे हैं। ऐसा मानने का पर्याप्त कारण है कि रूस में ऐसे प्रयास हो रहे हैं। सम्भवतः अन्यत्र भी हो रहे होंगे। योग की कुछ और बातों की ओर भी इस सम्बन्ध में लोगों का ध्यान गया है परन्तु अप्रासंगिक होने से उन बातों का विस्तार से यहां चर्चा करना अनावश्यक है।

परामनोविज्ञान की प्रयोगशालाओं में विशेष रूप से व्यवहित दर्शन और फिर उसके बाद व्यवहित श्रवण की ओर ध्यान दिया गया है। उदाहरण के लिए, कुछ कार्ड लिये जाते हैं। प्रायः ऐसे कार्डों की संख्या पचीस होती है। एक एक प्रकार के पांच पांच कार्ड लिये जाते हैं, फिर इनको उलटकर तथा अस्तव्यस्त क्रम से रख दिया जाता है और जिस व्यक्ति की परीक्षा करनी होती है उससे कहा जाता है कि उनकी पीठ की ओर देखकर यह बतलाये कि कार्डों के रखने का क्रम क्या है। यह प्रायः सबसे सरल प्रयोग है। अभ्यास करने के बाद कई लोगों को इतनी सफलता प्राप्त हो जाती है कि वह प्रायः सभी कार्डों को ठीक ठीक जान लेते हैं। फिर कार्ड एक कमरे में रहते हैं, देखनेवाला दूसरे कमरे में बैठाया जाता है। और भी कई प्रकार से प्रयोग होता है। किसी पुराने अखबार का कोई अंक जिसमें बहुत सी संख्यायें दी हों जैसे विभिन्न

नगरों के तापमान, या विभिन्न वस्तुओं के बाजार भाव, रख दिया जाता है और उन संख्याओं के पढ़ने के लिए कहा जाता है। इसमें भी कई लोगों को बहुत सफलता मिली है और अभ्यास से सफलता का अनुपात बढ़ता जाता है। जो बात व्यवहित वस्तु को देखने के सम्बन्ध में पायी गयी है, वही बात व्यवहित बात को सुनने के सम्बन्ध में भी पायी जाती है। इन सब बातों को देखकर इस शास्त्र के विद्वान् इस परिणाम पर पहुंचे हैं कि यह शक्ति प्रायः हर मनुष्य में है। कुछ लोगों में जन्मना बहुत विकसित रूप में मिलती है, दूसरे लोगों में अभ्यास से जागृत की जा सकती है। हां, ऐसे भी लोग हैं जिनमें इतनी प्रसुप्त अवस्था में विद्यमान है कि उसको ऊपर लाना प्रायः असम्भव के बराबर है।

इस प्रकार के देखने सुनने को अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष (Extra Sensory Perception) थोड़े में ई० एस० पी (ESP) कहने लगे हैं।

इस विषय में मुझको भी बहुत अभिरुचि है। डा० राइन और कई दूसरे विद्वानों से मेरा पर्याप्त पत्र व्यवहार हुआ है और अब भी होता रहता है। मैं, इन प्रयोगों की उपलब्धियों को ठीक मानते हुए इनके सम्बन्ध में जो मत स्थिर किया गया है, अर्थात् इनकी अतीन्द्रियता का जो प्रतिपादन हुआ है, उसको स्वीकार नहीं करता। मेरा यह निवेदन है कि यह अनुभव अतीन्द्रिय नहीं है। इतना तो ड्यूक विश्वविद्यालय और अन्यनरीक्षण से सिद्ध हो चुका है कि इस प्रकार के प्रत्यक्ष में इन्द्रियों का वही अधिष्ठान और वही नाड़ीतन्तु काम में आते हैं जो साधारण प्रत्यक्ष मे व्यवहार में लाये जाते हैं। यदि देखने की बात है तो उसी साधारण आंख से काम लिया जाता है, आंख के पीछे रेटीना के उसी पर्दे पर चित्र बनता है जो सामान्य देखने में काम आता है। यहां तक तो यह प्रत्यक्ष साधारण प्रत्यक्ष से अभिन्न है। सबको ऐसा अनुभव साधारणतः नहीं होता यह इसकी भिन्न जातीयता का प्रमाण नहीं है। कई देशों, विशेषतः फ्रांस, में जहां शैम्पेन और इसी प्रकार की महंगी शराबें बनायी जाती हैं, कुछ लोग "वाइन टेस्टर" का काम करते हैं। यह शराब बनाने के कारखानों में रहते हैं और बना हुआ माल इनको चखने के लिए दिया जाता है। जो अच्छे 'टेस्टर" हैं वह तीन चार सौ स्वादों को पहचान सकते हैं। साधारण मनुष्य के लिए स्वादों में इतनी बारीकी से भेद करना असम्भव प्रतीत होता है। परन्तु न तो "टेस्टर" स्वयं कहता है, न कोई और कहता है, कि उसको स्वादों के विषय में अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष हो रहा है।

मेरा यह निवेदन है कि इन्द्रियों की शक्ति बहुत बड़ी है। परन्तु हम उनसे साधारणतः काम नहीं लेते। काम लेना हमारे हित में भी नहीं है। प्रकृति अपने कामों में बहुत मितव्ययिता दिखलाती है। जिस वस्तु का उपयोग नहीं है उसको छिपाये रखती है। मनुष्य के शरीर का विकास उसकी वासनाओं की तृप्ति को सामने रखकर

ही हुआ है जीवन में सामान्यत: जो वासनायें उसको प्रेरित करेंगी और उन प्रेरणाओं को तुष्ट करने के लिए जिस उपकरणों की आवश्यकता होगी वह उसको दी गयी हैं।

हमको विशेष प्रकार से खाना होता है। खाद्य सामग्री का संग्रह करना होता है। इन बातों को देखकर ही गर्भ से ही हाथ का निर्माण आरम्भ होता है। यदि दूसरे प्रकार का हाथ हमको दिया जाय, चाहे वह हमारे वर्त्तमान हाथों से बलिष्ठ ही क्यों न हो, तो उससे हित के स्थान पर हमारा अहित हो सकता है। हमारे भोग की लिप्साओं की पूर्ति के लिए आंख की जितनी शक्ति की आवश्यकता है वह प्रकट है। यदि इससे बहुत अधिक शक्ति मिल जाय तो कष्ट हो सकता है। हमारे सामने कोई ऐसा व्यक्ति खड़ा हो जिससे हमको प्रेम है। यदि हम अपनी आंखों से उसके शरीर के भीतर होने वाली सारी रासायनिक क्रियाओं को देख सकें तो प्रेम की जगह घृणा ले ले। हम किन्हीं लोगों को अपना मित्र समझते हैं। हमारे पीठ पीछे वह हमारे सम्बन्ध में क्या बातें करते हैं यदि दूर से बैठे बैठे हम उन बातों को सुन सकें तो जीवन पागलों जैसा हो जाय। इसलिए प्रकृति का यह बहुत ही सुन्दर विधान है कि हमको इन्द्रियों की सीमित शक्ति का परिचय मिलता है और सीमित शक्ति से ही हम काम ले सकते हैं। परन्तु उनकी वास्तविक शक्ति इससे अधिक है। यदि उनसे वासनाओं की तृप्ति का काम न लिया जाय तो फिर वह शक्ति निर्बाध हो जाती है। जब कोई व्यक्ति योगाभ्यास करने के लिए चित्त को एकाग्र करके बैठता है तो उसको इस जगत् में ऐसे दृश्य देख पड़ते हैं, ऐसी ऐसी बातें सुन पड़ती हैं, जिनका साधारण मनुष्य अनुमान भी नहीं कर सकता। योगियों की वाणियों में ऐसी बातों का परिचय भरा पड़ा है। पुस्तक के पूर्ववर्ती कई अध्यायों में मैंने इस प्रकार के कई अवतरण दिये हैं। जो लोग योग का अभ्यास न करते हों परन्तु किसी कारण विशेष से चित्त को एकाग्र करके कुछ देर बैठते हों, तो उनकी इन्द्रियों की भी सोयी हुई शक्ति अंशत: जाग जायगी। संक्षेप में इस सम्बन्ध में मेरे यह विचार हैं कि इस प्रकार के प्रयोगों से कोई अतीन्द्रिय अनुभव नहीं होता। इन्द्रियों की वास्तविक शक्ति के कुछ प्रसुप्त अंश निश्चय ही जाग जाते हैं।

परन्तु इस प्रकार की प्रयोगावस्था से हम सिद्धियों के क्षेत्र में पहुंच जाते हैं। ऐसा कहा जा सकता है कि व्यवहित वस्तुओं को देख लेना सिद्धि है और यदि किसी ने अभ्यास करके अपनी इन्द्रियों की इस सोयी हुई शक्ति को जगाया हो तो वह सिद्ध पुरुष होने की प्रसिद्धि पा जायगा, यद्यपि वह प्रकृति का रत्ती भर अतिक्रमण नहीं कर रहा है। इन्द्रियां अहंकार से निकली हैं जो त्रिगुणात्मिका प्रकृति की ही संतति हैं।

आज से कुछ दशक पहले सम्मोहन (हिप्नोटिज्म) की गिनती ऐसी विद्याओं में थी जिनके द्वारा चतुर लोग लोगों को मूर्ख बनाकर पैसा ठग लिया करते थे। परन्तु

आज उसकी गणना सद्विद्याओं में हो गयी है। उसकी सहायता से कई प्रकार के रोगों की चिकित्सा की जाती है और बहुत से अच्छे डाक्टर उसका अभ्यास करते हैं।

मनोविज्ञान का यह आग्रह नहीं है कि वह मानव स्वभाव के अन्तस्तल तक पहुंच गया है और उसके सारे रहस्यों से परिचित है परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि विज्ञान के इस क्षेत्र में बहुत उन्नति हो रही है और मनुष्य के व्यवहार की बहुत सी ग्रन्थियां खुलती जा रही हैं। ज्ञान में जो इस प्रकार की वृद्धि हो रही है उससे योग के भी प्रान्त भागों में प्रकाश पड़ता है। यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है। योगी अयोगी दोनों का चित्त एक जैसा ही होता है। साधारण मनुष्य का चित्त प्रायः क्षिप्त या विक्षिप्त अवस्था में होता है और विक्षिप्त चित्त को लेकर ही साधक अभ्यास करने बैठता है। छलांग मारकर कोई समाधि की ऊंची भूमिकाओं तक नहीं पहुंचता। क्रमशः आगे बढ़ा जाता है। चित्त के व्यापार की शृंखला सहसा नहीं टूट जाती। हमको ऐसी आशा करनी चाहिए कि सिद्धियों के विषय में भी मनोविज्ञान के द्वारा और ज्ञातव्य बातें जानी जा सकेंगी और इसके साथ ही योग के अनुभव सामान्य जीवन के लिए उपयोगी हो सकेंगे।

सिद्धियों के सम्बन्ध में विचार करते समय हमको पतंजलि का यह सूत्र सदैव ध्यान में रखना चाहिए :

ते समाधावुपसर्गा व्युत्थाने सिद्धयः। (३,३६)

वह समाधि में विघ्न और व्युत्थान में सिद्धि हैं।

यदि कोई साधक इस उद्देश्य से अभ्यास करता है कि मुझको सिद्धियां प्राप्त हो जायं या कम से कम कोई एक सिद्धि विशेष प्राप्त हो जाय तो उसका यह लक्ष्य तो चाहे पूरा हो जाय परन्तु समाधि की दिशा में आगे नहीं बढ़ सकेगा। सिद्धि का चस्का बहुत बुरा होता है और फिर मनुष्य अपने को यह समझाकर धोखा दे लेता है कि मैं तो इस प्रकार लोकहित कर रहा हूं। आर्त्तों का दुःख दूर कर रहा हूं। प्रसिद्ध जर्मन कथा फाउस्ट का यही आधार है। अपने नगर में फैले संक्रामक रोग से लोगों की रक्षा करने के लिए फाउस्ट उत्सुक और व्यग्र था। यह शक्ति उसको प्राप्त हुई। परन्तु इसके बदले में उसको अपनी आत्मा को शैतान के हाथ बेच देना पड़ा और फिर वह यावज्जीवन ईश्वराभिमुख न हो सका। यदि बिना प्रयास के या बिना संकल्प के ही किसी प्रकार की सिद्धि प्राप्त हो जाय तो भी उससे काम नहीं लेना चाहिए। लोकहित भी प्रलोभन है, और प्रलोभन कोई भी हो, समाधि से खींचकर नीचे गिरा देता है, आध्यात्मिक उन्नति का मार्ग बन्द कर देता है। इतना ही नहीं, सिद्धियों से काम लेने में

इस बात की भी आशंका रहती है कि काल पाकर वह शक्ति क्षीण हो जाय और साधक कहीं का भी न रहे। आध्यात्मिक उन्नति तो गयी ही, वह शक्ति भी हाथ से चली जाय जिसके द्वारा लोक में कुछ ख्याति प्राप्त की गयी थी।

जन्मौषधिमन्त्रतपःसमाधिजाः सिद्धयः। (४,१)

इस सूत्र में पतंजलि ने बतलाया है कि सिद्धियां पांच प्रकार की होती हैं। उनमें से कुछ जन्म से, कुछ औषधों से, कुछ मंत्रों से, कुछ तप से और कुछ समाधि से उत्पन्न होती हैं।

सहज सिद्धियां

जो सिद्धियां किसी व्यक्ति के जन्म काल से ही पायी जाती हैं उनको सहज सिद्धियां कह सकते हैं। राम, कृष्ण, शंकराचार्य ईसा, जैसे महापुरुषों के सम्बन्ध में जो बहुत सी बातें कही जाती हैं उनको छोड़ भी दिया जाय तब भी आजकल भी ऐसे लोग देखे जाते हैं कि जिनमें बचपन से ही अद्भुत शक्तियां पायी जाती हैं। बच्चा तीन चार वर्ष के वय से ही संगीत में पारंगत प्रतीत होता है, कोई गणित जैसे कठिन विषय पर अलौकिक अधिकार रखता है। परा मनोविज्ञान के सन्दर्भ में जिन शक्तियों का चर्चा हुआ है वह भी कुछ लोगों में बिना अभ्यास के जन्म से ही देख पड़ती हैं। कुछ बच्चों में पूर्व जन्म की स्मृति विद्यमान रहती है। इस प्रकार की सिद्धि का होना यह प्रमाणित करता है कि इस व्यक्ति ने पिछले जन्म में अभ्यास के द्वारा ऐसी शक्ति अर्जित की है जिसके संस्कार अभी तक चले आ रहे हैं। बहुधा यह भी देखा गया है कि वय बढ़ने पर इस प्रकार की क्षमता चली जाती है।

ओषधिज सिद्धियां

प्राचीन साहित्य में ऐसी कई ओषधियों का चर्चा मिलता है जिनके सेवन से मनुष्य में कुछ देर के लिए विचित्र शक्तियां प्रकट हो जाती हैं। ऐसी बातों का चर्चा केवल भारत ही नहीं प्रायः उन सभी देशों में मिलता है जिनकी संस्कृति में आध्यात्मिक विषयों का महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। वैदिक वाङमय सोम की महिमा से परिपूर्ण है। सोम का व्यवहार केवल भारतीय आर्यों में ही नहीं था प्रत्युत वह आर्य लोग भी उसका सेवन करते थे जिनके वंशज आज पारसी कहलाते हैं। ज़रथुश्त्र ने अन्य सुधारों के साथ साथ सोम का भी, जिसका ईरानी रूप होम था, निषेध करना चाहा परन्तु इसमें उनको सफलता नहीं मिली। कहते हैं कि एक दिन वह ध्यानावस्था बैठे थे कि उनको

पीछे से होम देवता ने पुकारा और उसके आदेश को मानकर उन्होंने सोम पान के निषेध की अपनी आज्ञा उठा ली।

पाश्चात्य विद्वानों का मत है कि वह विजया (भंग) की भांति का कोई मादक रस था जो किसी विशेष प्रकार के पौधे को पीसकर निकाला जाता था। किसी और जानकारी के अभाव में पढ़ा लिखा भारतीय भी यही मानने लगा है। सोम पौधे से पीस कर निकाला जाता था, इसमें सन्देह नहीं। उससे नशा भी होता था, इसमें भी सन्देह नहीं है। परन्तु वह सामान्य नशे के लिए नहीं पिया जाता था। आर्य सुरा से परिचित थे, शराब निकालना जानते थे। यदि उनको मादक वस्तु की ही चाह होती तो सुरा थी ही। पी सकते थे, पीनेवाले पीते ही थे। परन्तु सोम को जो विशेष स्थान दिया गया था, वह केवल नशे के लिए नहीं था। सोम बेचने वालों को कई सुविधायें प्राप्त थीं, वह युद्धकाल में भी बेरोकटोक देश के एक कोने से दूसरे कोने तक आ जा सकते थे। अन्य मादक वस्तुओं की भांति न तो सोम गली गली बिकता था, न जब चाहे तब पीस कर निकाला जाता था। एक तो वह मूजवान पर्वत से आता था जो कहीं अफगानिस्तान के पास है। यों ही महंगा होता होगा। दूसरे, यज्ञ के सिवाय और कभी तैयार नहीं किया जाता था। यज्ञ में भाग लेने वालों को ही उसको पीने का अवसर मिल सकता था। ब्राह्मणों का कहना था :

सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानां राजा ।

"सोम हम ब्राह्मणों का राजा है।" ऐसे शब्द निर्लज्जता के साथ किसी मादक वस्तु के लिए नहीं कहे जा सकते थे।

वेदों में सोम की बहुत महिमा गायी गयी है। एक ओर तो सोम औषधि मात्र का प्रतीक है, दूसरी ओर वह उस रस, उस पोषक शक्ति का नाम है जो सभी वनस्पतियों में संचार करता है और उसके द्वारा सभी जीवों का भरण पोषण करता है। सोम प्राण की भी संज्ञा है और शारीरिक तथा बौद्धिक क्रियाओं और चेष्टाओं का प्रेरक है। सोम के सम्बन्ध में यह मंत्र विशेष रूप से द्रष्टव्य है :

सोमं मन्यते पपिवान् यत् सम्पिषन्त्योषधिम् ।
सोमं यं ब्रह्माणो विदुर्न तदश्नाति पार्थिवः ॥ (१०,८५, ३)

यहां स्पष्ट शब्दों में दो प्रकार के सोम का उल्लेख है। एक तो वह जो साधारण मनुष्य पौधे को पीसकर पीता है, दूसरा वह जिसका रसास्वाद ब्राह्मण करता है।

मंत्र का अर्थ है :

"सोम को पीने की इच्छा से (लोग) पौधे को पीसते हैं, परन्तु जिस सोम को ब्राह्मण जानते हैं उसको पार्थिव, संसारी, मनुष्य नहीं चखता ।"

सोमपान का यही रहस्य है। सोम के रस को पान करने से एक विशेष प्रकार की अनुभूति होती थी जो समाधि के नीचे स्तरों के अनुभव से मिलती जुलती थी। जो साधक सोम का सेवन करता था उसको चित्त में एकाग्रता लाने में सहायता मिलती थी।

आज से कुछ दिन पहले सोम के इस गुण को समझना कठिन था। परन्तु आज पश्चिम, विशेषतः अमेरिका, में ऐसे कई प्रयोग हो रहे हैं जिनसे यह बातें कुछ समझ में आने लगी हैं। कई ऐसे पौधे हैं जिनके रस में कुछ विलक्षण गुण पाये गये हैं। इनमें मेस्केलीन पर बहुत प्रयोग हुआ है। पीने के बाद चित्त में विशेष प्रकार के विस्तार का अनुभव होने लगता है। ऐसा प्रतीत होता है कि जैसे दिक् और काल नीचे छूट गये हैं। एक क्षण के लिए ऐसा लगता है जैसे विश्व के रहस्य का साक्षात्कार हो रहा है।[1] अन्तःकरण में अद्भुत शान्ति छा जाती है। और सबसे बड़ी बात यह है कि अन्य मादक वस्तुओं की भांति लत नहीं पड़ती। जब उस अनुभूति की इच्छा हो सेवन किया जा सकता है।

इसमें कोई सन्देह नहीं प्रतीत होता कि सोम लता कोई ऐसी ही ओषधि थी जिसके रस में यह गुण था। वह साधना में सहायक होती थी, इसलिए उसे पिया जाता था, भंग और मदिरा की भांति नशे के लिए नहीं। उसके प्रभाव से साधक को सिद्धि प्राप्त होती थी। उस सिद्धि को "वाज" कहते थे। यह सोम का चरम स्वरूप था। साधारण मनुष्य ऐसी ऊंची अनुभूति का पात्र नहीं होता, इसीलिए सोम को ब्राह्मणों का, ब्रह्मजिज्ञासुओं का, राजा कहा गया था। यह भ्रान्त विचार है कि आर्य सोम के नशे के शौकीन थे और उन्होंने इस मादक द्रव्य को देवपद दे दिया था।[2]

औषधों के प्रयोग से भी जो सिद्धियां प्राप्त होती हैं वह चिरस्थायिनी नहीं होती और न बहुत उच्च स्तर की होती हैं परन्तु नये साधक को चित्त एकाग्र करने में इन ओषधियों से सहायता मिलती है।

मंत्रज सिद्धियां

हमारे आध्यात्मिक वाङमय में मंत्रों का बहुत बड़ा स्थान है और उनके द्वारा सिद्धियों की प्राप्ति का बराबर चर्चा मिलता है। ऐसा माना जाता है कि मंत्र के

---

१. इसको मोमेण्ट आफ ट्रूथ—सत्य का क्षण कहा गया है।

२. मेरी पुस्तक "हिन्दू देवपरिवार" से उद्धृत।

द्वारा जो सिद्धि प्राप्त होती हैं वह उच्च कोटि की होती हैं और चिरस्थायी होती हैं।

मंत्र दो प्रकार के होते हैं : ध्वन्यात्मक और वर्णात्मक। योगी को अभ्यास की अवस्था में विशेष भूमिकाओं में जो नाद के विशेष भेद सुन पड़ते हैं उनका अनुकरण वैखरी बोली में करने से ध्वन्यात्मक मंत्र बनते हैं। सबसे बड़ा और उत्कृष्ट ध्वनन्यात्मक मंत्र "ओंकार" है। परन्तु उसके अतिरिक्त और भी कई ऐसे मंत्र हैं जैसे क्लीम, हुम्, ह्रीम् इत्यादि।

वर्णात्मक मंत्र वह हैं जो शब्दों को व्याकरण के नियमों के अनुसार मिलाकर वाक्य के रूप में होते हैं जैसे नमो नारायणाय, नमश्चंडिकायै, इत्यादि।

वर्णात्मक मंत्र होने को तो वन्दना या प्रार्थना के रूप में होते हैं, परन्तु उनमें और साधारण वन्दनाओं में एक बहुत बड़ा अन्तर होता है। ऐसा माना जाता है कि मंत्र की शक्ति उसके अर्थ में नहीं, वरन् मुख्यतया उन अक्षरों की ध्वनियों में है जिनको मिलाकर कर मंत्र बनता है। ऐसा विश्वास है कि जिसके मुख से वह मंत्र पहले पहल निकला—ऐसे व्यक्ति को मंत्र का द्रष्टा या ऋषि कहते हैं—स्वयं योगी रहा होगा। समाधि के प्रसाद से उसकी वाणी शक्तिशाली हुई और उसके मुंह से शब्दों का समुच्चय निकला। भले ही इस समुच्चय का कोश और व्याकरण के, अनुसार कोई अर्थ भी होता हो परन्तु मुख्य बात यह है कि उन शब्दों की सजावट, उनके उच्चारण का क्रम और उसकी विधि इस प्रकार की है कि यथाविधि मंत्र के पढ़ने से वायुमंडल में जो स्वर लहरी उत्पन्न होती है उसके कुछ विशिष्ट फल होते हैं। परमात्मा की पराशक्ति सर्वत्र विद्यमान है। वही परा देवता है। उसके नाना भेद हैं। भौतिक जगत् में ऊर्जा के जितने भेद ज्ञात हैं जैसे विद्युत्, प्रकाश, ताप आदि—यह सब भी पराशक्ति के ही भेद हैं। इनके अतिरिक्त मनुष्य जगत् में काम करने वाली जितनी शक्तियां हैं, आध्यात्मिक जगत् में जो शक्तियां गतिशील हैं, वह सब भी इस परा देवता के अधीन, और भेद हैं। मूल ध्वनि ओंकार के यथाविधि उच्चारण से जो स्वर लहरी उत्पन्न होती है वह परा देवता को जगाती है अर्थात् उसके प्रभाव से परा देवता उस स्थान पर प्रकट होती है और साधक के कार्य को सिद्ध करती है। इसी प्रकार जो योगियों के मुंह से निकले हुए मंत्र नाना शब्द समूह होते हैं उनसे जो हवा में कम्पन होता है वह कम्पन प्राण और नाड़ीतन्तुओं को प्रकम्पित करता है और इस प्रकार जो लहरी उत्पन्न होती है वह परा देवता के किसी भेद का उद्बोधन करती है अर्थात् किसी शक्ति विशेष को जगाती है, उस शक्ति विशेष के प्रभाव को प्रकट करती है। ऐसी विशेष शक्तियों में से कुछ के नाम दिये हुए हैं। वह शक्तियां उन उन मंत्रों की देवता कहलाती हैं। वेद के संहिता भाग में मंत्रों का ही समुच्चय है।

यह हो सकता है कि इस संग्रह में सब रचनायें मंत्रात्मक न हों। बहुत से प्रक्षेप हो गये हों परन्तु यदि कोई शब्द समूह सचमुच मंत्र है तो उससे उसके देवता का उद्बोध होना चाहिए और उस शक्ति की प्राप्ति होनी चाहिए जिसका नाम उस तथाकथित मंत्र के साथ सम्बद्ध है। मंत्र की यही कसौटी है। परन्तु यह भी अवधान की बात है कि जहां मंत्र के यथार्थ उच्चारण से देवता का उद्बोध होता है और शक्ति जागती है, दूसरे शब्दों में सिद्धि की प्राप्ति होती है, वहां यदि मंत्र के उच्चारण में कोई भूल हो जाय तो इतना ही नहीं कि लाभ न होगा बल्कि उलटे हानि भी हो सकती है। ऐसा कहा गया है कि मंत्र के पढ़ने में स्वर या वर्ण में कोई दोष आ जाय तो वह मंत्र वाग्वज्र होकर पढ़नेवाले के लिए घातक हो जाता है। इसीलिए मंत्र का अनुवाद नहीं हो सकता। मंत्र में जो प्रार्थना की गयी हो उसको उससे सुन्दर शब्दों में व्यक्त किया जा सकता है। भक्ति और आदर के साथ पढ़ने से श्रद्धा का फल निश्चय ही मिलेगा। परन्तु मंत्र के पाठ से जो फल होता वह नहीं मिल सकता।

तपोजन्य सिद्धियां

तप चाहे किसी प्रकार का हो उसमें शरीर और चित्त की वृत्तियों का नियंत्रण होता ही है। इसके परिणामस्वरूप उसी प्रकार सिद्धियों की उपलब्धि हो सकती है जैसे कि आगे चलकर समाधिजन्य सिद्धियों के सम्बन्ध में बतलाया जायगा। सबसे बड़ा तप वह है जो यमों में परिगणित है। इस प्रकार जो सिद्धि प्राप्त होती है उसका चर्चा पतंजलि ने पृथक् पृथक् किया भी है। उदाहरण के लिए, उनका कहना है कि अहिंसा का पूर्ण रूप से अभ्यास होने पर उस साधक की सन्निधि में सब प्राणी बैर त्याग कर देते हैं। यदि शेर और बकरी दोनों एक ही साथ ऐसे व्यक्ति की सन्निधि में आ जायं तो उतनी देर के लिए शेर के चित्त में बकरी पर आघात करने का भाव उदय ही नहीं होगा। इतना ही नहीं इसके कई ऐसे उदाहरण मिलते हैं जो ऐतिहासिक काल में भी ख्याति पा चुके हैं। इस सम्बन्ध में सेण्ट फ्रांसिस का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। जब वह सड़क पर चलते थे तो चिड़ियां झुंड के झुंड में उनके साथ चला करती थीं। एक बार एक नगर को एक भेड़िये ने बहुत तंग कर रखा था। किसी प्रकार कोई शिकारी उसे मार न सका। सेण्ट फ्रांसिस उधर से निकले। लोगों ने उनसे कहा कि आप कोई उपाय कीजिए। वह उस जंगल की ओर जिधर वह रहता था बढ़े। भेड़िया आया। उन्होंने इटली की भाषा में भाई भेड़िया कह कर उसे संबोधित किया। उसने उनको देखा और उनके पैरों पर लेटने लगा। वह उसको अपने साथ नगर में लाये। वहां दो वर्ष तक जीता रहा।

समाधिजन्य सिद्धियां

सिद्धियों में सबसे प्रमुख स्थान समाधिजन्य सिद्धियों का है। मैं इनको दो वर्गों में बांटना चाहता हूं। यह वर्गीकरण पुराना नहीं है। परन्तु मुझे इससे विषय के प्रतिपादन में सुविधा देख पड़ती है। इन वर्गों के नाम प्रकाशजन्य और काम्य हैं।

(क) प्रकाशजन्य सिद्धियां

प्रकाश से तात्पर्य ज्ञान से है। यों तो प्रत्येक प्राणी में अनन्त ज्ञान और शक्ति बीज रूप से विद्यमान है परन्तु अधिकांश लोगों में वह अनेक आवरणों से ढका रहता है। शरीर का संव्यूहन स्वयं बहुत बड़ा आवरण है। इद्रय और अन्तःकरण भी ज्ञान की निर्बाध उपलब्धि में विघ्न डालते हैं यद्यपि नीचे के स्तरों पर इनसे ज्ञान के संग्रह में थोड़ी सी सुविधा भी होती है। और फिर चित्त में भरे हुए संस्कार और उसको प्रति क्षण प्रेरित करनेवाली वासनायें—यह सभी प्रकाश के आवरण हैं। जब साधक अभ्यास करने में तत्पर होता है तो क्रमशः उसके आवरण क्षीण होने लगते हैं। और ज्यों ज्यों आवरण क्षीण होते हैं त्यों त्यों ज्ञान में वृद्धि होती है। वस्तुतः उसको कहीं से ज्ञान का संचय नहीं करना है, ज्ञान तो उसका स्वरूप ही है, केवल रुकावटों को हटाना है। जहां ज्ञान है वहां शक्ति है। इसलिए ज्ञान के आवरणों के दूर होने के साथ साथ कर्तृत्व शक्ति पर से बंधन हटने लगते हैं। दूसरे शब्दों में इसको यों कह सकते हैं कि उसको सिद्धियों की उपलब्धि होने लगती है। इसके लिए उसको प्रयास नहीं करना पड़ता। प्रयास तो केवल आवरणों के क्षय के लिए करना है और यह बात समाधि से होती ही है। शेष बातें स्वतः होती जाती हैं। जब योगी के ज्ञानावरणों का पूर्णरूपेण क्षय हो जाता है तो फिर उसके लिए न कुछ अज्ञेय रह जाता है न कुछ अकरणीय। उस अवस्था में उसके ज्ञान को प्रातिभ ज्ञान कहते हैं और इसके लिए पतंजलि ने लिखा है :

प्रातिभाद्वा वा स्वतः सर्वम् । (३,३२)

अर्थात् जितनी भी सिद्धियां हैं वह सब आप से आप प्रातिभ ज्ञान होने पर साधक को प्राप्त हो जाती हैं। ऐसे ही पुरुष के लिए सांख्यदर्शन ने कहा है :

स हि सर्ववित् सर्वकर्त्ता ।

इस वर्ग की सिद्धियों में एक और विशेषता है। पतंजलि के शब्दों में :

तत्र ध्यानजमनाशयम् । (४,६)

अर्थात् ध्यान से उत्पन्न जो सिद्धि होती है वह अनाशय होती है। पतंजलि ने आशय शब्द का व्यवहार सर्वत्र वासना के अर्थ में किया है। यह जो प्रकाशज सिद्धियां हैं इनके लिए साधक कोई प्रयत्न नहीं करता, न किसी उद्देश्य विशेष को लेकर इनके लिए प्रयत्न करता है। इसीलिए इनका किसी प्रकार की वासना से कोई सम्बन्ध नहीं है। इतना ही नहीं जिस साधक को ऐसी सिद्धियां प्राप्त होंगी वह वासनाओं के ऊपर उठ चुका होगा। इसलिए यदि वह कभी किसी अवस्था में अपनी किसी सिद्धि से काम ले तो वहां भी किसी वासना से प्रेरित होकर ऐसा नहीं करेगा। अतः वासना के फलस्वरूप जो पुण्य पाप जैसे परिणाम होते हैं उनसे वह साधक सदा निर्लिप्त रहेगा।

कोई व्यक्ति सचाई के साथ योग का अभ्यास करे और उसको सिद्धि की प्राप्ति न हो ऐसा नहीं हो सकता। इच्छा हो या न हो सिद्धि तो ज्ञानावरण के हटने से आप से आप प्राप्त होगी ही। मेरा ऐसा दृढ़ विश्वास है कि प्रथम कल्पिक अभ्यासी को भी थोड़े ही दिनों में कुछ सिद्धि का आभास मिलने लगता है। उसे कभी अनायास हो ऐसा बातें ज्ञात हो जाती हैं जिनकी उसको सम्भावना भी नहीं प्रतीत होती थी। कभी उसके शरीर से ऐसे काम हो जाते हैं जिन पर स्वयं उसको आश्चर्य होता है। कुछ कवित्व शक्ति प्रस्फुटित होती है। आरम्भ में उसका उधर ध्यान नहीं जाता और उनको आकस्मिक घटनायें समझकर यों ही टाल जाता है। परन्तु जब ऐसा अनेक बार होता है तो ऐसे अनुभव की उपेक्षा नहीं की जा सकती। ऐसे समय बहुत संभलने की आवश्यकता है। यदि उसकी पीठ पर गुरु का वरद हाथ हो तो और भी अच्छा है, नहीं तो सिद्धियों का प्रलोभन अपने मायाजाल में फंसा कर पतनोन्मुख कर देगा।

(ख) काम्य

कुछ साधक किसी सिद्धि विशेष को प्राप्त करना चाहते हैं। इस कामना को लेकर वह अभ्यास में प्रवृत्त हो जाते हैं। पतंजलि ने ऐसे लोगों के लिए एक ही उपाय बतलाया है। उनको जिस वस्तु की कामना हो उस पर संयम अर्थात् धारणा, ध्यान और समाधि का अभ्यास करना चाहिए। योगदर्शन में बहुत सी काम्य सिद्धियों का चर्चा किया गया है। जिसको इस विषय में अभिरुचि हो वह वहां सविस्तर देख सकता है।

मेरा ऐसा दृढ़ विश्वास है कि योगदर्शन के इस अंश में बहुत सी बातें प्रक्षिप्त हैं। ऐसा विश्वास नहीं होता कि पतंजलि या किसी दूसरे व्यक्ति ने जो योग के विषय को जानता हो ऐसी बातों को लिखा होगा। सम्भावना यह है कि ऐसे सूत्रों पर तथाकथित व्यास भाष्य भी प्रक्षिप्त होगा। वाचस्पति और भोज जब वृत्ति और टीका लिखने बैठे तो उनके समय तक यह प्रक्षिप्त सूत्र प्रामाणिकता पा चुके थे। अतः उनके सामने इनको

स्वीकार करके इनके सम्बन्ध में चार शब्द लिखने के सिवाय प्रायः और कोई उपाय नहीं रह गया था। ऐसे सूत्र योगशास्त्र और योगदर्शन को हास्यास्पद और निन्दास्पद बनाते हैं। मैं इस बात के दो तीन उदाहरण दूंगा। एक सूत्र है :

भुवनज्ञानं सूर्ये संयमात् । (३,२५)

सूर्य पर संयम करने से भुवनों का ज्ञान होता है।

स्वभावतः यह जानने की इच्छा होती है कि इस प्रकार के संयम करने से भुवनों का क्या ज्ञान प्राप्त होता है। किसी ने कुछ ज्ञान प्राप्त करके कहीं उसका चर्चा किया है या नहीं ? इस शंका का समाधान व्यास के भाष्य में बड़े विस्तार से दिया गया है। यह बात इतनी रोचक है कि मैं भाष्य का पूरा अनुवाद दिये देता हूं।

"भूमि आदि सात लोक, अवीचि आदि सात महानरक तथा महातल आदि सात पाताल, यह भुवन पद का अर्थ है। इनका विन्यास इस प्रकार है कि अवीचि से सुमेरु के पृष्ठ पर्यन्त जो लोक है वह भूलोक है और सुमेरु पृष्ठ से ध्रुव तारे पर्यन्त जो ग्रह, नक्षत्र तारों से चित्रित लोक है वह अन्तरिक्ष लोक है। इससे परे पांच प्रकार के स्वर्ग लोक हैं। उनमें भूलोक और अन्तरिक्ष लोक से परे जो तीसरा स्वर्गलोक है वह माहेन्द्र लोक कहलाता है। चौथा जो महर्लोक है वह प्राजापत्य स्वर्ग कहलाता है। इससे आगे जो जनः लोक, तपः लोक और सत्यलोक नाम के तीन स्वर्ग हैं, वे तीनों ब्रह्मलोक कहे जाते हैं। इन सब लोकों का नाम संकीर्तन निम्न श्लोक में है :

ब्राह्मस्त्रिभूमिको लोकः प्राजापत्यस्ततो महान् ।
माहेन्द्रश्च स्वरित्युक्तो, दिवि तारा भुवि प्रजा ॥

तीन ब्रह्म लोक हैं, उनसे नीचे महा नाम का प्राजापत्यलोक है। उनसे नीचे स्वः नामका माहेन्द्र लोक है, उनसे नीचे अन्तरिक्ष में भुवः नामक तारा लोक है, उससे नीचे प्रजा अर्थात् मनुष्यों का लोक—भूर्लोक है।

जिस प्रकार पृथिवी के ऊपर छः और लोक हैं, इसी प्रकार पृथिवी से नीचे चौदह और लोक हैं, उनमें सबसे नीचा अवीचि नरक है। उसके ऊपर महाकाल नरक है जो मिट्टी, कंकड़, पाषाणादि से युक्त है। उसके ऊपर अम्बरीष नरक है जो जलपूरित है। उसके ऊपर रौरव नरक है जो अग्नि से भरा हुआ है। उसके ऊपर महारौरव नरक है जो वायु से भरा हुआ है। उसके ऊपर महासूत्र नरक है जो अंदर से खाली है। उसके ऊपर अन्धतामिस्र नरक है जो अन्धकार से व्याप्त है। इन नरकों में वही पुरुष दुःख देने वाली दीर्घ आयु को प्राप्त होते हैं जिनको अपने किये हुए पाप कर्मों का दुःख भोगना

होता है। इन नरकों के साथ महातल, रसातल, अतल, सुतल, वितल, तलातल, पाताल —ये सात पाताल हैं। आठवीं इनके ऊपर यह भूमि है जिसको वसुमति कहते हैं, जो सात द्वीपों में युक्त है, जिसके मध्य भाग में सुवर्णमय पर्वतराज सुमेरु विराजमान है। उस सुमेरु पर्वतराज की चारों दिशाओं में चार शृंग हैं। उनमें जो पूर्व दिशा में शृंग है वह रजतमय है, दक्षिण दिशा में जो शृंग है वह वैदूर्य मणिमय है, जो पश्चिम दिशा में शृंग है वह स्फटिक मणिमय और जो उत्तर दिशा में शृंग है वह सुवर्णमय है। वहां वैदूर्य मणि की प्रभा के सम्बन्ध से सुमेरु के दक्षिण भाग में स्थित आकाश का वर्ण नीलकमल के पत्र के सदृश श्याम है। पूर्व भाग में स्थित आकाश श्वेत वर्ण है। पश्चिम भाग में स्थित आकाश स्वच्छ वर्ण है। और उत्तर भाग में स्थित आकाश पीत वर्ण है। अर्थात् जैसे वर्णवाला जिस दिशा का शृंग है वैसे ही वर्णवाला उस दिशा में स्थित आकाश का भाग है। इस सुमेरु पर्वत के ऊपर उसके दक्षिण भाग में जम्बू वृक्ष है जिसके नाम से इस द्वीप का नाम जम्बू द्वीप पड़ा है।

इस सुमेरु के चारों ओर सूर्य भ्रमण करता है जिससे यह सर्वदा दिन और रात से संयुक्त रहता है। सुमेरु की उत्तर दिशा में नील, श्वेत और शृंगवान् नाम वाले तीन पर्वत विद्यमान हैं जिनका विस्तार दो दो हजार वर्ग योजन है। इन पर्वतों के बीच में जो अवकाश, नामक तीन वर्ष हैं जो नौ नौ हजार वर्ग योजन विस्तारवाले हैं नीलगिरि के उत्तर में रमणक है। पद्मपुराण में इसे रम्यक कहा है। श्वेतगिरि के उत्तर में हिरण्यमय है। और दक्षिण भाग में तीन पर्वत निषध, हेमकूट, हिमशैल दो दो हजार वर्ग योजन विस्तार वाले तीन वर्ष, हरिवर्ष, किंपुरुष और भारत विद्यमान हैं। सुमेरु की पूर्व दिशा में सुमेरु से संयुक्त माल्यवान् पर्वत है। माल्यवान् से लेकर पूर्व की ओर समुद्र-पर्यन्त भद्राश्व नामक प्रदेश हैं। सुमेरु के पश्चिम में केतुमाल और गन्धमादन देश हैं। और केतुमाल तथा भद्राश्व के बीच के वर्ष का नाम इलावृत है।

पचास हजार वर्ग योजन विस्तारवाले देश में सुमेरु विराजमान है और सुमेरु के चारों ओर पचास हजार वर्ग योजन विस्तारवाला देश है। इस प्रकार सम्पूर्ण जम्बूद्वीप का परिमाण सौ हजार वर्ग योजन है। इस परिमाण वाला जम्बूद्वीप अपने से दुगुने परिमाणवाले वलयाकार क्षार समुद्र से वेष्टित है। जम्बू द्वीप से आगे दुगुने परिमाणवाला शाकद्वीप है, जो अपने से दुगुने परिमाणवाले वलयाकार इक्षुरस के समुद्र से वेष्टित है। इससे आगे इससे दुगुने परिमाणवाला कुश द्वीप है जो अपने से दुगुने परिमाणवाले वलयाकार मदिरा के समुद्र से वेष्टित है। इससे आगे दुगुने विस्तारवाला क्रौंच द्वीप है जो अपने से दुगुने परिमाणवाले वलयाकार घृत के समुद्र से वेष्टित है। इससे आगे दुगुने परिमाणवाला शाल्मलि द्वीप है जो अपने से दुगुने परिमाणवाले वलयाकार दधि

के समुद्र से वेष्टित है। इससे आगे दुगुने परिमाणवाला मगध द्वीप है जो अपने से दुगुने परिमाणवाले वलयाकार क्षीर के समुद्र से वेष्टित है। इससे आगे दुगुने विस्तारवाला पुष्कर द्वीप है, जो अपने से दुगुने विस्तारवाले वलयाकार मिष्ट जल के समुद्र से वेष्टित है। इन सातों द्वीपों से आगे लोकाऽलोक पर्वत है। इस लोकाऽलोक पर्वत से परिवृत जो सात समुद्रसहित द्वीप हैं वे सब मिलकर पचास कोटि वर्ग योजन विस्तारवाले हैं। यह लोकाऽलोक पर्वत से परिवृत विश्वम्भरा मंडल है वह सब ब्रह्मांड के अन्तर्गत संक्षिप्त रूप से वर्तमान है और यह ब्रह्मांड प्रधान का एक सूक्ष्म अवयव है क्योंकि जैसे आकाश के एक अति अल्प देश में खद्योत विराजमान होता है वैसे ही प्रधान के अति अल्प देश में यह सारा ब्रह्मांड विराजमान है।

इन सब पाताल, समुद्र और पर्वतों में असुर, गन्धर्व, किन्नर, किंपुरुष, यक्ष, राक्षस, भूत, प्रेत, पिशाच, अपस्मारक, अप्सराएं, ब्रह्मराक्षस, कूष्मांड, विनायक नामवाले देवयोनि विशेष निवास करते हैं। सुमेरु पर्वत देवताओं की उद्यान भूमि है, वहां पर मिश्र वन, नन्दन वन, चैत्ररथ वन, सुमानस वन—चार वन हैं। सुमेरु के ऊपर सुधर्मा नामक देव सभा है, सुदर्शन नामक पुर है और वैजयन्त नामक प्रासाद है। यह सब पूर्वोक्त भूर्लोक कहा जाता है। इसके ऊपर अन्तरिक्ष लोक है, जिसमें ग्रह, नक्षत्र, तारका, भ्रमण करते हैं। यह सब ग्रह, नक्षत्र आदि ध्रुव नामक ज्योति के साथ, वायु-रूप रज्जु से बांधे हुए वायु के नियत संचार से लब्ध संचार वाले होकर, ध्रुव के चारों ओर भ्रमण करते हैं। ध्रुवसंज्ञक ज्योति मेढिकाष्ठ के सदृश निश्चल है। इसके ऊपर स्वर्गलोक है जिसको माहेन्द्र लोक कहते हैं। माहेन्द्र लोक में त्रिदश, अग्निष्वात्त, याम्य, तुषित, अपरिनिर्मित वशवर्ती, परिनिर्मित वशवर्ती—ये छः देव योनि विशेष निवास करते हैं। ये सब देवता संकल्पसिद्ध अणिमादि ऐश्वर्य सम्पन्न और कल्पायुषवाले तथा वृन्दारक काममोगी और औपपादिक देहवाले हैं, और उत्तम अनुकूल अप्सराएं इनकी स्त्रियां हैं।

इस स्वर्गलोक से आगे महान् नाम स्वर्ग विशेष है, जिसको महालोक तथा प्राजापत्यलोक कहते हैं। इसमें कुमुद, ऋभु, प्रतर्दन, अंजनाभ, प्रचिताभ—ये पांच प्रकार के देवयोनि विशेष काम करते हैं। ये सब देवविशेष महाभूतवशी और ध्यानाहार तथा सहस्र कल्प आयुवाले हैं। महर्लोक से आगे जनःलोक है जिसको प्रथम ब्रह्मलोक कहते हैं। जनःलोक में ब्रह्मपुरोहित, ब्रह्मकायिक, ब्रह्ममहाकायिक और अमर—ये चार प्रकार के देवयोनि विशेष निवास करते हैं। ये भूत तथा इन्द्रियों का स्वाधीन करणशील है। जनःलोक से आगे तपःलोक है जिसको द्वितीय ब्रह्मलोक कहते हैं। तपोलोक में आभास्वर, महाभास्वर, सत्य महाभास्वर—ये तीन प्रकार के देवयोनि विशेष निवास करते हैं, जो भूत, इन्द्रिय, प्रकृति इन तीनों को स्वाधीन करणशील हैं और पूर्व

से उत्तर उत्तर दुगुने दुगुने आयु वाले हैं। ये सभी ध्यानाहार ऊर्ध्वरेतस हैं। ये ऊर्ध्व—सत्यादि लोक में अप्रतिहत ज्ञानवाले और अधर अवीचि आदि लोक में अनावृत ज्ञानवाले अर्थात् सब लोकों को यथार्थरूप से जानने वाले हैं। तपोलोक से आगे सत्यलोक है जिसको तृतीय ब्रह्मलोक कहते हैं। इस मुख्य ब्रह्मलोक में अच्युत, शुद्ध निवास, सत्याभ, संज्ञासंज्ञी—ये चार प्रकार के देवता विशेष निवास करते हैं। ये अकृत भवन-न्यास होने से स्वप्रतिष्ठित हैं और यथाक्रम से ऊंची ऊंची स्थितिवाले हैं। ये प्रधान को स्वाधीन करणशील और पूरे सर्ग आयु वाले हैं। अच्युत नामक देव विशेष सवितर्क ध्यानजन्य सुख भोगनेवाले हैं, शुद्धनिवास सविचार ध्यान से तृप्त हैं। इस प्रकार ये सभी सम्प्रज्ञात निष्ठ हैं। ये सब मुक्त नहीं हैं, किन्तु त्रिलोकी के मध्य में ही प्रतिष्ठित हैं। इन पूर्वोक्त सातों लोकों को ही परमार्थ से ब्रह्मलोक जानना चाहिए।"

कई पुराणों में न्यूनाधिक इसी प्रकार के वर्णन मिलते हैं। ऐसे भी लोग होंगे जो इन बातों को यथालिखित सत्य मान लेंगे। यदि उनसे यह प्रश्न किया जाय कि यह सब भुवन कहां हैं तो उनका सीधा उत्तर यह होगा कि इनका दर्शन चर्म चक्षुओं से नहीं हो सकता। कोई भाग्यवान साधक ही उनको देख सकता है। परन्तु किसी समझ-दार जिज्ञासु को ऐसे उत्तर से परितोष नहीं हो सकता। और कुछ न सही पर यह भूर्लोक तो चर्मचक्षुओं से देख पड़ना ही चाहिए। इस सम्बन्ध में कुछ शंकायें उठती हैं। भूर्लोक पृथिवी का ही नाम है या उसमें पृथिवी के अतिरिक्त भी कुछ है? पृथिवी से नीचे नरकों और पातालों की स्थिति बतायी गयी है और उससे ऊपर स्वर्ग आदि की। तब यह देख पड़ने वाले ग्रह नक्षत्र आदि स्वर्ग और नरक से सम्बद्ध हैं या असम्बद्ध? यह जो करोड़ों तारे हमको देख पड़ते हैं यह पृथिवी पर तो हैं नहीं और न सोमाधिष्ठित भुवर्लोक में हैं। फिर यह कहां हैं? जम्बू द्वीप किसको कहते हैं? वह जम्बू (जामुन) का पेड़ कहां है जिसके कारण इसका नामकरण हुआ है? वह सुमेरु पर्वत कहां है जिसके दोनों पार्श्वों में पचास पचास हजार योजन तक जम्बू द्वीप का विस्तार है? यह ध्यान में रहे कि पचास हजार योजन का अर्थ हुआ दो लाख कोस। जो बात प्रत्यक्ष से विरुद्ध है वह अमान्य है। जैसा कि एक जगह श्री शंकराचार्य ने उपनिषद् भाष्य में कहा है: यदि सौ वेद मंत्र भी यह कहें कि सूर्य ठंडा और अन्धेरा है तो उनका ऐसा कहना अमान्य होगा। भूर्लोक का हमको सुगमता से प्रत्यक्ष ज्ञान हो सकता है। जब उसके सम्बन्ध में ही ऐसी अनर्गल बातें लिखी हैं तो शेष बातों को प्रामाणिक मानना सम्भव नहीं है।

ऐसी दशा में यही कहना पड़ता है कि या तो सूर्य पर संयम करने से भुवन ज्ञान नहीं होता या ऊपर जो कुछ लिखा गया है किसी अयोगी की कपोल कल्पना है। पुराण-कारों ने तथोक्त योगियों के ऐसे कथनों को अविकल अपना लिया या योग की पुस्तकों

में पुराणों की अप्रामाणिक बातें ज्यों की त्यों अवतरित कर ली गयीं, यह कहना कठिन है। इसी से मिलता जुलता एक और सूत्र है :

चन्द्रे ताराव्यूहज्ञानम् । (३,२६)

चन्द्रमा पर संयम करने से तारा व्यूह का ज्ञान होता है।

क्या ज्ञान होता है, यह बतलाया नहीं गया, इसलिए यह कहना सम्भव नहीं है कि इस सूत्र के रचयिता के सामने कौन सी बातें थीं और वह कहां तक ज्योतिष के वर्तमान ज्ञान से मेल खाती हैं। परन्तु इस जानकारी के अभाव में भी हम बिना किसी संकोच के यह कह सकते हैं कि इस सूत्र का कोई यथोचित आधार नहीं है। चन्द्रमा जिस कक्ष में २७½ दिनों में पृथिवी की परिक्रमा करता है उस कक्ष पर तारों के कुछ पुंज देख पड़ते हैं जिनको नक्षत्र कहते हैं। चन्द्रमा नक्षत्रों में से होता हुआ पृथिवी की परिक्रमा करता देख पड़ता है। परन्तु इतना तो ज्योतिष के प्रारम्भिक छात्र को भी जानना चाहिए कि यह तारक पुंज चन्द्रमा से अरबों कोस दूर है। जिस मार्ग से चन्द्रमा चलता है उसके पीछे की ओर होने से ऐसा प्रतीत होता है कि चन्द्रमा इनमें से होकर जाता है। और फिर उन तारों की संख्या जो राशियों और नक्षत्रों के अंग हैं बहुत थोड़ी है। इस विश्व में जितन तारे हैं उनमें से अधिकांश का चन्द्रमा के मार्ग से कोई दूर का भी सम्बन्ध नहीं है। विश्व में करोड़ों नीहारिकाएं हैं। एक एक नीहारिका में करोड़ों तारे हैं। जिस नीहारिका में हमारा सूर्य है उसको आकाश गंगा कहते हैं। सूर्य की गणना छोटे तारों में है। फिर भी उसके साथ कई ग्रह हैं। इन ग्रहों में एक छोटा सा ग्रह पृथिवी है। परिचर की भांति चन्द्रमा पृथिवी की परिक्रमा करता है। इस बेचारे छोटे से पिण्ड की इतनी मर्यादा नहीं है कि इस तारक संकुल विश्व के विशाल पिण्डों की गतिविधि को प्रभावित कर सके। जब इस सूत्र की रचना हुई थी तब लोगों को इस बात का ज्ञान नहीं था कि इस, विश्व में करोड़ों सूर्य हैं जिनमें हमारा सूर्य बहुत छोटा है। उस समय यह धारणा थी कि इस ब्रह्मांड के ठीक मध्य में पृथिवी निराधार टिकी हुई है। शेष पिण्ड प्रवह वायु के सहारे चलते रहते हैं! उस समय के ज्योतिषी को भी इस बात का परिचय नहीं था कि कई दूसरे ग्रह पिण्डो का विस्तार पृथिवी के समान परन्तु उससे भी बड़ा है। ऐसे अपूर्ण अज्ञान के पर्यावरण में जो कल्पना की जायगी वह स्वभावतः ज्ञान की भूमिका में हास्यास्पद प्रतीत होगी।

एक और सूत्र है जिसने अपने को विवाद का केन्द्र बना लिया है। इस सूत्र में कहा गया है :

निर्माणचित्तान्यस्मितामात्रात् । (४,४)

यहां इस प्रश्न पर विचार किया गया है कि योगी अपनी सिद्धिशक्ति के द्वारा जिन बहुत से शरीरों को बनाता है उनमें जो चित्त होते हैं वह स्वतंत्र रूप से काम करते हैं या किसी एक चित्त के अधीन रहते हैं। योगी के बनाये हुए शरीर को निर्माणकाय और निर्माणकाय में व्यापार करनेवाले चित्त को निर्माण चित्त की संज्ञा दी गयी है। यह सब चित्त किस प्रकार काम करते हैं इसमें मुझे विशेष अभिरुचि नहीं है। प्रश्न यह है कि निर्माणकाय होते या हो सकते भी हैं या नहीं। मैं ऐसा मानने को तैयार हूं कि कोई योगीश्वर यदि चाहे तो मनुष्य जैसा शरीर बनाकर खड़ा कर सकता है। महाभूतों के परमाणु जो विश्व में सर्वत्र विखरे पड़े हैं उनमें से कुछ को अपनी इच्छा मात्र से संहत कर देना असम्भव बात नहीं है। पर यहां उस प्रकार की रचना का चर्चा नहीं है। ऐसा माना जाता है कि अपने पुराने संस्कारों के फलों को भोग लेने की इच्छा से योगी बहुत से शरीरों का निर्माण करता है, जिनके द्वारा युगपत् सुख, दुःख, आदि भोग लेता है। वस्तुतः यह असम्भव है। कहावत है कि एक हाथ से ताली नहीं बजती। भोग भी प्रायः एक शरीर से नहीं हुआ करता। दाता के लिए आदाता, पति के लिए पत्नी, पिता के लिए पुत्र होना चाहिए। कम से कम दो व्यक्ति हों तब मैत्री या शत्रुता का भी होना सम्भव है। और फिर सब संस्कार एक ही साथ परिपक्व नहीं होते। उनमें से जितने फल देने की स्थिति में होते हैं वह व्यक्ति के साथ प्रारब्ध के रूप में जन्म लेते हैं। प्रारब्ध वशात् एक ही शरीर में सैकड़ों व्यक्तियों से सम्पर्क स्थापित करना पड़ता है। तब फिर यदि कई जन्मों के संस्कारों को एक साथ भोगना है तो फिर सहस्रों शरीर तो उस योगी के चाहिए और उसके साथ व्यवहार करने के लिए सहस्रों दूसरे शरीर चाहिये। इतने सहस्रों मनुष्यों के पुराने जन्मों के लाखों संस्कार परिपक्व होने चाहिए। यह कल्पना कष्टप्रद है। व्यवहार में ऐसा नहीं हो सकता।

मुझको ऐसा प्रतीत होता है कि इस सूत्र का तथा इससे सम्बन्धित जो एक दो और सूत्र हैं उनकी भी रचना घोर शंका से ग्रस्त किसी व्यक्ति ने की है। उसके मन में यह प्रश्न उठा होगा कि योगी तो कैवल्य प्राप्त करके बंधनों से छुट्टी पा जायगा परन्तु उसने जो संचित कर्मों का बहुत बड़ा भंडार एकत्र कर रखा है उस का क्या होगा ? यदि उनका भोग नहीं होता तो कृतहानि दोष लगता है। और फिर श्रुति कहती है :

यावन्न क्षीयेत कर्म, शुभं वाशुभमेव वा ।
तावन्न जायते मोक्षो, नृणां कल्पशतैरपि ॥

जब तक शुभ और अशुभ कर्मों का क्षय नहीं होता तब तक मनुष्यों को सैकड़ों कल्पों में भी मोक्ष नहीं होता। जगत् सत्य मानने वाले उस जिज्ञासु को विवश होकर निर्माणकायों की कल्पना करनी पड़ी। वस्तुतः इस शंका का समाधान वेदान्त के आचार्य

कर सकते हैं। उनका विश्वास है कि यह लोक अपने प्रतीयमान रूप से मिथ्या है। इसमें जो नानात्व देख पड़ता है वह अध्यास मात्र है। जो कर्म करता है और जिसके साथ कर्म किया जाता है दोनों ही भ्रान्ति के शिकार हैं।

य एनं वेत्ति हन्तारं, यश्चैनं मन्यते हतम्।
उभौ तौ न विजानीतो, नाऽयं हन्ति न हन्यते॥

जो अपने को मारनेवाला समझता है और जो समझता है कि मैं मारा गया, वह दोनों नासमझ हैं न यह आत्मा मारता है न मारा जाता है। ज्ञानी पुरुष के लिए न कर्म का बन्धन है न संस्कार का। न उसके लिए अतीत का कोई अर्थ है न अनागत का। जब तक कोई मनुष्य अज्ञान के वश में है तब तक कर्मों के संस्कार उसको बांध सकते हैं। ज्ञान की आग कर्मों और संस्कारों को भस्म कर देती है। अतीत के फलों को भोगने का प्रश्न उपस्थित होता ही नहीं। ऐसी अवस्था में निर्माणकाय की कष्टकल्पना करना व्यर्थ है।

यह जो दो तीन उदाहरण दिये गये हैं वह इस बात को स्पष्ट सिद्ध करते हैं कि योगदर्शन के इस भाग में बहुत कुछ सामग्री प्रक्षिप्त कर दी गयी है। जो प्रक्षिप्त नहीं भी है उसके सम्बन्ध में भी यही कहना है कि सिद्धियों के पीछे दौड़ना, समय और शक्ति को नष्ट करना है। यह मनुष्य शरीर बड़े भाग्य से मिलता है। इसका यही फल है, मनुष्य का यही परम पुरुषार्थ है, कि इसका उपयोग उस परा विद्या के उपार्जन में, परम ज्ञान के प्राप्त करने में किया जाय जिसे इसके पहले प्रातिभ के नाम से इंगित किया गया है। इसके सम्बन्ध में कहा गया है :

तारकं सर्वविषयं सर्वथाविषयम् अक्रमम् । ३-५४

यह ज्ञान तारक है अर्थात् किसी के उपदेश या आदेश की अपेक्षा नहीं करता। अपनी बुद्धि में आपसे आप उत्थित होता है। इसको प्राप्त करने के लिए किसी आयास की आवश्यकता नहीं होती। यह सर्वविषय है, ऐसा स्थूल और सूक्ष्म कोई विषय नहीं है जो इसकी परिधि के बाहर हो। इसके साथ ही यह सर्वथा विषय है, अर्थात् काल के बंधन से मुक्त है। अतीत, वर्तमान और अनागत में जो कुछ भी है वह सब इसके प्रकाश में आ जाता है। और अक्रम है। साधारणतया किसी भी विषय के ज्ञान को प्राप्त करने में किसी न किसी क्रम का अनुसरण करना होता है। अनुसंधान और उपलब्धि के बीच में अन्तर होता है। समाधि से उत्पन्न होनेवाली काम्य सिद्धियों के लिए भी धारणा, ध्यान और समाधि के क्रम का पालन करना होता है। परन्तु यह ज्ञान अक्रम है, तत्काल प्राप्त होता है।

योगीश्वरों की कृपा से यह प्रज्ञा सबको प्राप्त हो।

अध्याय २१

योग और हम

पुस्तक समाप्त हुई, हमारे कल्पनासृष्ट साधक की आध्यात्मिक यात्रा भी समाप्त हुई। हमने पहले उसको मुमुक्षु अवस्था में विह्वल जिज्ञासु के रूप में अविद्या जाल से बाहर निकलने का मार्ग ढूंढ़ते देखा था। सौभाग्य से उससे सद्गुरु से भेंट हुई, विह्वलता दूर हुई, डूबते को सुदृढ़ नाव मिली, सत्संग में बैठने लगा, धीरे धीरे चित्त के कषाय धुलने लगे। मनुष्य था, भूलें हुईं परन्तु संभलता गया, गुरु उसे हाथ पकड़कर सहारा देते गये। हमारे सामने वह लोक में सुख, समृद्धि और धर्म प्रतिष्ठा के लिए यत्न करता और अन्याय और अधर्म से संघर्ष करता कर्मयोगी के रूप में आया और फिर प्रोषितपतिका विरहिणी के रूप में भक्तिरस में डूबा देख पड़ा। विरह वेदना के साथ ही यह विश्वास भी था कि मिलन की वेला भी दूर नहीं है।

अभिसार पर निकला और प्राणायाम का कंटकाकीर्ण पथ पार किया, फिर धारणा की प्रान्तभूमि देख पड़ी पर उसमें प्रवेश करने के कई मार्ग थे। किसको अपनाया जाय। देर तक उलझन में नहीं पड़ना पड़ा। गुरु ने उसकी सुरति को शब्द की डोर पकड़ा दी। क्या डोर थी। कबीर के शब्दों में "मकर तार गहि शब्द निरन्तर सुरत बांध जैसे चढ़त नटा"। मकड़ी के तार के समान झीनी डोर को पकड़ कर नट की भांति लंबे बांस के ऊपर चढ़ता था। डोर पतली थी परन्तु बहुत ही पुष्ट फिर भी थोड़ी सी अनवधानता हुई और टूटी। गुरु के वरद हाथ की शीतल छाया में बड़ी आल्हादकारी यात्रा हुई। बड़े ही आश्चर्यजनक अनुभव हुए। किस इन्द्रिय का कौन सा विषय था, इसका तो भेद जैसे मिट सा गया। इस विश्व में इतना सौन्दर्य है, इसका पहले कभी अनुमान भी नहीं किया जा सकता था। कैसे कैसे लोक, कैसे कैसे उनके निवासी। अस्तु, इस सौन्दर्यानुभूति में पतन के कई स्थल थे सबसे बड़ा भयस्थान यही था कि चित्त उसमें इतना मुग्ध हो जाय कि आगे बढ़ना ही न चाहे। गुरु कृपा से यह मंजिल भी पूरी हुई और वह स्थान पहुंचा जिसे असम्प्रज्ञात समाधि कहते हैं।

पाठकों ने देखा होगा कि इस जगह पर पहुंच कर मेरी लेखनी जैसे रुक गयी। वर्णन की जगह शास्त्रार्थ और विवाद को मिल गयी। निरोध हो सकता है या नहीं यदि

हो सकता है तो उसके बाद ही मृत्यु क्यों नहीं हो जाती ? यदि नहीं होती, तो असम्प्रज्ञात समाधि में चित्त की क्या अवस्था होती है और साधक को क्या अनुभव होता है ? यह सब प्रश्न छिड़ गये और उनके संबंध में ऐसे स्पष्ट और अश्लिष्ट उत्तर नहीं दिये गये जो अपनी समझ में अन्तिम निर्णायक हों।

मैं समझता हूं कि यह विषय ऐसा है कि इसके सम्बन्ध में थोड़ा सा विचार विमर्श हो जाना अच्छा ही हुआ। यों साधक किसी प्रकार के भ्रम या शंका जाल में नहीं पड़ा। उसको जो अनुभव हुआ वह वैसा ही तो नहीं था जैसा कि योगदर्शन को पढ़कर प्रतीक्षित हो सकता था परन्तु जैसा कुछ भी था उसका वर्णन कैसे किया जाय। तर्क भी उसका समर्थन करता था परन्तु उसका स्वरूप नहीं बतला सकता था। बुद्धि में उसको ग्रहण करने की क्षमता नहीं थी।

एक बात तो स्पष्ट, असन्दिग्ध है। चित्त निरुद्ध नहीं हुआ था। एकाग्रता की जो सम्भव पराकाष्ठा हो सकती थी वहां विश्राम कर रहा था। प्रत्येक क्षण का प्रत्यय अपने पूर्ववर्ती और परवर्ती प्रत्यय के तुल्य था, आत्मा की अपनी सत्ता की अनुभूति का जो प्रवाह है वह काल प्रवाह है, उसका अणुतम अंशक्षण है। इस प्रवाह का रूप है अस्मि-अस्मि, मैं हूं—मैं हूं। इस जगह पहुंचकर आत्मा की प्राज्ञ संज्ञा होती है, वह परमात्मा से अभिन्न तो है और सदा था ही, अपने अभेद की प्रतीति भी होती है। परमात्मा माया-शबल ब्रह्म, माया के झीने पर्दे की आड़ में ब्रह्म है। योगदर्शन के शब्दों में अस्मिता के मूल में अविद्या रहती है। तभी तो शुद्ध ब्रह्म के समान चिन्मात्र न होकर परमात्मा चेतन होता है। अपने आप को जानता है। परन्तु "जानना" क्रिया का सामान्यतः भाषा में जैसा व्यवहार होता है वह यहां लागू नहीं होता तब होता है जब ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय, की त्रिपुटी हो। जहां ज्ञाता और ज्ञेय पथ एक हो जायं वहां क्या कहें ? याज्ञवल्क्य के शब्दों से विज्ञातारमरे केन विजानीयात्—जाननेवाले को किस साधन से जाने ? साधक की आत्मा को अपनी सत्ता का जो भान होता है उसके लिए जानना कहना उचित नहीं प्रतीत होता और जानने के सिवाय कोई दूसरा क्रियापद है नहीं। विलक्षण ज्ञानमय अनुभव था।

यह तो अनुभव हुआ। तर्क भी इसका समर्थन करता है यदि "असद्वा इदमग्र आसीत्" —इस जगत् में आदि असत् रहा होता तो अन्त में भी असत् ही अवशिष्ट रहता। अविद्या के कारण और जो कुछ प्रतीत हो रहा था वह सब नष्ट हो जाता। चेतोव्यापार के लिए कोई सामग्री न रहने से चित्त निरुद्ध होता ही और फिर तथोक्त आत्मा की मिथ्या प्रतीति भी नष्ट हो जाती, निर्वाण हो जाता, सत्ता का दीपक बुझ जाता। परन्तु वस्तुतः "सद्वा इदमग्र आसीत्"—जगत् के आदि में सत् था, जिसको ब्रह्म कहते हैं। अतः अविद्या के कारण जो कुछ प्रतीत होता है उस सब के नष्ट होने पर भी सत् ही अवशिष्ट रह जायगा।

ब्रह्म था ब्रह्म रहेगा, माया के पर्दे से भी ब्रह्म झांकता होगा एकाग्र होकर चित्त निरुद्ध नहीं होगा, शून्यवत् नहीं होगा। यह विश्वचित्त हिरण्यगर्भ से तदात्म होकर अक्रम, सर्व-विषय, सर्वथा विषय, हो जायगा। दीपनिर्वाण की भांति अस्म सत्ता का निर्वाण नहीं होना है, आत्मज्योति को निवात स्थल की दीपशिखा की भांति निश्चल होकर अपने प्रकाश से अपने को आलोकित करना है इसलिए समाधि की यह सर्वोच्च भूमिका ज्ञानमय होनी चाहिए। तर्क ऐसा कहता है और ऐसा ही हुआ भी साधक ने निर्वाण या कैवल्य नहीं, मोक्ष—अज्ञान के पाश से छुटकारा—पाया। जिस ज्ञान और शक्ति का उसमें उदय हुआ वह, ऊपर से उपार्जित नहीं किया गया, उसमें आप ही विद्यमान था, मैल धुल जाने से स्वर्णिम विग्रह निखर आया।

यह समझ लेना चाहिए कि योग उपासना की कोई शैली विशेष नहीं है। न वह किसी विशेष उपास्य को जानता है, न किसी विशेष भाषा या प्रार्थना या मंत्र से उसका संबंध है, न ईश्वर की सत्ता को स्वीकार करना उसका अंग है, न कोई धर्मग्रन्थ उसके लिए प्रस्थान का पद रखता है। परन्तु वह उन सभी उपासना पद्धतियों के मूल में है जो संस्कृत समुदायों में प्रचलित हैं। उन सबको उससे बल मिलता है और यदि उनमें सत्य की कुछ झलक देख पड़ती है तो प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप किसी योगी के द्वारा ही नीचे लायी गयी होगी।

योगी सत्य का साक्षी है। वह सत्य को तर्क के द्वारा नहीं, प्रत्युत प्रत्यक्ष जानता है। सत्य में प्रवेश करता है और सत्य को अपनी आत्मा का तदात्म बनाता है। सभी मुख्य धर्मों के प्रमाण ग्रन्थ वेद, कुरान, बाइबिल, ईश्वर प्रेरित होने का दावा करते हैं परन्तु सब एक ही बात नहीं कहते, फिर यह कैसे निर्णय हो कि इनमें से कौन सचमुच ईश्वर प्रेरित है? सम्भव है सब का दावा झूठा हो, तर्क यहां निर्णय नहीं कर सकता। जितने भी तर्क दिये जाते हैं सब थोथे हैं। वेद में और बातों के साथ साथ मंत्र दिये हुए हैं। यदि सब का अधिकांश मंत्र विनियोग की कसौटी पर सच्चे उतरते—मंत्र के फलस्वरूप वृष्टि होती, धन मिलता, पुत्र लाभ होता इत्यादि इत्यादि तो उन पर विश्वास जमता पर ऐसा भी नहीं देख पड़ता। ऐसी अवस्था में योगी ही एकमात्र प्रमाण है। यदि वह किसी बात की साक्ष्य देता है तो वह बात मान्य है। ईश्वर, देवगण पितृ इत्यादि सब योगी के साक्ष्य की अपेक्षा रखते हैं।

इस समय व्यापक अश्रद्धा का युग है। आश्चर्य और दुःख का विषय यह है कि भारत जैसे धर्मप्राण देश में भी यही अवस्था है। जीवन पहला जैसा सरल नहीं रहा। विज्ञान ने और बदले हुए आर्थिक पर्यावरण ने नयी नयी समस्यायें खड़ी कर दी हैं। समाज के जीवन का ऐसा कोई भाग नहीं बचा है, जिसमें कई प्रश्नचिह्न न खड़े हों। वैयक्तिक और सामूहिक जीवन का आधार हिल उठा है, यह नहीं कहा जा सकता है कि

कुछ भी स्थायी और दृढ़ है या नहीं। मनुष्य की मान्यताओं में कुछ भी विश्वसनीय निश्चित है या नहीं या सब कुछ परिवर्तनशील है? जन्म के पहले अपना अस्तित्व था या नहीं? मृत्यु के बाद अस्तित्व रहेगा या नहीं? यदि हां, तो कहां और कैसा? किसी प्रकार की उपासना केवल अपने चित्त को धोखा देना है या और कुछ? कोई ऐसी सत्ता है जो नित्य और उपास्य हो? व्यवहार का आधार क्या होना चाहिए? यह और ऐसे अनेक दूसरे प्रश्न उठते हैं और उनके उत्तर नहीं मिलते, प्रचलित सम्प्रदायों के आचार्य पुस्तकों के वाक्य दुहरा सकते हैं। वह जो कुछ भी कहते हैं उसमें निश्चय का स्वर नहीं होता। उनकी बोली में वह दृढ़ता नहीं होती जो यह विश्वास दिलाये कि उपदेश देने वाले को स्वयं अपनी बातों पर विश्वास है, ऐसा स्पष्ट लगता है कि प्रवक्ता साक्षात्कृतधर्मा नहीं, अटकल के बल पर बोल रहा है। ऐसी बात पर भला क्या विश्वास आ सकता है।

अश्रद्धा अच्छी वस्तु नहीं है। चित्त को विश्वासयोग्य तथ्यों से रिक्त करना सरल हो सकता है परन्तु बहुत दिनों तक चित्त शून्य बना कर नहीं रखा जा सकता। आपत्तियां आती हैं, संकटों का सामना करना होता है। उस समय वह मनुष्य, जिसके जीवन के आधार पर दृढ़ स्थायी सिद्धान्त नहीं है, बेपतवार की नाव की भांति इतस्ततः फेंका फिरता है। उसकी अवस्था उस पतंग जैसी हो जाती है जिसकी डोर नीचे से कट गयी है। जो सुख, जो धन, सम्पत्ति, अधिकार, वैभव, रुचिकर लगते थे वह नीरस प्रतीत होने लगते हैं। स्थायी लक्ष्य के बिना हृदय में कुछ सूना सूना सा लगता है। विषयों के भोग से यह सूनापन दूर नहीं होता।

यह वह स्थल है जहां योगी की आवश्यकता है। उसने धर्म के मूल स्रोतों का साक्षात् किया है। उसने जगत् की क्षणभंगुर वस्तुओं के पीछे अपेक्षा दृष्ट्या अधिक स्थायी और इनके भी पीछे अविनश्वरकल्प तत्त्वों को प्रत्यक्ष देखा है। वह पूर्ण योगीश्वर न हो, फिर भी उसको सत्य के सागर में डुबकी लगाने का अवसर मिला है। उसकी कही बात साधु हृदय से निकलती है और अनुभव पर प्रतिष्ठित है, इसलिए उसमें से सत्य की टंकार निकलती है। उसको सुनकर विश्वास स्वतः उत्पन्न होता है। हृदय हृदय से बोलता है। यह असम्भव नहीं है कि लोक एक बार बात अनसुनी कर जाय, हंस कर टाल दे, कटु सत्य सुनाने वाले को कष्ट भी दे परन्तु अन्त में उसे सुनता ही होगा। रही कष्ट की बात मनस्वी पुरुष, कर्तव्य का वरण करते हैं, दुख सुख को नहीं देखते। योगी किसी विशेष आम्नाय, किसी सम्प्रदाय, किसी पक्ष मत की ओर से प्रचार नहीं करता है। वह बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय, सत्य का सन्देश सुनाता है। उसका चरित्र उसका सबसे बड़ा बल है।

यदि योगी मुंह नहीं खोलता, अन्याय और अधर्म को पनपने देता है, समाज को

अश्रद्धा और अविश्वास के कीचड़ में फंसने देता है, तो वह अपने धर्म से च्युत होता है, श्रीकृष्ण ने केवल अपने लिए ही नहीं वरन् सभी योगियों की ओर से कहा था :

उत्सीदेयुरिमे लोका, न कुर्य्यां कर्म्म चेदहम् ।

यदि मैं कर्म नहीं करता तो यह लोक नष्ट हो जायंगे। अब तो वह समय आया है कि मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा से सक्रिय ढंग से काम लिया जाय। इस समय का पर्यावरण योग के अनुकूल नहीं है।

कोई भी योगाभ्यासी हो, वह वाग्देवता की उपासना करता है, उसको अपने श्रम के अनुसार वाक् सिद्धि होती है। उस सिद्धि से काम लेने का दिन कब आयेगा ? समाज का यह ऋण योगी को चुकाना ही चाहिए। कोई सुने या न सुने, लोकहित की बात सुनानी ही चाहिए।

आज जन साधारण का मस्तिष्क शंकर के यानालय जैसा हो रहा है। महादेव के वाहन वृषभ का शत्रु पार्वती का वाहन सिंह है, गणेश के वाहन मूषक का शत्रु सर्प है जो शंकर के शरीर पर लिपटा हुआ है परन्तु उसका शत्रु कार्तिकेय का वाहन मयूर है। इस दृश्य के सम्बन्ध में हिन्दी के प्रसिद्ध कवि दास ने कहा था :

रार सो मचो है त्रिपुरारि के तबेले में ।

पर वहां रार नहीं रार सी है।

कोई विप्लव नहीं होने पाता—सब कुछ नियंत्रण में है। यहां कोई नियंत्रण नहीं है। बहुराज है, इसलिए अराजकता है। सामाजिक स्व, आर्थिक स्व, राजनीतिक स्व सब अलग अलग दिशाओं में खींचते हैं, यदि बचपन क कुछ पूजा पाठ के संस्कार दबे पड़े हैं, दर्शन का अध्ययन किया गया था, तो दो और स्व बुद्धिविभ्रम बढ़ाने को सन्नद्ध खड़े हैं। विभिन्न हितों का संघर्ष निरन्तर चलता रहता है। प्रत्येक अवसर पर सोचना पड़ता है कि क्या किया जाय, कुछ स्थिर करना बहुत कठिन होता है। यदि एक संयत स्व हो, एक सुनिश्चित कर्तव्य शैली एक सुस्थिर धर्म अपनाया जाय। यह संयत स्व भी योग से ही मिल सकता है। पुस्तकों में स्व नहीं मिलता। कोई पुस्तक हो, "स्व" आत्मा के सम्बन्ध में कुछ ज्ञान करा सकती होगी, स्व या आत्मा का ज्ञान नहीं करा सकती। पदार्थ का ज्ञान एक बात है, पदार्थ के सम्बन्व में ज्ञान दूसरी बात। योग इन्द्रियों को विषयों से पराङ्मुख करता है, वासनाओं को दबाता है, विवेकख्याति प्रदान करता है अर्थात् इस बात को सोचने की क्षमता देता है कि जो वस्तुएं खींच रही हैं उनके पीछे दौड़ना कहां तक उचित है। बाहरी आकर्षण से छुटकारा दिला कर अपने में स्थित होने का,

अपने को पहिचानने का, अपने बिखरे हुए व्यक्तित्व को बटोरने का, अवसर देता है। एक दिन में पूर्णता नहीं आती परन्तु जो एक कदम भी उधर बढ़ता है वह जगत् में उलझन कम करता है। सब योगी नहीं बन जाते परन्तु योगी इस प्रकार का केन्द्र बन जाता है जिसके चारों ओर शान्ति का पर्यावरण एकत्र होता है, घनीभूत होता है। वहां के प्रवचन से, लिखावट से, तनाव और खिचाव कम होता है, दूर होता है, आपस का सन्देह मिटता है, एक को दूसरे में अपनी ही मूर्ति देख पड़ती है, इस प्रकार अपने को पहिचानने और अपने विच्छिन्न व्यक्तित्व को पुनः पूर्ण बनाने का अवसर मिलता है।

मैंने ऊपर कहा है कि योग सभी उपासना पद्धतियों का आधार है। भारत के लिए तो यह बात पूर्णतया ठीक बैठती है। योग से दूर जाकर हम अपने धर्म और अपनी संस्कृति से दूर जा पड़े। उसको भूल गये। आज भी हम वेद का नाम लेते हैं, उसको अपना अन्तिम प्रमाण मानते हैं। परन्तु वेद का अर्थ कौन समझता है? निरुक्तकार ने ठीक कहा है कि अनृषि वेद को नहीं समझ सकता—यदि वेद समझ सकता है तो वही जो स्वयं ऋषि हो। परन्तु कौन ऋषि बनने का, योगी बनने का प्रयत्न करता है? बिना समझे हम कब तक वेद को प्रमाण ग्रन्थ मानते जायंगे? कब तक नयी पीढ़ी उसका नाम लेगी। उपनिषद् तो बहुत कुछ समझ में आते हैं परन्तु वेद का बड़ा भाग तो वह है जिसको मंत्र भाग या संहिता कहते हैं। उसका क्या होगा? देखने में तो मंत्रों में कहीं उषा, (प्रातःकालीन प्रकाश), कहीं सूर्य, कहीं बिजली, कहीं बादल, कहीं रोग, कहीं मृत्यु का, चर्चा है इन विषयों पर और भी सुन्दर कविता की जा सकती है। कहीं कहीं कुछ दार्शनिक विचार प्रकट किये गये हैं। पर इन बातों में ऐसी क्या गम्भीरता है जो बुद्धि इनका भार ढोयें और इनको अपना सर्वोच्च धर्मग्रन्थ मान कर पूजती जाय?

ऋग्वेद के चतुर्थ मंडल के ५८वें सूक्त का तीसरा मंत्र कहता है:

> चत्वारि शृंगा त्रयो अस्य पादा, द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य।
> त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति, महो देवो मर्त्यां आविवेश॥

इसके चार सींग, तीन पैर, दो सिर और सात हाथ हैं तीन ओर से बंधा हुआ वृषभ गरज रहा है। तेजस्वी देव मर्त्यों में प्रवेश कर गया।

यह किस विचित्र जीव का वर्णन है? कहां पाया जाता है? भले ही २, ३, ४, ७ अंकों का कुछ अर्थ लगाकर मंत्र को व्याकरण या यज्ञपरक कह दिया जाय पर इससे सन्तोष नहीं हो सकता। व्याकरण में, प्राकृतिक दृग्विषयों में, ऐतिहासिक घटनाओं में

ऐसी क्या बात है कि उनके चर्चा को पूज्य माना जाय ? यदि इतना ही कहना है कि चार वेद हैं, यज्ञ में सात छन्दों वाले मंत्र काम में आते हैं, यज्ञ का घोष दिगन्त में गूंज रहा है तो इस कोरे वर्णन में ऐसा क्या रहस्य है ? इस प्रकार के मंत्रों से हमारे ज्ञान में क्या वृद्धि होती है ?

यहीं योग का प्रश्न आता हैं। यदि वेद निरर्थक या अनुपयोगी पद्यों या गद्य में गुम्फित वाक्यों का संग्रह नहीं है तो उसमें विश्व का गूढ़ रहस्य भरा है। वैदिक अग्नि, वायु, रुद्र, इन्द्र, पौराणिक देवों की भांति दुर्बल चरित्र के तथा काम, क्रोध, ईर्ष्या आदि कुप्रवृत्तियों से प्रेरित मनुष्य नहीं हैं। परन्तु इनके व्यक्तित्व को पहचानना सुकर नहीं है, बिना योग की कुंजी के यह रहस्य खुल नहीं सकता और यदि इस कुंजी से जल्दी काम नहीं लिया जाता तो समाज इस सारे वाङमय को दूर फेंक देगा। अर्थहीन कविता पढ़ने का आज के मनुष्य को अवकाश नहीं है। यदि यह वाङमय विस्मृति के गर्त में डाल दिया गया तब भी अध्यात्म विद्या का अवसान नहीं होगा, वह अमर ज्योति निर्विण्ण नहीं होगी परन्तु हमारा यह व्यवहार उस नासमझ के व्यवहार जैसा होगा जो अपनी पैतृक सम्पत्ति को फेंक कर फिर से कणकण को जोड़कर नया धनागार बनाना चाहता है। नया धनागार तो एक दिन फिर बन जायगा परन्तु प्राचीन संग्रह को नष्ट होने देना तो अक्षम्य अपराध होगा।

वर्तमान काल में भी मनुष्य को योग की उतनी ही आवश्यकता है जितनी कि कभी पहले थी। सच तो यह है कि आवश्यकता बढ़ गयी है। अपनी भौतिक समस्याओं, सफलताओं से मानव उन्मत्त हो उठा है, वह धन, अधिकार, प्रभाव, को जीवन का सर्वस्व समझने लगा है, कभी ऐसा माना जाता था :

सा विद्या या विमुक्तये—विद्या वह है जो मोक्ष का साधन है। आज विद्या वह है जो भौतिक स्तर पर ऊपर उठने, मुक्ति के स्थान पर अधिक जटिल बन्धनों में फंसने में सहायता दे। मुझको ऐसा लगता है कि केवल योग और योगी से ही त्राण मिल सकता है।

यह सनातन विद्या है, श्रीकृष्ण के शब्दों में, राजगुह्य, राज विद्या है। यह राज-मार्ग सदा खुला है। परन्तु इस पर चलने वाले को संसारी असबाब, ममता और मोह, को यहीं छोड़ कर चलना है। उसे एक बार अपने गुरु से और गुरु रूपी परमात्मा से यह प्रार्थना करके :

अभयं नः करत्यन्तरिक्षम्, अभयं द्यावापृथिवी उभे इमे।
अभयं पश्चादभयं पुरस्ताद्, उत्तरादधराद् अभयं नोऽस्तु ॥

पांव बढ़ाना है। कड़ी परीक्षाएं देनी होंगी परन्तु यदि उसमें लगन है तो आशंका के लिए कोई स्थान नहीं है। यह भूर्लोक, देवपरिवार, सिद्ध समाज, सभी उसके हितैषी हैं, सभी कहेंगे :

शिवास्ते सन्तु पन्थानः ।

क्योंकि सबको यह आशा है कि अपने परमकल्याण के शिखर पर पहुंचकर वह धर्ममेघ समाधि की अमृतमयी बूंदों से सबका आप्यायन करेगा।

परिशिष्ट (१)

जैन धर्म और योग

सम्भवतः कई पाठकों को इस बात पर आश्चर्य हुआ होगा कि पुस्तक में योग के प्रसंग में जैन धर्म का कहीं नाम नहीं आया है। बात यह है कि मैंने जो कुछ थोड़ा बहुत जैन आध्यात्मिक वाङ्मय का अध्ययन किया है और जैन विद्वानों से बातचीत की है उसके परिणामस्वरूप ऐसा प्रतीत होता है कि इस सम्प्रदाय के प्रामाणिक ग्रन्थों में वस्तुतः योग का बहुत कम चर्चा है। जो स्थान अन्य धर्मों में योग को दिया गया है इसमें तपश्चर्या को मिला है। इसमें सन्देह नहीं कि जहां तक तप का सम्बन्ध है, साधु ही नहीं वरन् जैन गृहस्थ भी तप को बहुत महत्त्व देते हैं। अन्न खाना छोड़कर शरीरान्त करना बड़ा पुण्य कार्य समझा जाता है और इस प्रकार की मृत्यु को समाधि मरण कहते हैं। कभी कभी वृद्ध पुरुष और स्त्री साठ साठ, सत्तर सत्तर दिन इस प्रकार निराहार रहकर मृत्यु का वरण करते हैं।

पुस्तक समाप्त होने के बाद अपने मित्र श्री खुशालचंद गोरावाला की कृपा से मुझको श्री शुभचन्द्राचार्य विरचित ज्ञानार्णव ग्रन्थ देखने को मिला। इसमें योग सम्बन्धी कई अध्याय हैं। अध्यायों की प्रकरण संज्ञा है। इसमें जिन पारिभाषिक शब्दों से काम लिया गया है उनमें कई वहीं हैं जिनसे हम पातंजल योगदर्शन में परिचित हैं। पुस्तक अच्छी है और इस दृष्टि से उपादेय है कि इसमें जैन दृष्टिकोण से योग के विषय में चर्चा किया गया है। परन्तु इसको देखने के बाद भी मेरी अब तक की धारणा को परिवर्तन करने का कारण नहीं देख पड़ता। बहुत सम्भव है कुछ जैन मतावलम्बी योग का अभ्यास करते हों परन्तु मुख्यतया वह लोग जो आचार्य दृष्टि से प्रतिष्ठित हैं और जिनके उपदेशों का अनुसरण जैन जनता करती है उनकी दृष्टि में तपस्या और शास्त्रों के स्वाध्याय को प्रमुखता प्राप्त है। योग का स्थान गौण है।

परिशिष्ट (२)

सूफ़ीवाद

पुस्तक में कुछ स्थलों पर सूफियों की वाणियां उद्धृत की गयी हैं परन्तु कुछ मित्रों की यह सम्मति है कि सूफ़ीमत के सम्बन्ध में कुछ स्वतंत्र विवरण देना पाठकों के लिए रोचक और उपयोगी होगा। जनबुद्धि में ऐसी धारणा है कि सूफ़ीमत अद्वैत वेदान्त से मिलता जुलता है और इसकी साधनाशैली योग का ही रूपान्तर है। देश में ऐसे लोगों की पर्याप्त संख्या है—और इनमें केवल मुसलमान नहीं प्रत्युत हिन्दू भी हैं—जो सूफ़ी कहे जाते हैं। उनके विश्वासों और आध्यात्मिक क्रियाओं के सम्बन्ध में जानकारी होना श्रेयस्कर ही है। इसीलिए यह छोटी सी टिप्पणी दी जा रही है।

इस देश पर लगभग आठ सौ सालों तक पठानों और मुग़लों का शासन रहा। वह लोग फ़ारसी भाषी थे। अतः हमारा सीधा सम्पर्क ईरानी सूफ़ियों से ही हुआ। परन्तु सूफ़ी मत का उद्गम वही भूखंड है जहां इस्लाम का उदय हुआ था। अरब और उसके पास के अरबी भाषी प्रदेश में इस मत का जन्म हुआ और वहीं इसका शास्त्रीय रूप प्रतिष्ठित हुआ। ईरान और फिर भारत में आकर इसके रूप में कई परिवर्तन हुए परन्तु मुख्य और आधारभूत ढांचा अरब विद्वानों के हाथों निश्चित किया जा चुका था। यह तो उन लोगों के ग्रंथों को देखने से ही प्रतीत होता है कि उन्होंने यथासम्भव वेदान्त और बौद्ध दर्शन का भी अध्ययन किया था और यूनानी दर्शन, विशेषतः अफ़लातून और अरस्तू के विचारों, से बहुत प्रभावित हुए थे।

कुछ प्रसिद्ध सूफ़ियों के सम्बन्ध में कुछ कथाएं लोक में प्रचलित हैं। प्रसंगवशात् उनमें से कुछ का चर्चा किये देता हूं। उनसे इतना तो स्पष्ट हो ही जायगा कि सूफ़ियों को बहुत विरोध का सामना करना पड़ा था, आरम्भ में उनके विश्वास और रहन सहन की विधि इस्लाम-विरोधी मानी जाती थी।

पहली कथा मंसूर की है। सबसे प्रसिद्ध भी यही है। वह आरम्भ काल था जब सूफ़ीमत लोगों के सामने आ ही रहा था। उसी समय मंसूर ने यह घोष किया: "अनलहक़"—मैं हक़ हूं—मैं परमात्मा हूं। यह वही तथ्य है जो अहं ब्रह्मास्मि से व्यक्त होता है। ऐसा कहना प्रचलित इस्लामी मान्यताओं के सरासर विरुद्ध था। मंसूर को

फांसी पर चढ़ा दिया गया। बाद में प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से दूसरे सूफ़ियों ने भी यही बात दुहरायी। ख्वाजा मुईनुद्दीन चिश्ती जिनकी मज़ार पर प्रतिवर्ष अजमेर में बहुत बड़ा मेला लगता है प्रसिद्ध सूफ़ी हो गये हैं। उन्होंने तो यहां तक कहा है :

मन नमी गोयम अनलहक़, यार मीगोयद बगो

मैं अनलहक़ नहीं कहता, मुझसे परमात्मा कहता है कि कह, हठात् मुझ से कहलवाता है।

जिस बात का इतना प्रचार हो गया, जिसको मुस्लिम समाज के सभी प्रतिष्ठित साधु महात्मा किन्हीं न किन्हीं शब्दों में दुहराने लगे, उसके लिए किसी को दंड देना सम्भव नहीं रह गया।

शम्से तब्रेज़ी, तब्रेज़ निवासी शम्स, को दूसरा अपराध लगा कर हत्या की गयी। कहते हैं कि किसी बादशाह का लड़का बहुत रुग्ण था। न हकीमों की दवा से लाभ हुआ न मुल्लाओं की दुआ से। किसी ने बतलाया कि नगर में शम्स नाम का एक फकीर रहता है उससे दुआ करायी जाय, स्यात् लाभ हो। बादशाह ने उनको बुलवाया। पहले तो उन्होंने बहुत आनाकानी की, कहा कि जब इतने बड़े बड़े मौलवी लोग दुआ कर चुके हैं तो फिर मैं क्या कर सकता हूं। परन्तु बादशाह ने न माना। उसको विश्वास हो गया कि इस फकीर की दुआ निश्चय फलवती होगी। उसके बहुत आग्रह करने पर शम्स ने रोगी से कहा :

क़ुम ब इज़्निल्लाह—अल्लाह की आज्ञा से उठ।

रोगी वैसा ही पड़ा रहा। जब तीन बार ऐसा कहने पर भी कुछ न हुआ तो उन्होंने कहा :

क़ुम ब इज़्नी—मेरी आज्ञा से उठ।

राजकुमार पलंग से उतर कर खड़ा हो गया, एक दम भला चंगा हो गया। बादशाह की कृतज्ञता का क्या पूछना था? वह बहुत कुछ देना चाहता था परन्तु शम्स को तो कुछ लेना नहीं था। किसी प्रकार छुट्टी लेकर अपने स्थान पर आये। उधर कुछ दिनों के बाद मौलवियों ने बादशाह के कान भरने आरम्भ किये। जो काम अल्लाह की आज्ञा से न हो वह एक मनुष्य की आज्ञा से कैसे हो सकता है। इसमें शैतान का हाथ है। यदि ऐसी बात चल पड़ी तो इस्लाम तो समाप्त हो जायगा। वह मूर्ख बादशाह इन बातों में आ गया। शम्स की खाल खींच ली गयी। कहते हैं कि यह घटना मुल्तान में हुई थी, जो भारत में है।

तीसरी घटना दिल्ली की है। वहां सरमद नाम के एक सूफ़ी फकीर रहते थे। वह शिया थे। दाराशिकोह उनके पास बरावर आया जाया करता था। उसके मारे जाने के बाद भी उसके कुछ साथियों ने अपना वहां आना जाना जारी रखा। औरंगज़ेब को यह बुरा लगता था। एक तो वह शियों से चिढ़ता था, दूसरे उसको दारा और उसके साथियों की धार्मिक उदारता, गीता और उपनिषद् के प्रति आदर बुरा लगता था। सबसे बड़ी बात यह थी कि उसका यह सन्देह था कि सरमद के यहां बैठकर सत्संग नहीं होता, मेरे विरुद्ध राजनीतिक षड्यंत्र रचा जाता है। परन्तु कोई प्रमाण न मिलता था। जब राजनीति से काम न चला तो मज़हब से काम निकाला गया। सरमद नंगे रहते थे। न रोज़ा रहते थे न नमाज पढ़ते थे। बड़ी भारी बात यह थी कि वह मेराज की कथा को नहीं मानते थे। क़ुरान में इस कथा के सम्बन्ध में एक छोटा सा अध्याय ही है। इसके अनुसार एक रात ईश्वर ने मुहम्मद साहब की आत्मा को ऊपर उठाया और उन्होंने सात आकाशों को पार करके स्वर्ग में ईश्वर के दर्शन किये। औरंगज़ेब ने मुल्लाओं की एक समिति को यह काम सौंपा कि वह सरमद के विश्वासों को इस्लाम के सिद्धान्तों के प्रकाश में परखे। मौलवियों के कई प्रश्नों के उत्तर स्वयं सरमद की पद्यबद्ध भाषा में मिलते हैं। वह बहुत ही रोचक और शिक्षा-प्रद है।

रोज़ा नमाज़ के सम्बन्ध में उन्होंने कहा कि इन उपायों से ईश्वर नहीं मिलता, उससे मिलने का एकमात्र साधन प्रेम है। जब उनसे प्रेम की व्याख्या करने को कहा गया तो उन्होंने उत्तर दिया :

सरमद, ग़मे इश्क बुलहवस रान दिहन्द,
सोजे दिले परवाना मगस रा न दिहन्द,
उमरे बायद कि यार आयद ब कनार,
ईं दौलत सरमद हमः कस रा न दिहन्द ॥

सरमद, प्रेम की व्यथा विषयी को नहीं देते, पतंग के हृदय की जलन मक्खी को नहीं दी गयी है। सारा जीवन बीत जाता है तब कहीं प्रियतम का संयोग प्राप्त होता है। यह दौलत सबको नहीं दी जाती।

नंगे रहने के सम्बन्ध में उन्होंने कहा :

आँकस कि तुरा ताजे जहाँबानी दाद, मारा हमः असबाबे परेशानी दाद,
पोशंद लिबास हर कि रा ऐबे दीद, बे ऐबाँरा लिबासे उरियानी दाद।

जिसने तुमको शासन करने का मुकुट दिया, उसी ने मुझे फ़क़ीरी का सारा सामान दिया। जिसको उसने ऐबी पाया उसको ऐब छिपाने के लिए वस्त्र दिया, बेऐबों को नंगेपन का वस्त्र दिया।

समिति की जांच तो खिलवाड़ थी। जो पहले से निश्चित कर लिया गया था वही हुआ। मौलवियों का फ़तवा हुआ कि सरमद जो कुछ कहते हैं और करते हैं वह इस्लाम के विरुद्ध है। अतः उनको फांसी देनी चाहिए। इस आज्ञा को सुनकर उन्होंने हंसते हुए कहा :

शुद देर कि अफ़सानए मंसूर कुहन शुद,
वक़्तस्त कुनूँ जलवः दिहम दारो रसन रा।

बहुत दिन हो गये, मंसूर की कहानी पुरानी हो गयी। अब समय आया है कि मैं सूली और फांसी की रस्सी को प्रतिष्ठा प्रदान करूं। उनकी कब्र अब तक दिल्ली में विद्यमान है।

भारत में हम लोग जिन सूफ़ियों से अधिक परिचित हैं वह हैं मौलाना रूम, शम्स तब्रेज, हाफ़िज शीराज़ी और मुइनुद्दीन चिश्ती। चिश्ती घराने के शिष्य प्रायः सारे भारत में फैले हुए हैं।

सूफ़ी शब्द सूफ़ से निकला है जिसका अर्थ है ऊन। इसके पीछे छोटा सा इतिहास है। ईसाइयों में किसी समय ऐसे साधक हो गये हैं जो कठोर तपश्चर्या को साधना का आवश्यक अंग मानते थे। जैसे हमारे देश में कुछ लोग पञ्चाग्नि तापने जैसे तपों से शरीर को पीड़ा देते थे वैसे ही वह लोग भी तप की विभिन्न शैलियों से शरीर को यंत्रणा देते थे। उनकी एक पद्धति थी बाल समेत खालों से बने कपड़ों को इस प्रकार पहनना कि बाल भीतर की ओर रहें और देह में बराबर गड़ते रहें। इन लोगों का अनुकरण अरब के कुछ साधकों ने किया, इसी से लोग उनको सूफ़ी (ऊनवाले) कहने लगे। बाद को ऊन पहनना तो छूट गया पर नाम रह गया। उसको आध्यामिक अर्थ भी पहना दिये गये। अन्य विद्वान् कहते हैं कि यह सफ़ा से निकला है जिसका अर्थ शुद्धि है।

इतना समझ लेना चाहिए कि यद्यपि सुविधा की दृष्टि से मैंने भी सूफ़ी मत जैसे शब्द का व्यवहार किया है परन्तु वस्तुतः कोई एक निश्चित सूफ़ी मत नहीं है। सब सूफ़ियों को एक मानना उतना ही यथार्थ है जितना सब साधुओं को एक मानना। सूफ़ियों के कई सम्प्रदाय या समुदाय हैं जिनमें कई बातों में गहरा मतभेद पाया जाता है। यहां मैं बहुत संक्षेप में उन्हीं बातों का चर्चा कर सकता हूं जो प्रायः सर्वमान्य हैं।

सूफ़ियो का मुख्य प्रस्थान ग्रंथ अन्य मुसलमानों की भांति क़ुरान है। कहते हैं कि मुहम्मद साहब ने अपने दो शिष्यों, अली और अबू बक्र, को आध्यात्मिक रहस्य की बातें बतायी थीं परन्तु अनुश्रुति के सिवाय इसका कोई प्रमाण नहीं मिलता। क़ुरान में ऐसे बहुत ही कम स्थल हैं जहां कोई ऐसी बात कही गयी हो जिसको दर्शन या योगपरक कह सकते हैं। परन्तु यत्र तत्र कुछ ऐसे वाक्य मिलते हैं जिनसे सूफ़ी लोग ऐसे अर्थ निकाल लेते हैं जो उनके लिए आधार बन सकते हैं। मुसलमानों का सबसे पवित्र मंत्र कलमा है जो इस प्रकार है :

ला इलाह इल अल्लाह व मुहम्मद रसूल अल्लाह

सिवाय अल्लाह के कोई ईश्वर नहीं है और मुहम्मद अल्लाह के रसूल (सन्देश वाहक) हैं।

इस वाक्य के पूर्वार्ध के विश्लेषण से वह तत्त्व निकल सकते हैं जो सब मुसलमानों के लिए अनिवार्यतया मान्य हैं। सूफ़ी भी इनसे बंधे हैं।

"ला इलाह इल अल्लाह" से सबसे पहले यह अर्थ निःसृत होता है :

(क) अल्लाह है (ईश्वर की सत्ता है)। जो व्यक्ति इस बात को नहीं मानता उसको मुनकिर (इनकार करने वाला) कहते हैं। मुनकिर होना अक्षम्य अपराध माना जाता है।

(ख) दूसरी बात यह निकलती है :

अल्लाह, ईश्वर, एक है।

यह वाक्य देखने में बहुत सीधा है परन्तु इसके अर्थ में बहुत गम्भीरता है। जो लोग ईश्वर की सत्ता स्वीकार करते हैं वह सभी एकेश्वरवादी हैं। यह कोई नहीं कहता कि अनेक ईश्वर हैं। सामान्य हिन्दू भी एकेश्वरवादी है। परन्तु हिन्दू का एकेश्वरवाद क़ुरानसम्मत एकेश्वरवाद से भिन्न है। हिन्दू ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, इन्द्र आदि की पूजा करता है। वह इन देवों से प्रार्थनाएं करता है। देवगण पूर्णतया न सही पर अंशतः ईश्वर हैं। क़ुरान के अनुसार यह ठीक नहीं है। अकेला एक ईश्वर पूज्य है, दूसरा कोई नहीं। ईश्वर को विश्व के संचालन में किसी देव देवी की सहायता की आवश्यकता नहीं है। उसके साथ किसी और को पूजास्पद मानना भी अक्षम्य अपराध है। जो लोग ईश्वर के सिवाय किसी और की उपासना करते हैं वह मुशरिक कहलाते हैं। मुशरिक का अर्थ है शरीक करने वाला, किसी को अल्लाह के साथ शरीक, सम्मिलित, करने वाला।

(ग) यह ईश्वर सर्वव्यापक, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् है। वह लामकां और लाज़मां—काल और दिक् से परे—है। वह जगत् का स्रष्टा, पालयिता और संहर्ता है। उसने

अपनी इच्छा से जगत् को रचा है, जब चाहेगा खेल बंद कर देगा। उसकी इच्छा अनियंत्रित है, उसके विषय में "क्यों" नहीं पूछा जा सकता। जड़ चेतन, चर अचर, सब उसकी ही रचना है। जो लोग उसकी आज्ञाओं का पालन करते हैं वह अनन्त काल तक स्वर्ग के अधिकारी होंगे। जो अवज्ञा करेंगे वह अनन्त काल तक नरक का भोग करेंगे। वह शरीयत का विधान है। शरीयत कुरानसम्मत वह धर्मशास्त्र है जो साधारण मनुष्यों के लिए लागू होता है। तरीक़त का मार्ग जिससे सूफ़ी इस शरीर के रहते ही ईश्वर का साक्षात्कार प्राप्त करता है, दूसरा ही है।

ईश्वर और जगत् के संबंध में सूफ़ी विद्वानों ने बहुत विचार किया है। यों तो क़ुरान को प्रमाण मानकर सूफ़ी भी कह देगा कि ईश्वर जगत् का स्रष्टा है। पर इतना कहना पर्याप्त नहीं है। सृष्टि भी कई प्रकार से हो सकती है। ईश्वर निमित्त हो सकता है पर उपादान क्या था? ईश्वर स्वर्णकार था परन्तु वह स्वर्ण क्या था जिससे उसने जगत् का निर्माण किया? इसके उत्तर के विषय में आपस में मतभेद हैं परन्तु अधिकतर सूफ़ियों का मत वह है जो "हमऽओस्त" सिद्धान्त कहलाता है। हमऽओस्त का अर्थ है: सब कुछ वही है—सर्वं खल्विदं ब्रह्म। परन्तु यह ध्यान में रखना चाहिए कि सूफ़ी अद्वैत वेदान्त के सिद्धान्त को नहीं मानता। अद्वैतवादी प्रतीयमान जगत् के नानात्व को समझाने के लिए मायावाद का आश्रय लेता है। वह कहता है कि जगत् मिथ्या है, यद्यपि उसका आधार ब्रह्म सत्य है। रस्सी में प्रतीत होने वाला सांप झूठा है, यद्यपि रस्सी सत्य है। सूफ़ी मायावाद को नहीं मानता। वह जगत् को सत्य मानता है। उसका विश्वास है कि यह जगत् ईश्वर की लीला है। उसने अपनी इच्छा से यह रूप धारण किया है। यह मत श्री वल्लभाचार्य के शुद्धाद्वैतवाद से मिलता है।

जब वही सब कुछ है तो मनुष्य की आत्मा भी उससे अभिन्न है। मनुष्य शरीर में ही वह अपने आपको पहचान सकता है। मनुष्य के लिए "अनलहक़" कहना सर्वथा उचित है, यद्यपि शरीर रहते हुए वह इतने बंधनों से बंधा हुआ है कि ईश्वरत्व की अपेक्षा दासत्व का अनुभव ही अधिक होता है। नियाज ने कहा है:

गाहे नियाज ईमाने मन, गह बेनियाजी शाने मन,
ई हर दो मौजेबद ब मन, हम बन्दऽ हम मौलास्तम्॥

कभी तो मैं अर्थी के रूप में होता हूं, कभी इच्छाहीन होना मेरी शान है। मुझे दोनों बातें शोभा देती हैं: मैं दास भी हूं और ईश्वर भी।

ईश्वर की जगत्‌रूपी लीला के सम्बन्ध में कहा गया है:

दीद अपने की थी उसे ख़ाहिश, आपको हर तरह बना देखा।

हमऽओस्त का सिद्धान्त आजकल अधिकतर सूफ़ियों को मान्य है परन्तु सदा सब सूफ़ी इसको ही नहीं मानते रहे हैं। सूफ़ी वाङमय में कई प्रकार के दार्शनिक विचार मिलते हैं। उदाहरण के लिए एक विद्वान् का यह मत था कि ईश्वर में ज्ञातृत्व—ज्ञाता होने के—गुण का होना विवाद का विषय है। ज्ञाता के लिए ज्ञेय चाहिए। ईश्वर का ज्ञेय या तो उससे कुछ भिन्न होगा या वह स्वयं। किसी वस्तु का ज्ञान तभी होता है जब बुद्धि तदाकार होती है। यदि ईश्वर किसी अन्य वस्तु से तदाकार हुआ तो उसके निर्मल एकपन, अकेलेपन, में कलुष आ जायगा जो हो नहीं सकता। वह अपने को भी नहीं जानता क्योंकि ज्ञाता और ज्ञेय एक नहीं हो सकते।

एक विचारक ने ऐसा माना है कि तत्त्वों के परमाणु जगत् की रचना के पहले से हैं, अर्थात् नित्य हैं। आत्मा भी नित्य है। ईश्वर का सान्निध्य तत्त्वों को इन्द्रियगोचर बना देता है और विश्व के इन अवयवों को व्यवस्थित कर देता है। इस मत के अनुसार ईश्वर आत्माओं तथा भौतिक तत्त्वों का स्रष्टा नहीं रहता। इसमें न्यायदर्शन के आरम्भ-वाद की झलक देख पड़ती है।

ईश्वर साक्षात्कार (मशाहिदऽ) तक जीव की जो लंबी यात्रा होती है उसका पहला चरण फ़िराक़ है और अन्तिम चरण फ़िना।

फ़िराक़ का अर्थ है वियोग। इस अवस्था में जीव को ईश्वर से बिछोह की अनुभूति होती है। उसकी व्यथा बढ़ती जाती है। संसारी सुख दुःखमय प्रतीत होने लगते हैं। सूफ़ी कवियों ने इस अवस्था का बड़ी मार्मिक भाषा में वर्णन किया है। इस सम्बन्ध में उनकी रचनाएं ऐसी आलंकारिक शैली की हैं कि पढ़नेवाले में शान्त की जगह कभी कभी शृंगार रस का उद्बोधन हो सकता है। अन्तिम चरण फ़िना है। फ़िना का अर्थ है मृत्यु या विनाश। जीव ईश्वर में फ़िना, विलीन, हो जाता है। यह वह समाधि है जब जीव और ईश्वर का भेद मिट जाता है। जीव अपनी ख़ुदी—पृथक् सत्ता—की भावना को त्याग कर ख़ुदा हो जाता है, यों कहिये कि अपनी भूली हुई ख़ुदाई को पुनः प्राप्त कर लेता है। किसी ने कहा है :

> शहे बेख़ुदी ने अता किया मुझे अब लिबासे बरहनगी।
> न दुई की पर्दादरी रही न ख़ुदी की बख़िया गरी रही।

बेख़ुदी के बादशाह ने मुझे नंगेपन का वस्त्र प्रदान किया है। अब न तो दुई का पर्दा फाड़ना रह गया है, न ख़ुदी के वस्त्र में बख़िया करना रह गया है।

नियाज़ ने कहा है :

> क़ौले नियाज़ बैशुनौ, यानी जे ख़ुद बुरूं शौ।
> चूं अज़ ख़ुदी बर आयी, बाशी ख़ुदा रसीदऽ॥

नियाज़ की वात सुनो यानी अपने से वाहर हो। जव तुम अपनी ख़ुदी से निकल आओगे तो ख़ुदा तक पहुंच जाओगे।

फ़िराक, ईश्वर से मिलने की उत्कट चाह, वहुत सुन्दर वात है। प्रेम का प्रभाव दोनों ओर पड़ता है। प्रेमी की ओर प्रेमपात्र भी झुकता है। ईश्वर भी सच्चे प्रेम से प्रभावित होता है। इसके साथ ही प्रेमी संसार की वहुत सी वुराइयों के ऊपर उठ जाता है और मिलन की वेला, संयोग की घड़ी, का अधिकारी वन जाता है। फिर भी ऐसे व्यक्ति के लिए महात्माओं ने चर्या संवंधी वहुत से उपदेश दिये हैं जो यम नियम से मिलते जुलते हैं।

सत्य के विषय में कहा है :

रास्ती मूजिवे रज़ाये ख़ुदास्त—सत्य ईश्वर को प्रसन्न करने का साधन है।

अहिंसा के विषय में हाफ़िज का कहना है :

मवाश दर पये आज़ार व हरचे ख्वाही कुन।
कि दर तरीक़ते मा ग़ैर अज़ीं गुनाहे नेस्त॥

किसी को सताने के फेर में मत रहो, और जो चाहो करो। मेरे शास्त्र में इसके सिवाय कोई पाप नहीं है।

सन्तोष के विषय में मौलाना रूम कहते हैं :

वर सरे हर दानऽ विनविश्तन्द आं,
कीं फुलां इब्ने फुलां इब्ने फुलां।
पस वराये नां मलरजां पा व दस्त,
रिज़्क़ तू वर तू ज़े तू आशिक़ तरस्त॥

प्रत्येक दाने पर यह लिखा है कि यह अमुक के वेटे अमुक के बेटे अमुक के लिए है। फिर तुम रोटी के लिए व्याकुल मत हो, तुम्हारा अन्न तुम्हारे ऊपर तुम से वढ़कर आशिक़ है, क्योंकि वह तो तुम्हारे लिए है, किसी और के पास जा नहीं सकता।

साधक को ज़ोहद, तपश्चर्या, का भी अभ्यास करना चाहिये, पर उसको वू अली शाह क़लन्दर को यह वात भी सदा ध्यान में रखनी चाहिये :

ज़ोहदो तक़वा चीस्त ऐ मेर्दे फ़क़ीर,
ला तमऽ वूदन ज़े सुल्तानो अमीर।

ऐ फकीर, ज़ोहद और तक़वा, तपश्चर्या और नियमों का पालन, क्या है? राजा रईस से निर्लोभ रहना।

स्वाध्याय के संबंध में शेख सादी की यह उक्ति बहुत ही उपयोगी है :

> मन ज़े क़ुरआँ मग्ज़ राँ पर्दाख़्तेम।
> उस्तख़ाँ पेशे सगां अन्दाख़्तेम॥

मैंने कुरान में से मज्जा (सार) निकाल लिया और हड्डी को कुत्तों के आगे फेंक दिया।

वैराग्य के विषय में कहा गया है :

> हम ख़ुदा ख़्वाही व हम दुनियाए दूं,
> ईं ख़ियालस्तो मुहालस्तो जुनूं॥

तू ईश्वर को भी चाहता है और कमीनी दुनियां को भी साथ साथ चाहता है, यह तेरा विचार भ्रमपूर्ण है और पागलपन है, दोनों बातें एक साथ नहीं हो सकतीं।

इसी सम्बन्ध में किसी ने कहा है :

> तालिबाने दुनिया मजबूरन्द, तालिबने उक़बा मजदूरन्द,
> तालिबाने मौला मसरूरन्द

इस लोक को चाहने वाले मजबूर हैं। उनको इस बात की समझ ही नहीं है कि ऊंची बातें सोच सकें। पशुओं की भांति नियति जिधर नकेल खींचती है उधर चले जाते हैं। स्वर्ग को चाहने वाले मजदूर हैं। यहां कुछ पुण्य काम करते हैं, उसका पारिश्रमिक परलोक में चाहते हैं। परमात्मा को चाहने वाले आनन्द में रहते हैं।

साधक से आशा की जाती है कि उसके जीवन में तोबह और तवक्कुल को उत्तरोत्तर अधिक स्थान मिलेगा। तोबह का अर्थ है प्रायश्चित्त—अपनी भूलों पर पछतावा करना। साधक निरन्तर उन अवसरों को याद करता रहता है जब उसने ईश्वर की किसी आज्ञा का उल्लंघन किया, अपने चरित को सुधारने का संकल्प करके संकल्प को तोड़ा। उससे भूलें होती हैं परन्तु इन भूलों की ही सीढ़ी बनकर वह ऊपर चढ़ता है। यदि तोबह का भाव सच्चा है तो वह जब भी गिरता है, पहले से बलशाली होकर ही उठता है। तवक्कुल का वही भाव है जो ईश्वरप्रणिधान का है—अपने

सारे कर्मों को ईश्वरार्पित कर देना, यदृच्छया जो कुछ प्राप्त हो जाय उसे सहर्ष स्वीकार करना। इस सम्बन्ध में ख्वाजा मुईनुद्दीन चिश्ती ने कहा है :

हर आंचे आयदत अज ग़ैब नेको बद मनिगर,
हमीं वसस्त कि अज सूए दोस्त मी आयद।
तू अज़ सऊबते दौरां मनाल शादां बाश,
कि तीरे दोस्त व पहलूए दोस्त मी आयद॥

अदृष्ट से तुझको जो कुछ प्राप्त हो उसको यह मत देख कि अच्छा है या बुरा, तेरे लिए यही वहुत है कि दोस्त का भेजा हुआ आया है।

कालचक्र वशात् जो कुछ भी कष्ट मिले उस पर रो मत वरन् प्रसन्न हो, तुझको भले ही तीर लगा पर वह तीर दोस्त का चलाया हुआ है।

इस प्रकार जिसकी जीवनचर्या होती है उसकी निश्चय ही अध्यात्म के पथ पर उन्नति और प्रगति होती है। क्रमशः उसका चित्त दस अवस्थाओं को प्राप्त करता है जिनको मुक़ाम कहते हैं। मुक़ाम यह हैं :

(क) मराक़बा—एकान्त में बैठकर अपने चित्त की गतिविधि को नियंत्रित करना
(ख) कुर्ब—ईश्वर के समीप्य की अनुभूति
(ग) महब्बऽ—प्रेम
(घ) खौफ़—जिस प्रकार का भय पुत्र को पिता के सामने लगता है
(ङ) उम्मीद—आशा
(च) शौक़—तीव्र संवेग
(छ) उस—ईश्वर से एक प्रकार के अपनेपन का भाव
(ज) इतमीनान—यह भाव कि मैं सुरक्षित हूं, ईश्वर की कृपा होगी ही
(झ) मुशाहिदऽ—ध्यान, दर्शन
(ञ) यक़ीन—साक्षात्कारमूलक विश्वास

इन मुक़ामों पर साधक पहुंचता तो अपने ही श्रम से है परन्तु ईश्वर उसके रियाज, परिश्रम, का तमाशा नहीं देखता है। वह साधक से परितुष्ट होकर उसको हाल प्रदान करता है। हाल एक विशेष अवस्था है जो ईश्वर की कृपा से साधक के चित्त को व्याप्त कर लेती है चाहे वह किसी भी मुकाम पर पहुंचा है। हाल आते ही बाहर की परिस्थितियों का अतिक्रमण हो जाता है और साधक समाधि में डूब जाता है।

जव साधक अपनी यात्रा आरम्भ करता है तो उसके चित्त में वियोग और संयोग, निराशा और आशा, में घोर संघर्ष मचा रहता है परन्तु ज्यों ज्यों वह आगे वढ़ता है त्यों त्यों साक्षात्कार और फिना के पहले ही विश्वास, और आशा की मात्रा वढ़ती जाती है। प्रेम की विह्वलता असह्य प्रायः होती जाती है परन्तु विसाल, मिलन, की अवश्यम्भाविता पर भी कोई सन्देह नहीं रह जाता। किसी ने कहा है :

आशिक़ के शुद कि यार वजानश नजर न कर्द,
ऐ दोस्त दर्द नेस्त वगर नऽ तवीव हस्त ॥

ऐसा कौन प्रेमी हुआ जिसकी जान पर यार ने दृष्टि नहीं डाली ? ऐ दोस्त, दर्द ही नहीं है, नहीं हकीम है।

साधक कभी कभी तो ईश्वर से सखा भाव से इस प्रकार वात करता है कि उसके शब्दों से यह ध्वनि निकलती है कि ईश्वर मेरी वात टाल नहीं सकता।

सरमद ने एक जगह कहा है :

सरमद, अगर ख़ुदास्त ख़ुद मी आयद—

सरमद, यदि ख़ुदा है तो आप ही आयेगा।

एक कवि कहता है :

वह दौरे मुहव्वत भी है आने वाला।
मैं रूठूँगा तुमको मनाना पड़ेगा॥
जहां वेख़ुदी में मैं सज्दऽ करूंगा।
वहीं तुमको कावा वनाना पड़ेगा॥
कभी नाजवरदार का नाज भी तो।
हुज़ूर आपको कुछ उठाना पड़ेगा॥

सूफ़ियों में मुर्शिद (गुरु) का स्थान वहुत ऊंचा होता है। आरम्भ में ऐसा नहीं था परन्तु ईरान आकर भारतीय योगियों के सम्पर्क के वाद सूफ़ीमत में गुरु को यह पद मिला। गुरु के सम्वन्ध में मौलाना रूम कहते हैं :

रौ वेजो यारे ख़ुदाये रा तू ज़ूद,
चूं चुनां करदी ख़ुदा यारे तू वूद।

जा और ईश्वर के मित्र को तू शीघ्र ढूंढ़। जब तू ऐसा कर लेगा तो ईश्वर आप ही तेरा मित्र हो जायगा।

हाफ़िज़ कहते हैं :

जे मैं सज्जादऽरंगीं कुन गरते पीरे मुग़ां गोयद,
कि सालिक बेख़बर न बुअद ज राहो रस्मे मंजिलहा ॥

यदि शराबख़ाने का वृद्ध ऐसा आदेश दे तो अपने पूजा के आसन को शराब से रंग डाल, क्योंकि सालिक[1] मार्ग के नियमों से बेख़बर नहीं होता।

मार्ग की कठिनाई के सम्बन्ध में हाफ़िज कहते हैं :

शबे तारीको बीमे मौजो गिरदाबे चुनीं हाएल,
कुजा दानन्द हाले मा सुबुकसाराने साहिलहा ॥

रात अंधेरी है, भयानक लहरें उठ रही हैं, बीच बीच में भंवर हैं। जो लोग चैन से किनारे पर बैठे हैं वह मेरे हाल को कहां जानते हैं।

साक्षात्कार, संयोग, की अवस्था का सूफ़ी महात्माओं ने चर्चा तो किया है पर उसका कोई ब्यौरा देना उनके लिए सम्भव नहीं था। जहां वाणी और बुद्धि दोनों हार जायं उसका भला कोई क्या ब्यौरा दे सकता है। उस अवस्था की अनुभूति अपनी आप साक्षी और प्रमाण है, उसको किसी तर्क की अपेक्षा नहीं होती। मौलाना रूम के शब्दों में : आफ़ताब आमद दलीले आफ़ताब—सूर्य के अस्तित्व का प्रमाण स्वयं सूर्य है। परन्तु सूर्य को देखने के लिए आंख होनी चाहिए। इसीलिए तो सरमद ने कहा था कि यह दौलत सबको नहीं दी जाती। एक लेखक ने कहा है "नागाह भी आयद वले बर दिले आगाह भी आयद"—यह अनभूति यकायक आ जाती है परन्तु उसी हृदय में आती है जो पहले से जागता रहता है। हाल का प्रसाद अधिकारी को ही मिलता है।

ईश्वर सच्चिदानन्द है, सत्यं शिवं सुन्दरम् भी है। सूफ़ी साधक उसके सौन्दर्य पर मुग्ध हैं और यह ऐसा रूप है जिसको तर्क का विषय बनाना या वाणी में उतारना प्राय: असम्भव है। इसलिए उनको अलंकार और उपमा से ही काम लेना पड़ता है। ईश्वर के अपूर्व लावण्य और सौन्दर्य का वर्णन करते हुए हाफ़िज को दोनों ओर से लटकती

---

१. **वह व्यक्ति जो ब्रह्मज्ञानी है और दूसरों को दीक्षा दे सकता है।**

हुई काली अलकों के बीच माशूक़ (प्रेमपात्र) का दमकता हुआ चेहरा देख पड़ता है और वह उसकी यो उपमा देते हैं : चे दिलावरस्त दुज़्दे कि वकफ़ चिराग़ दारद : चोर भी कितना ढीठ है कि हाथ में दीपक लेकर चलता है। जिसने उनके हृदय को चुरा लिया था उसको चोर कहना ठीक ही था।

सूफ़ियों में साधना की प्रायः दो मुख्य विधियां हैं : समाअ और ज़िक्र। समाअ का अर्थ है सुनना। यह साधना का सामूहिक उपाय है। कई साधक किसी शान्त कमरे में बैठ जाते हैं। वहां आरिफ़ों (पहचानने वालों, सन्तों) की रचनाओं को पढ़ने या गाने बजाने का प्रबंध रहता है। पढ़ने और गानेवाले विशेष रूप से गले के माधुर्य के लिए चुने जाते हैं। सितार, सरोद, वीणा, जैसे तार के बाजे ही यथासम्भव रखे जाते हैं। कभी कभी नृत्य का भी प्रबंध होता है। या तो सभी उपस्थित लोग नाच में सम्मिलित हो जाते हैं या कुछ विशेष चुने हुए लोग यह काम करते हैं। राग, ताल, लय, सब ऐसे होते हैं कि उनको सुनने और देखने तथा भाग लेने से सभी साधकों के शरीरों की विलक्षण अवस्था हो जाती है। रोने लगते हैं, झूमने लगते हैं, आत्मविस्मृति सी छा जाती है। कइयों को हाल आ जाता है। उनको यह आदेश पहले से ही रहता है कि चित्त इधर उधर मत भटकने दो। फलतः एक प्रकार की एकाग्रता हो जाती है और कइयों को अलौकिक दृश्य देख पड़ने, और अलौकिक शब्द सुन पड़ने, लगते हैं। यह चक्रोपासना का ही रूप है। अपनी पुस्तक चिद्विलास में मैंने चक्रोपासना का यह स्वरूप बतलाया है। वहां जप और पाठ का चर्चा है, इनके साथ संगीत और नृत्य को भी जोड़ लेना चाहिए :

"बहुत से उपासक एक जगह एकत्र होकर जप या पाठ या ध्यान करते हैं। ऐसी गोष्ठी को चक्र कहते हैं। चक्र में सम्मिलित व्यक्तियों के चित्त एक दूसरे को प्रभावित करते हैं और थोड़ी ही देर में वैसी एकाग्रता प्राप्त होती है जो अन्यथा बहुत देर में आती। इसीलिए कहा जाता है कि चक्र में उपास्य देवता जल्दी अवतरित होती है। ऐसी एकाग्रता चाहे थोड़ी ही देर ठहरे, परन्तु उतनी देर तक के लिए प्राण अंशतः स्तब्ध हो जाते हैं और अपूर्व सुखमय आत्मविस्मृति होती है। प्रत्यक्ष न होते हुए भी ऐसा प्रतीत होता है कि उपास्य अपने चारों ओर, अपने पास, अपने भीतर और बाहर, भर गया है।"

ज़िक्र समअ से भिन्न पद्धति है। यह मुख्यतया वैयक्तिक उपासना है। ज़िक्र का अर्थ है नामस्मरण, नाम का जप। यह वही क्रिया है जिसका वर्णन पतंजलि ने "तज्जपस्तदर्थभावनम्" सूत्र में किया है। यों तो ज़िक्र की पूरी पद्धति गुरुमुख से ही जानी जा सकती है और गोप्य रखी जाती है। जैसा कि मौलाना रूम ने कहा है :

आरिफ़ाँ कि जामे हक़ नोशीदऽ अन्द,
राजहा दानिस्तऽ ओ पोशीदाऽ अन्द।
हर कि रा असरारे हक़ आमोख़्तन्द,
मुह्र करदन्दो दहानश दोख़तन्द ॥

जिन आरिफ़ लोगो ने हक़ का प्याला पिया है, वह भेदों को जानते हैं परन्तु उनको छिपाकर रखते हैं। जिस किसी को हक़ के रहस्य सिखाते हैं उसके होठों को सी देते हैं और उन पर मुहर कर देते हैं।

कोई एक नाम नियत नहीं है जिसका जप सब के लिए अनिवार्य हो परन्तु अधिकतर सूफ़ी कलमा के पूर्वार्ध–"ला इलाह इल अल्लाह" को ज़िक्र का माध्यम बनाते हैं। नियम यह है कि ज़िक्र के लिए कोई स्वच्छ, अंधेरा और एकान्त कमरा चुनना चाहिये उसमें पालथी मारकर बैठना चाहिये और दोनों हाथों को दोनों जंघाओं पर रख लेना चाहिए। फिर जप आरम्भ करना चाहिये। ज़िक्र के सम्बन्ध में इतना ही कहा जा सकता है कि "ला इलाह" को नाभि के पास से उठाकर "इल अल्लाह" को हृदय तक पहुंचाना चाहिए। इस प्रकार के जप से सारे शरीर में एक विशेष प्रकार की गति और लय का उद्‌बोध होता है जिससे कण कण प्रभावित हो उठता है। साधक को यह निर्देश रहता है कि ज़िक्र के शब्दों पर नहीं वरन् मज़कूर पर, जिसका कि ज़िक्र किया जाता है उस पर, अल्लाह पर, चित्त एकाग्र करो। जब तक ज़ाकिर, ज़िक्र करने वाले, को ज़िक्र करते समय अपने अस्तित्व का ध्यान रहता है तब तक ज़िक्र अपूर्ण है। ज़िक्र में केवल अल्लाह की भावना रह जानी चाहिये। वही अवस्था हाल के अवतरित होने, फ़िना होने, वस्ल, संयोग, के अनुकूल होती है।

सच्चा सूफ़ी सम्प्रदाय, जाति, भाषा आदि बन्धनों की परिधि के बाहर होता है। शम्स तब्रेज़ ने कहा था :

न हिन्दुअम न मुसल्मां न काफ़िरम् न यहूद।

न मैं हिन्दू हूं, न मुसलमान, न काफिर, न यहूदी।

जो साक्षात्कार के स्थान तक पहुंचा उसके लिए न कुछ उपादेय रह जाता है न हेय। अब कौन आशिक़ रह गया कौन माशूक़? किसका संग्रह हो और किसका त्याग? इसीलिए एक महात्मा ने कहा था कि मैं नंगे सिर नहीं हूं, चार त्यागों की टोपी देता हूं :

तर्के दुनिया तर्के उक़बा, तर्के मौला, तर्के तर्क।

इस लोक का त्याग, परलोक का त्याग, ईश्वर का त्याग और त्याग का त्याग।

यह विवरण बहुत संक्षिप्त है। अति संक्षेप में भ्रामक चित्र बन जाने का डर रहता है। यदि मेरे प्रमाद से सूफ़ीमत के संबंध में ऐसा हो गया हो तो मुझे बहुत दुःख होगा। पाठकों को यह देखकर आश्चर्य हुआ होगा कि अब तक के वर्णन में योगाभ्यास या उससे मिलती जुलती किसी क्रिया का चर्चा नहीं आया। ज़िक्र निश्चय ही योग में अन्तर्भूत माना जा सकता है परन्तु उससे भी इस प्रचलित विश्वास का समर्थन नहीं होता कि सूफ़ीमत भारतीय योग-वेदान्त का ही दूसरा रूप है। इस सम्बन्ध में मैं शेख़ मुहम्मद इक़बाल की पुस्तक दि डेवेलप्मेण्ट ऑफ़ मेटाफ़िज़िक्स इन पर्शिया के कुछ वाक्यों को अनूदित करना चाहता हूं। यह पुस्तक १९०८ में प्रकाशित हुई थी और ग्रंथकार के बहुत खोज और प्रगाढ़ अध्ययन का परिणाम है :

"यह याद रखना चाहिये कि नक़्शबन्दी जैसे कुछ सूफ़ी सम्प्रदायों ने मोक्ष के कुछ नये उपाय निकाले या यों कहना चाहिए कि उन्होंने भारतीय वेदान्तियों से इन उपायों को सीखा। उन्होंने कुंडलिनीवाद का अनुकरण करके यह सिखाना आरम्भ किया कि शरीर में छः विभिन्न रंगों के प्रकाश चक्र हैं। सूफ़ी का उद्देश्य उन चक्रों को गतिमान करके रंगों के प्रतीयमान नानात्व के भीतर उस शुद्ध रंगहीन प्रकाश का प्रत्यक्ष करना है जो स्वयं अदृश्य रहते हुए अन्य सब वस्तुओं को दृश्य बनाता है। ईश्वर के नामों तथा कुछ गोप्य मंत्रों के उच्चारण से शरीर के सब परमाणुओं में विशेष प्रकार की गति उत्पन्न हो जाती है। इससे सूफ़ी का सारा शरीर तेजोमय हो जाता है और जब वह इस ज्योति को अपने बाहर भी देख लेता है तो उसकी भेददृष्टि दूर हो जाती है। . . . ध्यान के यह उपाय इस्लामबाह्य हैं और ऊंचे सूफ़ी इनको कोई महत्त्व नहीं देते।"

यह बातें इस्लामविरुद्ध हों या न हों परन्तु इस दृष्टि से तो इस्लामबाह्य हैं ही कि प्राचीन इस्लामी आध्यात्मिक वाङ्मय में इनका चर्चा नहीं मिलता। सूफ़ी शास्त्रकारों ने कहीं इनका उल्लेख नहीं किया है और सूफ़ी कवियों ने भी इनकी ओर कोई संकेत नहीं किया है। मौलाना रूम के इस शेर को योगपरक बताया जाता है :

चश्म बंदो गोश बंदो लब बेबंद।
गर न बीनी सिर्रेहक़ बर मा बखंद

आंख कान और होंठ बंद करो। यदि तुमको ईश्वर का रहस्य न देख पड़े तो मुझ पर हंसना।

मेरी समझ में यह केवल इन्द्रियनिग्रह का उपदेश है।

भारत के योगियों के सम्पर्क में आकर भारतीय सूफ़ियों ने हब्से दम (प्राणायाम) जैसी क्रियाओं को अपनाया और योग के कुछ पारिभाषिक शब्दों को भी व्यवहार में लाने लगे। उनको ही देख कर यह धारणा बनी कि सूफ़ी लोग योगी होते हैं। यह विश्वास यदि कुछ सच भी है तो मुख्यतः भारतीय सूफ़ियों के लिए। यों यह बात मान्य है कि दूसरे सूफ़ियों को भी हाल की अवस्था में समाधिकल्प अनुभव होते हैं और फिर जिक्र स्वयं योग की क्रिया है।



उद्धृत योगसूत्रों की सूची

(प्रथम अंक पाद और दूसरा सूत्रसंख्या का सूचक है)

अथ योगानुशासनम् । (१,१)

ईश्वरप्रणिधानाद्वा । (१,२३)

ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा । (१,४८)

कण्ठकूपे क्षुत्पिपासानिवृत्तिः । (३,२९)

क्लेशकर्म्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः । (१,२४)

क्षीणवृत्तेरभिजातस्येव मणेर्ग्रहीतृग्रहणग्राह्येषु तत्स्थतदञ्जनतासमापत्तिः । (१,४१)

चन्द्रे ताराव्यूहज्ञानम् । (३,१६)

जातिदेशकालसमयानवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम् । (२,३१)

तज्जपस्तदर्थभावनम् । (१,२८)

ततः क्षीयते प्रकाशावरणम् । (२,५२)

ततः परमा वश्यतेन्द्रियाणाम् । (२,५५)

ततः पुनः शान्तोदितौ तुल्यप्रत्ययौ चित्तस्यैकाग्रतापरिणामः । (३,१२)

तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्त्वाभ्यासः । (१,३२)

ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च । (१,२९)

ततः प्रत्ययैकतानता ध्यानम् । (३,२)

तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम् । (१,१६)

तत्र ध्यानजमनाशयम् । (४,६)

तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः । (१,१३)

तथा मृदुमध्याधिमात्रत्वात्ततोऽपि विशेषः । (१,२२)

तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् । (१,२)

त्रयमेकत्र संयमः । (३.४)

तस्य प्रशान्तवाहिता संस्कारात् । (३,१०)

तस्य वाचकः प्रणवः । (१,२७)

तीव्रसंवेगानामासन्नः । (१,२१)

ते समाधावुपसर्गा व्युत्थाने सिद्धयः । (३,३६)

दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम् । (१,१५)

दुःखदौर्मनस्याङ्गमेजयत्वश्वासप्रश्वासा विक्षेपसहभुवः । (१,३१)

देशबन्धश्चित्तस्य धारणा । (३,१)
धारणासु च योग्यता मनसः। (२,५३)
निर्माणचित्तान्यस्मितामात्रात् । (४,४)
परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्ति-विरोधाच्च सर्वं दुःखमेव विवेकिनः । (२,१५)
पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तिः । (४,३४)
भुवनज्ञानं सूर्ये संयमात् । (३,२५)
प्रसंख्यानेऽप्यकुसीदस्य सर्वथा विवेकख्यातेर्धर्ममेघः समाधिः । (३,३२)
वीतरागविषयं वा चित्तम् । (१,३७)
मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयेषु भावनातश्चित्तप्रसादनम् । (१,३३)
यथाभिमतध्यानाद् वा । (१,२)
विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वः संस्कारशेषोऽन्यः । (१,१८)
विशेषदर्शिन आत्मभावभावनानिवृत्तिः । (४,२५)
वृत्तिसारूप्यमितरत्र । (१,४)
व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्याविरतिभ्रान्तिदर्शनालब्धभूमिकत्वानि विक्षेपास्तेऽन्तरायाः । (१,३०)
स एष पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात् । (१,२६)
स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमिः । (१,१४)
स्थान्युपनिमन्त्रणे संगस्मयाकरणं पुनरनिष्टप्रसंगात् । (३,५०)
स्थिरसुखमासनम् । (२,४६)
स्वप्ननिद्राज्ञानालम्बनं वा । (१,३८)
स्वविषयासंप्रयोगे चित्तस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणाम् प्रत्याहारः । (२,५४)
हेयं दुःखमनागतम् । (२,१६)

सहायक पुस्तकों की सूची

१. पातञ्जल योगदर्शन—व्यास भाष्य, वाचस्पति मिश्र कृत तत्त्ववैशारदी टीका तथा भोजवृत्ति समेत

२. कपिल कृत सांख्यदर्शन

३. ईश्वरकृष्ण कृत सांख्यकारिका

४. शिवसंहिता

५. घेरण्डसंहिता

६. हठयोगप्रदीपिका

७. गोरक्षपद्धति

८. विज्ञानभिक्षु कृत योगसारसंग्रह

९. योग-याज्ञवल्क्य, श्री प्रह्लाद सी दीवानजी सम्पादित

१०. पातञ्जल योगप्रदीप, स्वामी ओमानन्द कृत

११. सूर्योदय (योग–विशेषांक)

१२. श्रीमद्भगवद्गीता की ज्ञानेश्वरी टीका

१३. दि योगसूत्राज आव पतञ्जलि, अनुवादक श्री रामप्रसाद
(The Yoga Sutras of Patanjali—by Ram Prasad F. T. S. Sacred Books of the Hindus Series)

१४. मिस्टिसिज्म, एवेलिन अण्डरहिल कृत
(Mysticism. Evelyn Underhill)

१५. फार्म्स ऐण्ड टेक्नीक्स आव ऐल्ट्रुइस्टिक ऐण्ड स्पिरिचुअल ग्रोथ, पितिरिम सोरोकिन सम्पादित
(Forms and Techniques of Altruistic and Spiritual Growth edited by Pitirim A. Sorokin)

१६. योग, दि मेथड आव रि–इण्टिग्रेशन, ऐवलेन दानिएल्यू कृत
(Yoga, The Method of Re–Integration by Alain Danielu)

१७. दि डेवलप्मेण्ट आव मेटाफ़िज़िक्स इन पर्शिया, शेख मुखम्मद इक़बाल कृत
(The Development of Metaphysics in Persia, by Sheikh Mohammad Iqbal)

१८. दि पर्शियन सूफ़ीज, सिप्रिअन राइस कृत
(The Persian Sufis, by Cyprian Rice)

१९. सूफ़िज्म, ए. जे. आरबेरी कृत
(Sufism by A. J. Arberry)

२०. क़श्फ अल—महजूब अली उसमान अल जुल्लावी अल हुजवीरी कृत
(अनुवादक, रेनल्ड ए निकलसन)

२१. सूफ़ीज, मिस्टिक्स एण्ड योगीज आव इंडिया, बांके बिहारी कृत
(Sufis Mystics and Saints of India by Banke Bihari Bhavan Series)

(कई उपनिषदों और 'संतबानी पुस्तकमाला' की कई पुस्तकों से सहायता ली गयी है। उन सब के नाम पृथक् पृथक् नहीं दिये गये हैं।)

अनुक्रमणिका

(अ)

अक्लिष्ट १२४
अग्निनाड़ी १४६
(सरस्वती)
अघोर पंथ १७
अङ्गमेजयत्व २३५
अजपा जाप १४७
अतीन्द्रिय २९ २४६ २४७
अधिष्ठान १८२ २४६
अध्यवसाय १४४
अध्यास २२१ २६२
अनलहक़ २७२ २७३ २७७
अनवस्थितत्व २३५
अनहद (अनाहत) १३ ४९ ५६
अनाहत (नाद) १३ ४९ ५६ १७० १७१ १७२ १७५ १७६ १७७ १७८
अनाहत (चक्र) १४५ १४७
अपरिग्रह ११४ ११६
अपान १५९
अपूर्व १२१
अभिजातमणि १९०
अभिनिवेश ६७ २०६
अभ्यास ८६ १०८ १३४ १६३ १६४ १६९ १८२ २४३ २७१
अमरवारुणी १४०
अर्थमात्र निर्भास १८१
अर्धपद्मासन १३५
अर्हत्पद २
अलब्ध-भूमिकत्व २३५
अविद्या ३९ ४२ १२० १८६ २६३ २६४
अविमुक्त (क्षेत्र) १६०
अविरति २३५
अव्याकृत ४२
असंप्रज्ञात ८३ २२५ २६३ २६४
अस्मिता १९४ १९९ २६४ २०६
अस्तेय ११४ ११६ ११७
अहिंसा ११४ ११५

(आ)

आगम २ ७८
आजान देव १९७
आज्ञा चक्र १४५
आत्मबलि ५७
आत्मसंमोहन १६६
आत्मसाक्षात्कार १२३ १६१ १८४
आदि शब्द ४९ १६२ १६७ २२८
आम्नाय २६६
आरम्भक १२१ १२२
आरिफ़ २८४ २८५
आलस्य २३५
आश्विनकाल १३८
आसन ११४ १३२ १३४ १३५ १४२ १४३

(इ)

इड़ा १३७ १४६ १४९ १५९
इतमीनान २८१

(ई)

ईश्वर ३९ ४२ ६१ ६२ १२० १२२ १२३
ईश्वर-प्रणिधान ११८ ११९ १२० १२२ १२६ २८०
ईश्वर-साक्षात्कार १२४ १२८ १६४

(उ)

उड्डियान बन्ध १३८ १३९
उदान १५९
उदित प्रत्यय १५७
उदार अवस्था १०९
उद्गीथ ४९ १७४
उपरति १८३
उपाय प्रत्यय १९१ २०४
उम्मीद २८१
उस २८१

(ऊ)

ऊर्जा २५२

(ऋ)

ऋतम्भरा प्रज्ञा १९५

(ए)

एकतानता १५६ १५७ १७९ १८२
एकाग्र ८० ८१
एकाग्रता परिणाम १८८
एकाग्रता संस्कार १८९
एकाग्र प्राग्भारा १६७
एकेन्द्रिय १०६

(क)

कपालकुहर १४०
कर्मदेव १९७
कर्ममार्ग १०३
कर्मयोग १३२ १५३ २१८
कला ६१
काल ६१
कुंडलिनी १४७ १४८ १४९ १५० १५२ १६९ २८६ (बाद)
कुम्भक १४१ १४२ १५८
कुर्व २८१
कुलकुंड १४९
कुशल २०५
कूर्म १५९
कृकल १५९
कृतहानि १६१
केवली २०५
क्रमिक मुक्ति २१७
क्रियमाण २२२
क्रियायोग २०४
क्रियाविमुक्ति २०५ २०६
क्लिष्ट वृत्ति १२४

क्लेश १२०
क्षिप्तचित्त १७७
क्षिप्त (वृत्ति) ८०

(ख)

खुदा २७८
खुदी २७८
खेचर ३५ ५२
खेचरी मुद्रा १३९ १४०
खौफ २८१

(ग)

गगनगिरा ४९
गुणवैतृष्ण्य २००
गो-मांस १४०

(घ)

घननाद १७७

(च)

चक्र १४५ १४७ १५२
चक्रोपासना २८४
चित्त ७७ ८० ८२ ८६ १०३ १२४ १५८ १६५ १७७ १८१ १८२ १८९ १९० २०१ २६५ २६३
चित्तप्रसाद १०५ १३२
चित्तविमुक्ति २०५
चित्तवृत्ति ७७ १८९ १९०
चित्तवृत्ति-निरोध १४३
चिन्मय १६८ १९० २१३

(ज)

जड़ समाधि १४२
जप १६४ २८४ २८५
ज़ाकिर २८५
जागृत अवस्था ७९ १६६
ज़िक्र १७५ २८४ २८५ २८६ २८७
जीवन्मुक्त २०६
जीवसमष्टि १२७
ज़ोह्‌द २७९ २८०
ज्ञानयोग १३२
ज्ञानावरण २५४

(त)

तक़वा २८०
तनु अवस्था १०९
तन्द्रा १६६
तप ११८ ११९
तपश्चर्या २७१
तरीक़त २७७
तवक्कुल २८०
तादात्म्य १२१ १५२ १६६ १९० १९९ २१७ २४१
तार ४९
तितिक्षा १८३
तोवह २८०
त्रिपुटी १८१ १८२ १८८ २६४
त्रिवेणी संगम १५९

(द)

दम १८३
दिव्य संवेग १७८
दीक्षा ९७ १३४ १९१
दुःख २३५
देवदत्त १५९
दौर्मनस्य २३५
द्वेष २०६

(ध)

धनंजय १५९
धर्ममेघ समाधि २१० २११
धारणा ११४ १३२ १४२ १५२ १५५ १७६ २२५ २५५ २६२ २६३
ध्यान ११४ १३२ १४२ १५५ २२५ २५५ २६२ २८४ २८६

(न)

नक्शबन्दी २८६
नाग १५९
नाड़ीकोष्ठ १४४ १४५
नाड़ीतन्तु १४४ १४६ २४६ २५२
नाड़ीरज्जु १४४
नाड़ीसंस्थान १४३ १४४ १५८
नाद १३ ४९ ६१ १६२ १७० १७१ १७२ १७७ २५२
नादानुसंधान १६७ १६९ १७५ १७६ १७८
नासूल १२
निगम २
निदिध्यासन २३ ४७ ५७ १८४ १८५
निद्रा ७८ ७९
नियम ११४ ११८ १३० १४३
निरोध १५६ २०१
निरोध परिणाम १८८ २००
निरोधसंमत संस्कार १८९
निर्गुण पंथ ११
निर्माणकाय २६१ २६२
निर्माण चित्त २६१
निर्विकल्प समाधि ८३ १८८
निर्विचार समाधि १९३
निर्वितर्क समाधि १९३
निर्बीज समाधि ८३

(प)

पंच कंचुक ६१
पंच तन्मात्रा १९०
पंच महाभूत ७९ १९०
पद्मासन १३५
परमवश्यता १५३
परा १५० १६७
परा देवता २५२
परामनोविज्ञान २४५ २४९
परा वाक् १६९
परा वाणी ४९
परा शक्ति १४९ १५० १६० १६७
परा संवित् ६० ६१
परिणाम दुःख १०८
परिणाम ३९
पश्यन्ती १५० १६७

पिंगला १३७ १४६ १४९ १५९
पुरुषख्याति १९९
पुरुपार्थ ६६ ६७ ६८
पूरक १४१ १४२ १४६ १५८
प्रकाश ४१ २१५ २५५
प्रच्छर्दन १५८
प्रज्ञा २०५ २०६
प्रज्ञान ७४ ७५ ७७
प्रज्ञाभूमि (भूमिका) २०५
प्रणव ३३ ४९ १६१ १६२ १६८
१६९ १७४
प्रत्यय १४४ १५५ १५६ १७१ २६४
प्रत्याहार ११४ १३२ १५२ १७६
प्रधान ३९ ४० ४४
प्रभा ७८
प्रमाण ७८
प्रमाद २३५
प्रकाशावरण २५४
प्रशान्तवाहिता ८६ १०२ १८९
प्रसंख्यान २११
प्रसाद १०३ १२४
प्रसुप्त अवस्था १०९
प्राज्ञ २६४
प्राणायाम ११४ १३२ १३३ १४१
१४२ १४३ १४७ १७६ २६३
प्रातिभ ज्ञान २५४
प्रारब्ध २२२ २२३

(फ)

फ़िना २७८ २८५
फ़िराक २७५ २७८

(ब)

बन्ध १३८ १४३
बोधिसत्व १०४
बौद्ध तन्त्र २
ब्रह्मचर्य ११४ ११५
ब्रह्मनिष्ठ ८७
ब्रह्मरन्ध्र १४४ १४९ १७६

(भ)

भक्ति १२४ १२६ १२८ १६७ २५३
२६३ (रस)
भक्तियोग १२६ १२७ १२८ १३२
१५३ १६७ २१८
भजन १२
भवप्रत्यय १९१
भ्रान्तिदर्शन २३५

(म)

मज़कूर २८५
मजजूब २२७
मणिपूरक १४५ १४७
मध्यमा १५० १६७
मराक़बा २८१
मल २३ १५३
मलकूत १२
महबूब २८१
महानाद १६९
महायान ४, १४
महाव्रत ११७

मायाशवल ४२ १८५
मुकाम २८१
मुनकिर २७६
मुशरिक़ २७६
मुर्शिद २८२
मुशाहिदअ् २८१
मूढ (वृत्ति) ८०
मूल १७५
मूल प्रकृति ४५ ७७
मूल ध्वनि १७५ २५२
मूलवन्ध १३९
मूलाधार १४५ १४८ १४९
मेरुदण्ड १४४
मेस्केलीन २५१

(य)

यक़ीन २८१
यतमान १०६
यम ११४ १४३ १४९ २५३
योगभ्रष्ट १७७ १९१ १९८ २१७

(र)

राग ६१ २०६
राजयोग १३२ १५२ १७६ १७७
रारंकार १७४
रियाज़ २८१
रेचक १४१ १४२ १४६ १५८

(ल)

लय १७७ १७८ २०५ २१६
लहत १२
लिंगशरीर ७९
लीला १२२ २७७
लोगास ४९ २२७ २२८

(व)

वशीकार १०६
वाक् १५० १६७ १६८
वाक्सिद्धि २६५
वाराणसी १६०
वासना ७४
विकल्प ७८
विक्षिप्त चित्त १८८, २४८
विक्षेपावस्था १६५
विक्षिप्त (वृत्ति) ८०
विचार समाधि २०७
विच्छिन्न अवस्था १०९
वितृष्णा १९९
विदेहमुक्त २०७
विद्या ६१
विन्दु ६१ १६२
विपर्यय ७८
विवारण १५८
विभूति १९५ २४४
विमर्श ४१ २१५
विराट् ४४ ६९ १२७
विरामप्रत्यय २०० २०१
विवेकख्याति ८३ १३२ १४३ १
१६१ २०५ २११ २१४ २
२२० २६५
विशुद्धि (चक्र) १४५
विषाद १२४

वृत्ति १२४ १४३ १४६ १६७ १९० २०१ २५३
वृत्तिनिरोध ७४ २६३
वृत्तिसारूप्य ८२
बैखरी ४८ १५० १६७ १९२ २५२
व्यक्तिरेक १०६
व्यवहित दर्शन २४५
व्यवहित श्रवण २४६
व्याधि २३५
व्यान १५९
व्युत्थान १८९ २००
व्युत्थानधर्मी संस्कार १८९

(श)

शक्तिपात १३३
श्रद्धा १८३ १९१
शरीयत २७७
शान्त प्रत्यय १५७
शाम्भवी मुद्रा १३९
शून्य ८ २०२
शौक २८१
शौच ११८

(ष)

षडंग योग १३१

(स)

संकल्प ७८
संतमत १९
संस्कार ७५ १२१ १५७ १९२ १९९ २२२ २४६ २६१ २६२
संस्कारशेष समाधि २००
संशय २३५
संयम १५५
संवित् ४७ ४९ ५० ५१, ५४ ७५ ७६ ७७ १४४ १६५ १७६
संचित २२२ २३२ २६१
संतोष ११८ ११९
संप्रज्ञात समाधि ८३ ८४ १८१ १९३ २२५
सत्य ११४ ११५
सत्यनाम ४९ १७४
सत्संग ११९ १३२
सत्य का क्षण २५१
सद्योमुक्ति २१७
समाअ २८४
समाधि ६४ ८३ ९४ १०३ १०४ ११४ १२६ १६९ १७९ २३७ २५५ २६२ २६५ २७८ २८७
समाधि परिणाम १८८
समरसत्व २१६
समान १५९
सम्मोहन २४७
सवीज समाधि १९४
समाधिभाषा १४९
सर्वकर्ता १८१
सर्वार्थता संस्कार १८९
सविकल्प समाधि १८८
सविचार समाधि १९३
सवितर्क समाधि १९३
सहस्रार १४५ १४८ १५० १६९

सहजसिद्धि २४९
साम्यावस्था ४५
सारूप्य १९०
सात्विक २२७ २८३
सानन्द समाधि २०७
सिद्धासन १३५
सिद्धि १८ २४९ २५१ २५३ २५४ २५५ २६२
सिद्धिशक्ति २६१
सुरतिशब्दयोग १६७ १६९ १७० १७८ २६३
सुल्तानुल अज़कार ४९
सुषुप्ति ५२ १२१ १४२ १६६ २०१
सुषुम्ना १३७ १४४ १४५, १४६ १४७ १४८ १४९ १५० १५९ १६९
सूक्ष्मनाद १७७
सूर्यनाड़ी (यमुना) १३७ १४६
सूफ २७५
सूक्ष्मलोक १९६
सेन्द्रिय प्रत्यक्ष २८
सोमनाड़ी (गंगा) १३७ १४६
सोम ५८ २४९ २५० २५१
स्थानी देव १९७ १९८
स्मृतिवृत्ति ७९
स्फोट ४९ १६७ २४२
स्वन ४९ १९२ २५२
स्मृति ७८
स्वप्नावस्था ७९
स्वस्तिकासन १३५
स्वाध्याय ११८ ११९ १३२ १६४ २७१
स्वाधिष्ठान १४५ १४७
स्त्यान २३५ २३९
स्वप्न ७९, १६६

(ह)

हठयोग १३२ १४२ १५२ १६७
हठविद्या १३२
हब्सिदम (प्राणायाम) २८७
हमअ् ओस्त २७७ २७८
हान १११ २०५ २०६
हानोपाय १११ २०५ २०६
हाल २८१ २८४ २८५ २८७
हिरण्यगर्भ ४३ ४४ ५३ ६३ १०२ १६० २६५
हीनयान ४ १४
हेय १११ २०५ २०६
हेयहेतु १११ २०५ २०६